एम.ए. उत्तरार्द्ध

इतिहास, अष्टम् प्रश्नपत्र

विचारों का इतिहास

[HISTORY OF IDEAS]

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. P.G. College, Beena (M.P.)

2. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Anjali Singh
   Director, Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Mukesh Dixit
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITER

Prof. Alkesh Chaturvedi, Registrar and Professor (History), Sanchi University of Buddhist Indic Studies, Sanchi (M.P.)
Ex. Regional Director, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Jabalpur

Units (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

विचारों का इतिहास

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत में राजनीति (राजत्व) संबंधी विचार : राजतंत्र, कुलतंत्र एवं गणतंत्र राजतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति कुलतंत्र : अवधारणा एवं स्वरूप गणतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति प्राचीन काल में राजा के अधिकार और कर्तव्य राजा के अधिकार राजा के कर्तव्य राजनीतिक प्रभुसत्ता की वैधता	**इकाई 1** : राजनीतिक विचार : प्राचीन और मध्ययुगीन **(पृष्ठ 3–45)**
इकाई–2 उपनिवेशवाद और नए राजनीतिक विचारों का उदय : उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं प्रत्यक्षवाद उदारवाद प्रजातंत्रवाद उपयोगितावाद सापेक्षवाद या प्रत्यक्षवाद भारतीय राष्ट्रवाद एवं समाजवाद राष्ट्रवाद समाजवाद सांप्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता	**इकाई 2** : राजनीतिक–आधुनिक विचार **(पृष्ठ 47–72)**
इकाई–3 धर्मतंत्र की प्रारंभिक संरचना एवं न्यायसंगत व्याख्या : वर्ण, जाति, परिवार और नारी वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था परिवार और नारी औपनिवेशिक भारत में जाति विरोधी आंदोलन : सत्यशोधक समाज, श्री नारायण आंदोलन, आत्मसम्मान आंदोलन भारत में जाति विरोधी आंदोलनों का इतिहास औपनिवेशिक काल में जाति विरोधी आंदोलनों का विकास सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले श्री नारायण आंदोलन आत्मसम्मान आंदोलन राष्ट्रवाद के सामाजिक आधार	**इकाई 3** : सामाजिक विचार **(पृष्ठ 73–112)**

इकाई–4

प्रारंभिक भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का निर्माण

- वेद
- उपनिषद
- वेदांग
- भारतीय दर्शन के छह संप्रदाय
- जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

नास्तिक विचारक तथा संप्रदाय

इकाई 4 : धार्मिक एवं दार्शनिक विचार
(पृष्ठ 113–150)

इकाई–5

भक्ति आंदोलन–शैव और वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास : सूफीवाद एवं सिख धर्म

- भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि
- शैव धर्म का क्षेत्रीय विकास
- वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास
- सूफीवाद
- सिख धर्म

धार्मिक सुधार एवं पुनरुत्थानवाद–ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज, देवबंद, अलीगढ़ व सिंह सभा आंदोलन

- ब्रह्म समाज
- प्रार्थना समाज
- आर्य समाज
- देवबंद आंदोलन
- अलीगढ़ आंदोलन
- सिंह सभा आंदोलन

आधुनिक भारत में कट्टरता और धार्मिक सार्वभौमिकता का विचार

- आधुनिक भारत में कट्टरता का विकास
- आधुनिक भारत में धार्मिक सार्वभौमिकता

इकाई 5 : धार्मिक विचारों और सांस्कृतिक समन्वय के विविध रूप
(पृष्ठ 151–212)

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 राजनीतिक विचार : प्राचीन और मध्ययुगीन **3–45**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत में राजनीति (राजत्व) संबंधी विचार : राजतंत्र, कुलतंत्र एवं गणतंत्र
  1.2.1 राजतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति
  1.2.2 कुलतंत्र : अवधारणा एवं स्वरूप
  1.2.3 गणतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति
1.3 प्राचीन काल में राजा के अधिकार और कर्तव्य
  1.3.1 राजा के अधिकार;
  1.3.2 राजा के कर्तव्य
1.4 राजनीतिक प्रभुसत्ता की वैधता
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 राजनीतिक–आधुनिक विचार **47–72**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 उपनिवेशवाद और नए राजनीतिक विचारों का उदय : उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं प्रत्यक्षवाद
  2.2.1 उदारवाद;
  2.2.2 प्रजातंत्रवाद;
  2.2.3 उपयोगितावाद;
  2.2.4 सापेक्षवाद या प्रत्यक्षवाद
2.3 भारतीय राष्ट्रवाद एवं समाजवाद
  2.3.1 राष्ट्रवाद;
  2.3.2 समाजवाद
2.4 सांप्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 सामाजिक विचार **73–112**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 धर्मतंत्र की प्रारंभिक संरचना एवं न्यायसंगत व्याख्या : वर्ण, जाति, परिवार और नारी
  3.2.1 वर्ण व्यवस्था;

3.2.2 जाति व्यवस्था;
3.2.3 परिवार और नारी
3.3 औपनिवेशिक भारत में जाति विरोधी आंदोलन : सत्यशोधक समाज, श्री नारायण आंदोलन, आत्मसम्मान आंदोलन
3.3.1 भारत में जाति विरोधी आंदोलनों का इतिहास
3.3.2 औपनिवेशिक काल में जाति विरोधी आंदोलनों का विकास
3.3.3 सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले
3.3.4 श्री नारायण आंदोलन
3.3.5 आत्मसम्मान आंदोलन
3.4 राष्ट्रवाद के सामाजिक आधार
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 धार्मिक एवं दार्शनिक विचार **113–150**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 प्रारंभिक भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का निर्माण
4.2.1 वेद;
4.2.2 उपनिषद;
4.2.3 वेदांग
4.2.4 भारतीय दर्शन के छह संप्रदाय;
4.2.5 जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म
4.3 नास्तिक विचारक तथा संप्रदाय
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 धार्मिक विचारों और सांस्कृतिक समन्वय के विविध रूप **151–212**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भक्ति आंदोलन–शैव और वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास : सूफीवाद एवं सिख धर्म
5.2.1 भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि
5.2.2 शैव धर्म का क्षेत्रीय विकास
5.2.3 वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास
5.2.4 सूफीवाद
5.2.5 सिख धर्म
5.3 धार्मिक सुधार एवं पुनरुत्थानवाद–ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज, देवबंद, अलीगढ़ व सिंह सभा आंदोलन
5.3.1 ब्रह्म समाज;
5.3.2 प्रार्थना समाज;
5.3.3 आर्य समाज
5.3.4 देवबंद आंदोलन;

5.3.5 अलीगढ़ आंदोलन;
5.3.6 सिंह सभा आंदोलन
5.4 आधुनिक भारत में कट्टरता और धार्मिक सार्वभौमिकता का विचार
5.4.1 आधुनिक भारत में कट्टरता का विकास
5.4.2 आधुनिक भारत में धार्मिक सार्वभौमिकता
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

टिप्पणी

इकाई 1 राजनीतिक विचार : प्राचीन और मध्ययुगीन

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत में राजनीति (राजत्व) संबंधी विचार : राजतंत्र, कुलतंत्र एवं गणतंत्र
  1.2.1 राजतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति
  1.2.2 कुलतंत्र : अवधारणा एवं स्वरूप
  1.2.3 गणतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति
1.3 प्राचीन काल में राजा के अधिकार और कर्तव्य
  1.3.1 राजा के अधिकार
  1.3.2 राजा के कर्तव्य
1.4 राजनीतिक प्रभुसत्ता की वैधता
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

इतिहास का अस्तित्व तत्कालीन विचारधाराओं से होता है। मनन, चिंतन, विचार अभिव्यक्ति से ही मनुष्य की पहचान होती है। इसी आधार पर विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के विविध पक्ष दिखाई पड़ते हैं। इस दृष्टिकोण से विचारों का अध्ययन अति आवश्यक हो जाता है। ऐतिहासिक संदर्भ में विचारों का अध्ययन कठिन कार्य है। तात्कालिक स्रोतों से हमें विचारों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक अवस्थाओं का अध्ययन करने में सुगमता होती है।

इतिहास भूतकाल की राजनीति होती है। तात्कालिक साहित्य में भारतीय विचारकों ने अपने सामाजिक एवं धार्मिक दर्शन के तत्वों का समाधान करते हुए राजनीतिक चिंतन को भी रेखांकित किया है। राजस्व संबंधी अनेक विचारधाराओं को सम्मिलित करते हुए प्राचीन प्रशासनिक प्रणालियों राजतंत्र, गणतंत्र एवं कुलतंत्र का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तुत इकाई में प्राचीन प्रशासनिक प्रणालियों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महाभारत, स्मृतिग्रंथ, नीतिग्रंथ, धर्मशास्त्र, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य को सम्मिलित कर प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के विविध आयामों को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

टिप्पणी

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्राचीन और मध्ययुगीन भारत से परिचित हो पाएंगे;
- प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत के राजनीति संबंधी विचारों से अवगत हो पाएंगे;
- प्राचीन काल के राजा के अधिकार और कर्तव्यों के विषय में जान पाएंगे;
- राजनीतिक प्रभुसत्ता की वैधता के बारे में विस्तार से समझ पाएंगे।

1.2 प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत में राजनीति (राजत्व) संबंधी विचार : राजतंत्र, कुलतंत्र एवं गणतंत्र

प्राचीन (Ancient) भारतीय विद्वत्जनों ने धर्म के विभिन्न पक्षों का गहन अध्ययन किया है। ऐसा अनुभव इतिहासकारों द्वारा होता रहा है कि राजनीति का पक्ष प्राचीन काल में कमजोर था, परंतु यह अवधारणा सत्य के करीब नहीं है। राजत्व संबंधी विचारों की विस्तृत जानकारी प्राचीन साहित्य में अवलोकित होती है। धर्म का पक्ष भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों था। धर्म राजनीति का नैतिक आधार था। राजत्व संबंधी अवधारणाओं के संदर्भ में प्राचीन साहित्य में अनेक उद्धरण प्रस्तुत हैं। जरूरत है उचित दृष्टिकोण के अध्ययन की।

प्राचीन भारत में राजत्व की अवधारणा : उद्भव एवं विकास

प्राचीन काल में वैदिक समय तक राजनीतिक अवधारणा का जन्म हो चुका था। कबीलाई प्रणाली अब स्थायित्व ले चुकी थी। उपनिषद युग में एक अन्य राजनीतिक तत्व विधि को भी राज्य से संबद्ध कर राज्य की धारणा को पूर्णता प्रदान की गई। कालान्तर में धीरे–धीरे राजत्व के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। राजत्व के सिद्धांत की नई परिकल्पना का जन्म हुआ। धर्मशास्त्र के अनुसार ही राजत्व के सिद्धांत को स्पष्ट किया गया। राजनीति में नैतिकता का समावेश प्राचीन राजत्व सिद्धांत की मुख्य विशेषता थी।

छठी शताब्दी ई.पू. तक राजतंत्र एवं गणतंत्र की उत्पत्ति ने राजनीति में कूटनीति का समावेश किया। कौटिल्य कूटनीति के विचारक थे उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। आर्यों की परिस्थितियों का वैदिक राजतंत्र ही स्वाभाविक परिणाम था। पशुचारण स्थायी निवास ने धीरे–धीरे इसका रूप ग्रहण किया। राज्य की प्रभुसत्ता को मजबूत करने के लिए राजसूय यज्ञ, वाजपेय, अश्वमेध एवं राज्य तिलक समारोह, याज्ञिक अनुष्ठान का आयोजन होने लगा। राजा अब साम्राज्य, स्वराज्य, भौज्य का स्वामी हो गया। राजा अब सर्वोच्च स्वामी था।

भारतीय राजत्व का आधार प्राचीन धर्मशास्त्र थे। इन्हें दंडनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि नामों से जाना जाता है। ये तत्व राजनीति के प्रमुख घटक थे जिन्हें समय के अनुसार अलग–अलग ढंग से प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन भारत में राजतंत्र ही शासन का सर्वाधिक प्रचलित रूप था। अतः राज्य एवं शासन से संबंधित चिंतन और विषय को राजधर्म कहा गया है। मनुस्मृति में इसी का वर्णन है। अथर्ववेद में कहा गया

है– "तुम शत्रुओं का और शत्रुओं की तरह व्यवहार करने वालों का नाश कर दो, उन्हें अपने पैरों से कुचल दो। यहां पर इकट्ठे होकर सभी तुम्हारा सम्मान करते हैं और तुम्हारी दृढ़ता के कारण ही यह सभा तुम्हारा निर्माण करती है तुम्हें नियुक्त करती है।"

टिप्पणी

महाभारत में बताया है, ब्रह्मदेव ने एक लाख से अधिक श्लोकों से युक्त एक पुस्तक राजनीति पर लिखी।

राजत्व संबंधी विचारों के लिए प्राचीन भारत में जिस साहित्य की रचना की गई उसे अनेक नाम दिये गए हैं। साहित्य में राजत्व संबंध, चिंतन, राज्य के कार्य तथा शास्त्रीय सिद्धांतों का विवरण रहता है। उन्हें दंडनीति और अर्थशास्त्र कहते हैं। धर्मशास्त्र में राजनीति को राजधर्म कहा है। मनु ने दंडनीति नाम दिया है। महाभारत में राजनीति के विषय को नीतिशास्त्र कहा है। इसका प्रणयन स्वयं प्रजापति ने किया था। यह नीतिशास्त्र विश्वकोश है इसमें पुरुषार्थ चतुष्टय सम्मिलित है। इसमें वेदत्रयी (कर्मकांड) आन्वीक्षिकी (ज्ञानकांड) वार्ता (कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य) तथा दंडनीति इन चारों विधाओं का आलोचनात्मक विवरण है। धर्मशास्त्र का संबंध नैतिकता के नियमों से है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्रारंभिक राजत्व सिद्धांत का महत्वपूर्ण शास्त्र है, जिसे दंडनीति भी कहा गया है।

बौद्ध काल तक राजत्व के सिद्धांतों का नया स्वरूप स्पष्ट होने पर राजनीति का विषय सामान्य गलियारे तक पहुंच गया। अनेक राजतंत्र एवं गणतंत्रों का विकास हुआ जो राज्य संस्थाओं का विधिवत संचालन कर रहे थे एवं अपने राजनीति के आदर्श रूप को प्रस्तुत कर रहे थे। बौद्ध ग्रंथों में इस प्रकार के चिंतन को 'रक्तविज्जा' एवं 'खत्तधम्म' भी कहा गया है। 'खत्तधम्म' राजविद्या के अर्थ में व्यवहृत है और संभवतः इसके अंतर्गत राजत्व के विविध तत्वों की विवेचना होती थी।

छठवीं शताब्दी ई.पू. के पश्चात राजतंत्रों ने विस्तार का रूप ले लिया। राजाओं की साम्राज्य विस्तार की लालसा ने प्रतिस्पर्धा की शुरुआत की। कौशल, मगध, काशी आदि राज्य एक दूसरे से आगे निकल जाना चाहते थे। इन संघर्षों ने मानव के नैतिकता के आदर्श को हानि पहुंचाई। अजातशत्रु द्वारा सत्ता की लालसा से अपने पिता की हत्या कर दी गई। इस प्रकार नैतिकता का पतन होने लगा।

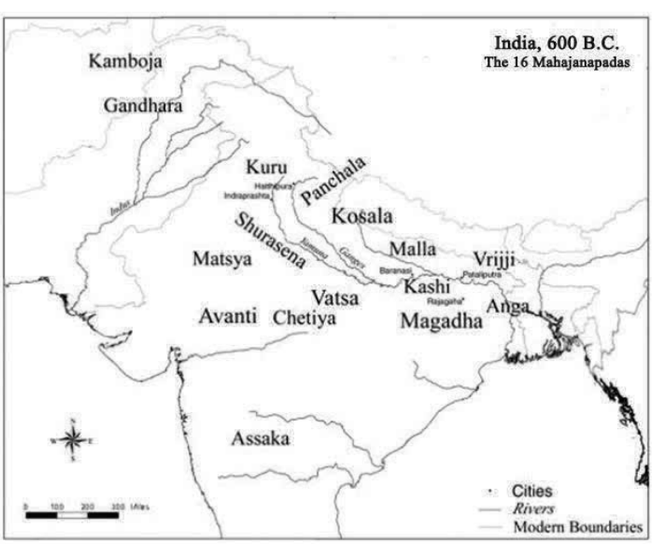

टिप्पणी

इस तरह राजनीतिक दर्शन के अभाव में राजनीतिक परिस्थितियां राजनीतिक सिद्धांतों को संकुचित कर देती हैं।

संक्षेप में प्राचीन भारत में राजत्व की अवधारणा के संदर्भ में अनेक व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं और इसका क्रमशः विस्तार हुआ।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक एवं स्रोत सामग्री

प्राचीन भारतीय मनीषियों के द्वारा विपुल साहित्य का लेखन किया गया किंतु इसमें राजनीतिक विषयक विचारों का यथोचित विवेचन का सर्वथा अभाव रहा है। गहन अध्ययन के उपरांत वैदिक साहित्य के सागर से राजनीतिक साहित्य के कुछ मोती उपलब्ध हो ही जाते हैं।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र ग्रंथ तात्कालिक राजनीतिक साहित्य की रीढ़ है। जिसके प्रथम वाक्य में पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का विवेचन किया गया है। इनमें प्रमुखतः भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, कोणड़क, भारद्वाज, कात्यायन, घाटेमुख, पिशुनपुत्र नाम उल्लेखनीय हैं। यह इस बात के प्रमाण का पक्ष है कि भारत में राजनीतिक परंपरा का आधार शून्य नहीं था। कौटिल्य ने प्राचीन विचारकों के अनेक उद्धरणों को अपनी पुस्तक में स्थान दिया है।

महाभारत महाकाव्य धर्म, राजनीति, नीतिशास्त्र आदि सभी पक्षों को समाहित करने वाला विशाल ग्रंथ है। अपने में परिपूर्णता को समेटे हुए ही इसमें अनेक चिंतकों के नाम उल्लेखित हैं। यथा– विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, अनु, शुक्र, भारद्वाज, गौरशिरा, कश्यप, वैश्रवण, उतध्य, वामदेव, शम्बर, कालकवृक्षीय, वसुहोम एवं कामन्दक प्रमुख हैं। इनमें से दस आचार्य नवीन हैं तथा छह आचार्यों के नाम कौटिल्य ने भी उद्धृत किए हैं।

कीर्तिमान, कर्दम, अनंग, अतिबल, पुरोधा काव्य और योगाचार्य आदि राजनीतिक चिंतकों का महाभारत के शांतिपर्व में उल्लेख मिलता है। कामंदक के नीतिसार, चंडकेश्वर के 'राजनीति रत्नाकर' में पूर्व के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

मनुस्मृति द्वितीय शताब्दी ई.पू. की प्रमुख रचना है जिसमें विधि, सामाजिक एवं अनेक राजनीतिक आयामों को प्रस्तुत किया गया है। व्यास, नारद, कुल्लुकभट्ट मित्रमिश्र, विज्ञानेश्वर, अपरार्क गौतम, अंगिरा, कात्यायन इन समस्त चिंतकों, विचारकों ने राजत्व, राजनय, राजनीति के शास्त्रों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

समस्त धार्मिक साहित्य के तत्वों में राजनीतिक विचारकों के उद्धरण मिलते हैं। कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र आदि आचार्य राजनीतिक शास्त्र की परंपरा के मुख्य आचार्य थे।

आचार्य चाणक्य का अर्थशास्त्र 15 अधिकरण और 180 उपभागों में बंटा है इसमें लगभग 6000 श्लोक हैं। यह पुस्तक 1909 में मिली थी। डॉ. शाम शास्त्री ने इसका सुंदर अनुवाद किया है। इस पुस्तक में दर्शन शास्त्र, राज्य पद्धति, स्वरूप, राज्यों के प्रकार, राज्य के उद्देश्य, राजा और राजपद, उत्तराधिकार, मंत्रिपरिषद, स्थानीय प्रशासन, न्यायिक व्यवस्था, दण्डनीति, आर्थिक नीति, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, धर्म और नैतिकता पर विचारों का सुंदर प्रस्तुतीकरण किया गया है।

टिप्पणी

कामंदक का नीतिसार गुप्त काल में रचित है। इसमें राजतंत्र पर अधिक प्रकाश डाला गया है और गणराज्यों के चिंतन पर मौन प्रस्तुति है। शुक्र नीति का समय अनिश्चित है। इस ग्रंथ में राजाओं, मंत्रियों और अन्य अधिकारियों के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को विस्तार से बताया गया है।

बृहस्पति का अर्थशास्त्र एक छोटी पुस्तक है। पंचतंत्र को न्यायशास्त्र नाम देकर राजनीति का ग्रंथ नाम दिया गया है। सोमदेव के 'नीति वाक्य' शास्त्र में लेखक ने राजनीति के बारे में अनेक प्राचीन चिंतकों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। ग्रंथ सूत्र शैली में लिखा है– "राज्य धर्म वृक्ष तथा अर्थ को प्रणाम।"

संक्षेप में भारतीय राजनीति के चिंतकों एवं प्रणेताओं द्वारा राजनीतिक संदर्भ की समुचित व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है और वे राजनीतिक संस्थाओं के अनेक पहलुओं पर अपने विचार यथेष्ठ रूप से संग्रहित करने में सफल हुए हैं। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारत में राजनीतिक परंपरा का श्रेष्ठ रूप रहा है एवं भारतीय मनीषी, चिंतक एवं प्रणेता राजत्व के सिद्धांत के अधिष्ठाता थे।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत

"नैष राज्य न राजासीन्न दंडो न दंडिन धर्मणतः प्रजाः सर्वापि रक्षन्ति च परस्परम्" अर्थात पहले न राज्य था, न प्रजा, न दंड और न ही दंडित, सब प्रजाजन धर्म से परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे।

मानव समाज के विकास तथा उत्कर्ष में राज्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन भारतीय विचारधारा में राज्य नियम, पालन, न्याय व्यवस्था सुरक्षा तथा कल्याण की परिस्थितियों का प्रतीक था। जिसके उद्धरण धार्मिक तथा लौकिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत के प्रमाण प्राचीन भारतीय चिंतन की लेखनशैली में उपलब्ध हैं। जिनका विवरण निम्नानुसार है–

1. **पूर्व में राज्यविहीन सामाजिक संस्था**– राज्य की उत्पत्ति का प्रारंभिक स्वरूप राज्यविहीन था। इस अवस्था को 'मोरगन' का (Savagary) नाम दिया गया है। पुराणों में इसे 'कृतयुग' कहा है। यह धारणा मूलतः धार्मिक अनुश्रुति का चिंतनात्मक रूप है जिसका प्राचीन काल के सभी संप्रदायों ने अपनी विचारधारा के अनुरूप अनुकरण किया है।

   पाषाण काल की अवधि में मनुष्य खाद्य उत्पादक के रूप में नहीं बल्कि खाद्य संग्राहक के रूप में जीवन यापन करता था। परिवार, समाज, रीतिरिवाज, वर्ण, जाति जैसे नियमों का सर्वथा अभाव था। मानव का अस्तित्व सभ्य समाज के रूप में उपलब्ध नहीं था।

2. **राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धांत**– अथर्ववेद में इस सिद्धांत का प्रारंभिक स्वरूप परिलक्षित होता है। राज्य क्रमिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम था। परिवार, समाज, कबीला और फिर मानवीय संबंधों तथा आवश्यकताओं के विकास ने राज्य संस्था की उत्पत्ति के मार्ग को प्रशस्त किया।

   अथर्ववेद के अनुसार सृष्टि के आरंभ में राज्यविहीन अर्थात् अराजकता की अवस्था थी। इस अवस्था में न तो कोई राज्य नाम की संस्था थी और न ही राजा

टिप्पणी

तथा प्रजा जैसी कोई व्यवस्था थी। इस राज्यविहीन अवस्था को कुछ चिंतक एक बहुत ही भयानक तथा भयावह अवस्था मानते थे। अथर्ववेद में राज्य के क्रमिक विकास की सात अवस्थाओं का वर्णन है। प्रारंभ में अराजकता की स्थिति थी, इसके पश्चात परिवार जैसी संस्था का उदय, परिवार की सुरक्षा हेतु 'गृहपति' का मुखिया के रूप में उदय, अनेक पारिवारिक इकाइयों द्वारा 'ग्रामीण' संगठनों का अस्तित्व में आना, तत्पश्चात सभा, समिति, संस्था के उदय के साथ जन, जनपद एवं राष्ट्र का विकास हुआ। आर.के. मुखर्जी एवं डॉ. अलतेकर राज्य के विकासवादी सिद्धांत के समर्थक हैं।

3. **राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक सिद्धांत**– राज्य की उत्पत्ति में संपत्ति, परिवार तथा वर्ण संबंधी घटकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। पाषाण काल के पश्चात मानव की जीवन पद्धति में कृषि के विकास से स्थायित्व आया। इसके पश्चात् क्रमशः पारिवारिक इकाई का जन्म हुआ जिससे धन की आवश्यकता हुई। बौद्ध स्रोत राज्य की उत्पत्ति का एक कारण निजी संपत्ति मानते हैं। राज्य के उदय में सामाजिक वर्ग की भूमिका का महत्व मुख्यतया पुराणों में वर्णित है। इनके अनुसार जीवन निर्वाह के साधन जुट जाने पर लोगों को चार वर्णों में विभाजित किया गया। चारों ही वर्णों के कार्यों को विभाजित किया गया परंतु कालान्तर में इनमें वैमत्य उत्पन्न हुआ और झगड़े उत्पन्न होने लगे। इसके पश्चात मनु ने इस समस्या के समाधान के लिए 'प्रियवत' और 'उत्तानपाद' दो राजाओं को उत्पन्न किया। इस प्रकार वर्ग संघर्ष को रोकने के लिए राज्य अस्तित्व में आया। शांति पर्व में राज्य की उत्पत्ति में परिवार, वर्ण, संपत्ति तीनों ही इकाइयों का वर्णन मिलता है। स्मृति ग्रंथों में मनु राजा द्वारा वर्ण व्यवस्था बनाये रखने पर जोर दिया गया है। उनके अनुसार "राज्य तभी तक उन्नति कर सकता है, जब तक वर्णों की शुद्धता बनी रहती है। अन्यथा यह समस्त निवासियों के साथ विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार के उद्धरण प्लेटो के रिपब्लिक में भी मिलते हैं।

   इस प्रकार वर्ण व्यवस्था को व्यवस्थित रूप देने के लिए राज्य रूपी संस्था का महत्वपूर्ण योगदान है।

4. **राज्य की उत्पत्ति का अनुबंध सिद्धांत**– इस सिद्धांत का समर्थन आधुनिक संदर्भ में 'हॉब्स लॉक' तथा रूसो ने किया है। इनके अनुसार प्रारंभिक समय प्राकृतिक अवस्था का था। कालान्तर में सामाजिक इकाइयों का विकास हुआ। नेतृत्व विहीन समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने पर सामाजिक समझौते से एक व्यक्ति को स्वामी मान लिया गया। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है, "देवासुर संग्राम में देवता बारम्बार पराजित होते गये तब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि राजा के अभाव में उनकी पराजय हो रही है, अतः उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया फिर सभी देवताओं ने इंद्र को राजा बनाया।"

पृथ्वी पर अराजकता की स्थिति उत्पन्न न हो इसलिए ब्रह्मा ने मनु को राजा बनाया। दीघनिकाय में सामाजिक अनुबंध का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैन ग्रंथ आदि में भी अराजकता की स्थिति को समाप्त करने के लिए प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ को

राजा बनाये जाने के उद्धरण मिलते हैं। राज्य की उत्पत्ति के अनुबंध सिद्धांत की पूर्णतः व्याख्या कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलती है। इसमें कहा गया है कि "अराजक परिस्थिति में पड़कर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा निर्वाचित किया और वचन दिया कि वे अपने सोने का अंश देने के अलावा अनाज का छठा अंश और बिकाऊ वस्तुओं का दसवां अंश चुकाएंगे।" इसके बदले में राजा प्रजा का सहयोग एवं उनकी रक्षा करेगा।

इस प्रकार सामाजिक समझौते के सिद्धांत के परिणामस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई।

आर.एस. शर्मा का मत है– "यह विचार सामाजिक समझौते के सिद्धांत का प्रारंभिक स्वरूप है।"

राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धांत सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके अनुसार राज्य की स्थापना ईश्वर ने की है तथा राजा उसका एक अंश है। राजा को देवांश माना जाता है। इस सिद्धांत का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृति साहित्य, महाभारत जैसे प्राचीन ग्रंथों में अनेक प्रकार के उद्धरणों के रूप में मिलता है।

बौद्धिक साहित्य में राजा में इंद्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चंद्र और कुबेर आदि विभिन्न देवों के अंश थे। ऋग्वेद में राजा 'पुरु' 'कुत्स' को अर्द्धदेव कहा गया है। 'अथर्ववेद' में भी राजा परीक्षित भृत्यों में देवता कहे गये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को इंद्र की उपाधि दी गई है। राजा में देवत्व की भावना का विकास स्मृति ग्रंथों एवं पुराणों में भी मिलता है। डॉ. अलतेकर इस सिद्धांत पर विश्वास नहीं करते हैं, उनका मानना है कि सभा एवं समिति जैसी संस्थाएं राजा को पदच्युत कर सकती हैं तो राजा का दैवत्व कैसा? इसके पश्चात भी भारत के प्रमुख वंशों के शासकों ने अपने आपको देवत्व की भावना से विभूषित किया है।

वास्तव में जब समाज में आध्यात्मिक विश्वास और अनुशासन की कमी होने लगी तब मनीषियों ने शासन व्यवस्था स्थापित की और इसे दैवी शक्तियों का पुंज मानकर आध्यात्मिक विश्वास को बनाये रखने का प्रयास किया।

शक्ति संतुलन का सिद्धांत– राज्य की उत्पत्ति के शांति सिद्धांत का महत्वाकांक्षाओं एवं प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप उदय हुआ। इसके अनुसार शक्तिशाली कबीलों, जनों के सरदारों ने दुर्बल कबीलों अथवा जनों पर विजय प्राप्त कर राज्य की स्थापना की। अन्य मतों में राजा की उत्पत्ति युद्ध से हुई है।

अतः प्राचीन भारत में राज्य के उत्पत्ति संबंधी विचारों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धांतों को परिलक्षित किया है। प्रारंभिक सिद्धांतों में राजा को देवतुल्य रूप में प्रदर्शित किया है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर कालान्तर में राजतंत्रीय शासन प्रणाली विकसित हुई। राजाओं ने राज्य के संरक्षण में स्वयं 'आदिवराह' 'पृथ्वीवराह' जैसी उपाधियां धारण की। भारत को केंद्रीकृत राष्ट्र के रूप में स्थापित करने में राजत्व सिद्धांत का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

टिप्पणी

मध्यकालीन भारत में राजनीति (राजत्व) संबंधी विचार

मध्यकाल (Medieval) में मुस्लिम आक्रमण ने नये युग का सूत्रपात किया। यह वर्ग भारतीय शासक वर्ग से भिन्न था। इस वर्ग ने नई परंपराओं में ढलने की जगह भारतीयों को अपने में ढालना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार भारतीय शासन व्यवस्था की नींव पर मध्ययुगीन मुस्लिम राज्य का निर्माण हुआ। इस वर्ग के पास सैन्य शक्ति तथा खलीफा का आशीर्वाद था।

इस परंपरा में मध्यकालीन इतिहास के द्वितीय भाग में मुगलों का आगमन होता है। मुगलकालीन शासकों ने सल्तनतकालीन शासन व्यवस्था की अवधारणा को परिवर्तित किया और अपने आपको अब्बासी खलीफा के बंधन से मुक्त किया। 'बादशाह' की उपाधि धारण कर भारत को केंद्रीकृत सत्ता के रूप में परिवर्तित किया।

इस्लाम सामाजिक और राजनीतिक समानता की नींव पर आधारित है और इसलिए राजसत्ता पर किसी वर्ग विशेष अथवा परिवार का एकाधिकार स्वीकार नहीं करता। यह शक्ति पर आधारित शासन व्यवस्था थी, 1206 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा इस व्यवस्था की नींव रखी गई। दिल्ली पर गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैय्यद वंश एवं लोदी वंश ने शासन किया। इन वंशों की शासन सत्ता की अवधारणा किस प्रकार थी इसमें विद्वानों में मतभेद है। इस संदर्भ में इतिहासकार अपने–अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं।

कई विद्वान मध्यकालीन भारतीय शासन को धर्मतन्त्रात्मक मानते हैं। डा. आर. पी. त्रिपाठी, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, ईश्वरी प्रसाद, ए.सी. बनर्जी आदि मध्यकालीन शासन के स्वरूप को धार्मिक आधार देते हैं। आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का मानना है कि "मध्ययुगीन भारतीय राज्य एक मजहबी राज्य था।" इसके विपरीत डॉ. कुरैशी का मानना है कि "दिल्ली सल्तनत धर्म पर केंद्रित अवश्य थी, परंतु पूर्णतया धर्म पर अवलम्बित नहीं थी, क्योंकि धर्म धर्मावलंबित राज्य की मुख्य विशेषता यह है कि वहां दीक्षित पुरोहित वर्ग का शासन होना चाहिए।" इसके विपरीत डॉ. आर.पी. त्रिपाठी का मत है "मुस्लिम राज्य मजहबी था। मुसलमानों द्वारा अपनाई गई अथवा विकसित की गई समस्त संस्थाओं का उद्देश्य उन धार्मिक कानूनों की सेवा करना था जिनका जन्म उनसे पूर्व हो चुका था। अपनी पुस्तक 'The Central Structure of the mughal Empire' में इबन हसन ने लिखा है कि शरीअत के दो पहलू थे एक तो 'शरा' के ज्ञान का विस्तार करना था और दूसरा शरीअत को राज्य में लागू करना था। इसके लिए बहुत से विद्वानों की आवश्यकता थी जो कि शरा के ज्ञान को फैला सकें। इसके अतिरिक्त रमेशचंद्र मजूमदार, हेमचंद्रराय चौधरी आदि इतिहासकार भारतीय मुस्लिम राज्य को धर्म प्रधान राज्य मानते हैं।"

खलीफा और उलेमा की भूमिका : पैगम्बर के पश्चात इस्लामी समाज के सबसे बड़े स्वामी खलीफा थे। खलीफा का अर्थ था उत्तराधिकारी सल्तनत काल के सुल्तानों ने सिद्धांत में अपने आपको खलीफा का अधीनस्थ स्वीकार किया परंतु व्यावहारिक रूप से वे पूर्णतया स्वतंत्र थे। फिर भी खलीफा के नाम का सहारा लेकर दिल्ली सल्तनत के शासकों ने मनमाना अत्याचार किया।

टिप्पणी

उलेमा मुस्लिम समाज के धर्मज्ञ होते थे इनको 'इस्ताख्वान्दा' भी कहा जाता था। सल्तनत काल में उलेमा वर्ग समाज का अत्यंत प्रभावशाली अंग था। उन्होंने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा एवं गौरव को बढ़ाने में बहुत योगदान दिया।

धार्मिक राज्य के अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत की नींव सैनिक शक्ति पर आधारित थी। जिस सुल्तान की सैनिक शक्ति अधिक होती थी और जो अपनी सेना का प्रिय सेना नायक होता था। वही ठीक से शासन कर पाता था। उस समय का शासन प्रेम, सद्भावना और सहानुभूति पर आधारित न था वरन सैनिक बल पर टिका हुआ था।

मुगलकालीन राजत्व संबंधी विचार : दिल्ली सल्तनत के पतन के पश्चात् मुगल सल्तनत की स्थापना हुई। 1526 से 1857 ई. तक बाबर से लेकर औरंगजेब तक के शासकों ने मुगल सल्तनत को सुदृढ़ता प्रदान की। प्रश्न यह है कि मुगलों की शासन व्यवस्था का आधार क्या था। इतिहासकारों ने मुगलों की शासन व्यवस्था के अनेक पहलुओं का वर्णन किया है। मुगल साम्राज्य को धर्मतंत्रीय, सैनिक, सांस्कृतिक, प्राच्य, निरंकुश, फारसी, भारतीय, तुर्की, मंगोल आदि का मिश्रित रूप बताया है।

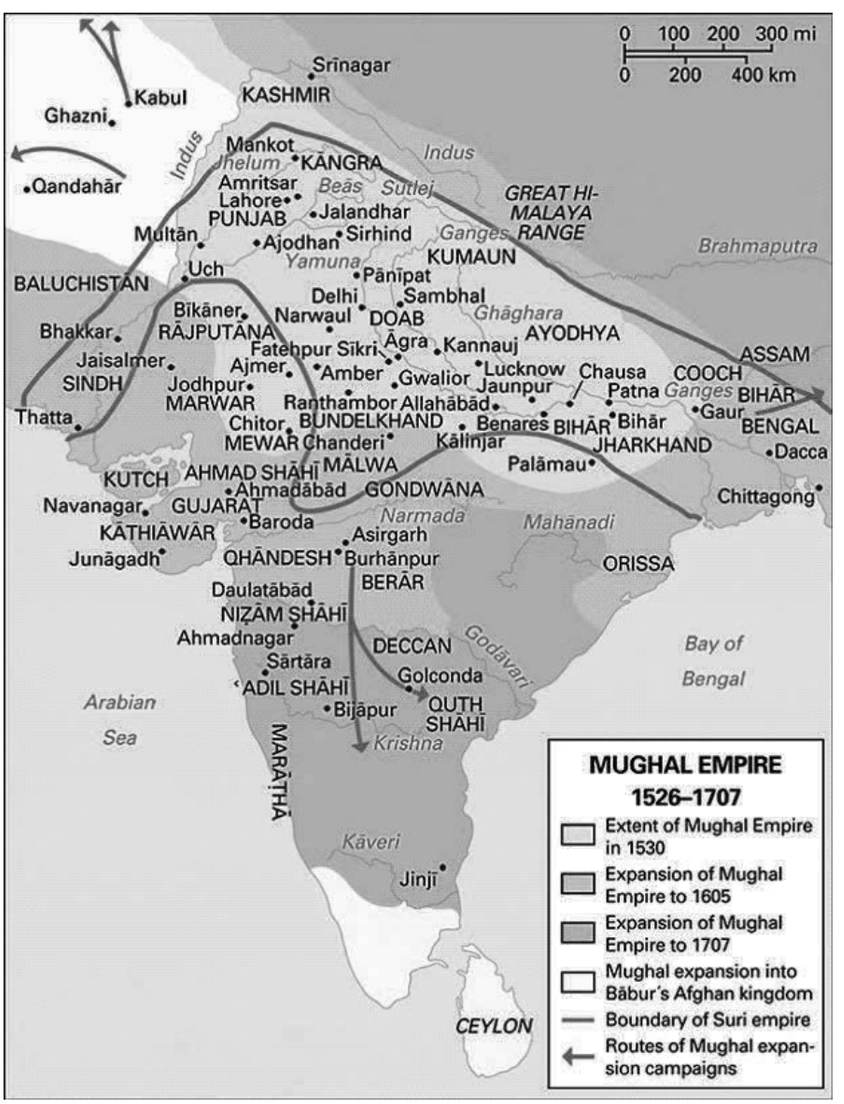

टिप्पणी

आर.पी. त्रिपाठी ने मुगल सत्ता को 'तुर्क–मंगोल सिद्धांत' कहा है। मुगल सिद्धांत अनेक स्तरों से होकर विकसित हुआ है और इसके विभिन्न रचना तत्वों पर अरबी कबीलाई प्रथा 'उम्मत' और 'मिल्लत' जैसी ईस्लामी संकल्पनाओं का तथा मंगोल तुर्की बैजंटाइन और भारतीय राजनीतिक परंपराओं का गहरा प्रभाव था।

सल्तनतकालीन राजत्व का स्वरूप

महमूद गजनवी एवं मोहम्मद गौरी के आक्रमणों के पश्चात 1206 में कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा 'दिल्ली सल्तनत' की आधारशिला रखी गई एवं प्राचीन हिंदू शासन व्यवस्था पर नवीन राजत्व की अवधारणा विकसित हुई जो मध्य एशियाई तुर्क राजत्व के सिद्धांतों पर आधारित थी।

दिल्ली सल्तनत में राजत्व के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मजूमदार राय चौधरी एवं दत्त ने कहा है कि "समय–समय पर बगदाद तथा मिश्र के खलीफाओं के प्रति शिष्टाचार युक्त स्वामिभक्ति अदा करते थे परंतु अपनी शक्ति के लिए वे न तो खलीफाओं के ऋणी थे और न ही जनता की इच्छाओं के ही, यद्यपि राजसत्ता का इस्लामी सिद्धांत वैधानिक तथा प्रजातंत्रात्मक था। वस्तुतः भारत का मुस्लिम राज्य व्यावहारिक रूप में स्वतंत्र तथा अपने ऊपर शासन करने वाला था और सुल्तान सारी शासन प्रणाली का प्रधान था। सुल्तान की प्रभुता का वास्तविक साधन सैनिक शक्ति थी तथा सुल्तान प्रधान सेनापति था। वह प्रमुख कानून सृष्टा एवं अपील का अंतिम न्यायालय भी था।"

दिल्ली सल्तनत के शासकों का राजस्व का स्वरूप

कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली का प्रथम सुल्तान था। उसका शासन काल कम अवधि का होने के कारण शासन के नये स्वरूप को संचालित नहीं कर सका।

इल्तुतमिश राजसत्ता को किसी दूसरे के साथ बांटने को तैयार नहीं था इसलिए उसने मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करने और शरा की औपचारिकता को पूरा करने के लिए बगदाद के खलीफा से स्वीकृति पत्र प्राप्त किया। अपनी सत्ता को मजबूती प्रदान करने के लिए उसने 'तुर्कान ए चहलगामी' दल का गठन किया और उसी के बल पर शासन को संचालित किया। लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात यह दल अधिक शक्तिशाली होने लगा और कोई भी योग्य शासक सत्ता पर आसीन नहीं हो पाया इसलिए वे शासक की ही शक्ति सीमित करने का प्रयास करने लगे। उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। इल्तुतमिश ने अपने जीवन काल में अपना उत्तराधिकारी 'रजिया' को चुना।

1. **बलबन के राजत्व का स्वरूप** : दिल्ली सल्तनत में उत्तराधिकार का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं था। इसका निर्णय शासक की योग्यता, अमीरों की महत्वाकांक्षा एवं सैन्य संचालन पर आधारित था। इसलिए रजिया के पश्चात कोई भी सुल्तान अपनी योग्यता और सैन्य संचालन को साबित नहीं कर पाया और वे षड्यंत्रों का शिकार होते चले गये। बलबन ने अपनी योग्यता के बल पर दिल्ली सल्तनत की सत्ता प्राप्त की। उसे जब सत्ता प्राप्त हुई तब सुल्तान पद की प्रतिष्ठा नष्ट प्रायः हो चुकी थी। लंबे राजनीतिक अनुभव ने उसे सिखा दिया था कि तुर्की अमीरों की शक्ति का नाश किए बिना सुल्तान न तो राजशक्ति का

उपयोग कर सकता है और न ही अपनी प्रजा के सम्मान का पात्र बन सकता है। अतः उसने अपने राजत्व सिद्धांत में सुल्तान की प्रतिष्ठा के तत्वों को शामिल किया। बलबन का सिद्धांत पूर्णतः 'फारसी' के सिद्धांत पर आधारित था। उसके राजत्व संबंधी सिद्धांत 'वसय' में मिलते हैं जिसको 'जियाउद्दीन बर्नी' ने संकलित किया था। इसके प्रथम भाग में सुल्तान ने कर्तव्य एवं द्वितीय भाग में अपने पुत्रों को राजत्व संबंधी निर्देश दिये हैं।

बलबन के राजत्व संबंधी विचार

बलबन के राजत्व संबंधी विचार निम्न प्रकार हैं–

(क) राजत्व का दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत : बलबन ने राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत को मान्यता दी। यह सिद्धांत 'फारस' के राजत्व सिद्धांत से प्रेरित था। बलबन सुल्तान को पृथ्वी पर अल्लाह का प्रतिनिधि मानता था। उसे 'नियाबते खुदाई' कहा जाता था तथा 'जिल्ले अल्लाह' अर्थात ईश्वर का प्रतिबिंब भी मानता था। उसका मानना था कि ईश्वर ने उसे राजसी दायित्वों की पूर्ति के लिए भेजा है। उसका मत था कि "राजा का ह्रदय ईश्वर कृपा का विशेष कोष है। राजत्व निरंकुशता का शारीरिक रूप है। इस प्रकार की निरंकुशता सुल्तान की हत्या का खतरा उत्पन्न करती थी। अतः उसे अपनी सुरक्षा के प्रति सावधान रहना चाहिए और जनता में अपने प्रति भय की भावना जाग्रत करनी चाहिए।"

(ख) अलौकिकता का प्रदर्शन : बलबन ने अपने पद और प्रतिष्ठा को एक ऐसी ऊंचाई पर प्रतिष्ठित कर दिया, जहां तक पहुंचना आम आदमी के वश में नहीं था। दरबार के शिष्टाचार, अनुशासन तथा मर्यादाओं का पालन करना अनिवार्य था। उसने अपने राजत्व सिद्धांत के आधार पर अभिजात्य वर्ग पर विशेष बल दिया।

(ग) फारसी एवं ईरानी परंपराओं का अनुकरण : उसने फारसी एवं इरानी परंपराओं, रीति रिवाज तथा रहन–सहन के नियमों का कठोरता से अनुकरण किया। उसने अपने पौत्रों के नाम फारस के सम्राटों के समान कैकूबाद, कैखुसरो आदि रखे एवं अपना संबंध फारस के शासक 'आफरासियाब' से जोड़ा तथा पायबोस (सुल्तान के पैर चूमना) सजदा (घुटने पर सिर झुकाना) जैसी परंपराओं को प्रारंभ किया। फारसी नववर्ष 'नवरोज' को मनाना आरंभ किया। उसने गद्दी पर बैठते ही अपने जीवन में भी बहुत परिवर्तन किया। दरबार की गंभीरता बनाये रखने के लिए वह न तो स्वयं कभी दरबार में हंसता था और न किसी को हंसी मजाक करने देता था। बर्नी का कहना है कि "वास्तव में उसका राजत्व खून खंजर की वैशाखी पर नाचता था।"

2. **खिलजी वंश का राजत्व का स्वरूप** : बुजुर्ग जलालुद्दीन खिलजी ने जिस प्रकार दास वंश के शासन को समाप्त किया उसमें तुर्क दास वंश का खोखलापन उजागर हुआ। जलालुद्दीन की हत्या उसके भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने कर दी। वह एक निरंकुश शासक था उसने धर्म को राजनीति से अलग रखा। बर्नी का मत है कि उसके लिए साम्राज्य का हित सर्वोपरि था। "केवल साम्राज्य की भलाई के लिए जो बात अवसरोचित है, उसकी आज्ञा देता हूं।" उसका कहना

टिप्पणी

था, "मैं यह नहीं जानता कि शरीअत में उसकी अनुमति है या नहीं। मैं नहीं जानता कि न्याय के दिन अल्लाह मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगा।"

अतः उसने स्थायी सेना का निर्माण किया और अमीरों को सेना रखने की आज्ञा नहीं दी। उसका राज्य सैनिक तंत्र था। सैनिकवाद और निरंकुशता उसके राजत्व के दो मुख्य आधार थे।

राजनीतिक लाभ हेतु उसने 'यामीन–उल–खिलाफत' (खलीफा का दाहिना हाथ) एवं 'नासिर–ए–अमीर उल'–मोमिनीन (खलीफा का सहायक) उपाधि ग्रहण की। 'मुबारक खिलजी' ने तो स्वयं को खलीफा घोषित किया और दिल्ली सल्तनत की स्वयंप्रभु सत्ता के रूप में घोषणा की।

3. **तुगलक वंश का राजत्व का स्वरूप** : मुहम्मद तुगलक का राजत्व सिद्धांत भी दैवी सिद्धांत की तरह था। उसका विश्वास था कि सुल्तान बनना ईश्वर की इच्छा है। उसने अपने सिक्कों पर अल सुल्तान जिल्ली अल्लाह (सुल्तान ईश्वर की छाया है) अंकित कराया। उसका शासन भी स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था। यद्यपि सुल्तान सर्वेसर्वा था परंतु वह शासन के महत्वपूर्ण मामलों में अपने प्रमुख अमीरों तथा अधिकारियों से परामर्श लिया करता था। उनके परामर्श को मानना उसकी इच्छा पर निर्भर था। इसी प्रकार उसने उलेमा वर्ग को भी अपने शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। गयासुद्दीन तुगलक ने अपने को खलीफा का सहायक घोषित किया।

फिरोजशाह तुगलक ने मिश्र के अब्बासी खलीफा से मान्यता तथा मानसूचक वस्त्र प्राप्त किये। फिरोज तुगलक के सिक्कों पर खलीफा अल हाकिम अलमुताजिद एवं अल मुतावक्किल का नाम मिलता है। वह धार्मिक प्रवृत्ति का था और धार्मिक व्यक्तियों तथा विद्वानों की संगत पसंद करता था। उसने स्वयं को खलीफा का नायब घोषित किया जिससे सुल्तान तथा खलीफा के संबंध स्पष्ट हों। उसका शासन भी स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश था। उसका राज्य पूर्ण रूप से धर्म तंत्र बन गया।

4. **लोदी वंश का राजत्व सिद्धांत** : अफगानों का प्रभुसत्ता का सिद्धांत तुर्कों से बिल्कुल भिन्न था। तुर्की सुल्तान निरंकुश शासक थे और उनके सरदार अधीन कर्मचारियों अथवा सलाहकार से अधिक नहीं थे। वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि कोई उनकी बराबरी का दावा करे अथवा प्रभुसत्ता में साझेदार हो। उन्होंने राजतंत्र में देवत्व के अंश का दावा किया था परंतु अफगान सरदार सुल्तान को अपने में से ही एक बड़ा सरदार मानते थे।

बहलोल लोदी की शक्ति अफगान सरदारों पर निर्भर थी इसलिए उसका प्रयास सदैव उनके प्रति सहानुभूति का होता था। वह उनको संतुष्ट करने के सिद्धांत पर कार्य करता था एवं उन्हें बराबरी का दर्जा देता था और उनके साथ बराबरी से बैठता था। उसने उनके साथ कभी भी शासकों की तरह व्यवहार नहीं किया। इसके विपरीत 'सिकंदर लोदी' ने अपनी नीतियों को परिवर्तित किया और कठोर नीति का अनुसरण किया। उसने सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया और कठोर दंड का प्रावधान रखा। परंतु जहां तक हो सका अमीरों की भावनाओं का सम्मान किया।

टिप्पणी

इब्राहिम लोदी के सुल्तान बनते ही, सुल्तान तथा अफगान अमीरों के बीच संघर्ष शुरू हो गया। इब्राहिम लोदी ने कठोर नीति अपनाई। उसके सिद्धांतों में व्यक्तिगत आकांक्षाएं, भय एवं हठ अधिक था। उसने कुछ मूर्खतापूर्ण घोषणाएं की कि सुल्तान का कोई संबंधी नहीं होता, सभी सुल्तान के अधीनस्थ सामंत अथवा प्रजा होते हैं। वह दरबार में उच्च स्थान पर बैठता था, उसने पूर्व के लोदी सुल्तानों की तरह बराबरी के सिद्धांत को बदलने का प्रयास किया जिसमें वह असफल रहा।

ईश्वर की अवधारणा एकेश्वर सत्ता में है, उसी प्रकार मुस्लिम अवधारणा में एक शासक की परिकल्पना पर विश्वास किया जाता रहा। पैगम्बर के पश्चात खलीफा की सत्ता का विस्तार हुआ तो मुस्लिम शासकों को एक प्रकार का गवर्नर मान लिया गया। इसलिए सल्तनतकालीन शासन व्यवस्था में खलीफा की सत्ता को सभी शासकों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया एवं उन्होंने अपने को खलीफा का प्रतिनिधि स्वीकार किया। जबकि उनके शासन की पद्धति पूर्णरूप से निरंकुश और स्वेच्छाचारी थी। उन्होंने खुतबे को खलीफा के नाम से उच्चारित कराया तथा अपने सिक्कों पर उसके नाम को उत्कीर्ण कराया।

संक्षेप में दिल्ली सल्तनत का स्वरूप धर्मतंत्रीय एवं निरंकुश स्वेच्छाचारिता, सैनिक तंत्र पर आधारित शासन था।

मंगोल सम्प्रभुता का सिद्धांत

"आकाश में केवल एक सूर्य या एक चांद रह सकते हैं, फिर पृथ्वी पर दो स्वामी कैसे हो सकते हैं।"

चंगेज खां

दिल्ली साम्राज्य के पतन के पश्चात बाबर द्वारा मुगल सत्ता की नींव रखी गई। बाबर तुर्क मंगोल था। वह अपनी माँ के रिश्ते से चंगेज खां एवं पिता के रिश्ते से तैमूर का वंशज था। भारत में बाबर के वंश को 'चंगताई, मुगल एवं कारवानाह' नाम से जानते थे। इसलिए उसका सिद्धांत तुर्क एवं मंगोल मिश्रित था। आर.पी. त्रिपाठी ने मुगल राजत्व के सिद्धांत को 'तुर्क–मंगोल सिद्धांत' कहा है। सतीश चंद्र का मत है कि इलबारी तुर्क इन अब्बासी विचारों और संस्थाओं को भारत में लेकर आये थे। 'अमीरान–ए–हजारा' एवं 'अमीरान–ए–सादा' भारत में मंगोल संस्थाएं थी।

मध्य एशिया की प्रशासनिक व्यवस्था 'तुर्क–मंगोल सिद्धांत' पर आधारित थी चंगेज के अधिकारियों में तुर्कों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। जब बाबर भारत आया तो वह मंगोलों के रीति–रिवाजों और प्रथाओं को भी लेकर आया।

चंगेज खां की प्रशासनिक व्यवस्था तुरा, यासा, पसाक आदि नामों से जानी जाती है। यह व्यवस्था धार्मिक न होकर पूर्णतः राजनीतिक सिद्धांतों पर आधारित थी। अकबर की शासन व्यवस्था में मध्य एशिया, भारतीय एवं ईरानी–इस्लामी सिद्धांत का मिश्रण था। जहांगीर द्वारा भी अपनी आत्म कथा में तुरा का वर्णन किया गया है।

शाहजहां के शासन काल तक 'तुरा' का प्रभाव कम हो गया और औरंगजेब के शासन काल में धर्मान्धता ने इसका अंत कर दिया।

'यासा' मंगोल जनजाति की परंपराओं का संकलन था। उसे चंगेज खान की विधि संहिता कहकर मंगोलों ने भी 'मूसा और सुलेमान' की तरह अपने एक स्मृतिकार

के होने का दावा किया। यासा मंगोलों को संयुक्त करने में सफल हुआ और उनकी अपनी पहचान बनाने में मदद की। यासा एक सशक्त विचारधारा थी जिसने विश्वव्यापी मंगोल साम्राज्य की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

टिप्पणी

चंगेज खाँ का यासा या तुरा का सिद्धांत

मंगोलों का राजत्व सिद्धांत चंगेज खां के 'यासा' में निहित था–

1. महापरिषद (कुरिलताई) के द्वारा मंगोल सम्राट का चयन किया जाये।
2. महापरिषद (कुरिलताई) में निर्वाचित हुए बिना जो अपने को 'खाकान' (सम्राट) घोषित करे उसे मृत्यु दंड दिया जाये।
3. धार्मिक नेताओं, उपदेशकों, साधुओं, धर्माचारी व्यक्तियों, मस्जिद के मुअज्जिनों, चिकित्सकों एवं मुर्दा नहलाने वालों को राज्य की ओर से भोज दिया जाए।
4. अपने अधीनस्थ राजा से ही सुलह की जाये।
5. सेना में 'दशमलव' पद्धति की शुरुआत की जाये।
6. सेनापति की आज्ञा के बिना शत्रु को लूटने की सजा मृत्युदंड है। आज्ञा मिलने पर लूटने के लिए अफसर और सिपाही को एक समान अवसर दिये जायें।
7. सेना को अभ्यस्त करने के लिए शिकार का प्रावधान रखा गया।
8. जो लड़ाई में शामिल नहीं हो पाते उन्हें निश्चित समय तक बिना मजदूरी साम्राज्य के लिए काम करना होगा।
9. साम्राज्य का अधीनस्थ कोई भी आदमी किसी मंगोल को सेवक या दास नहीं रख सकता था।
10. गुप्तचर, झूठे, हीन दुराचारी व्यभिचारी तथा जादूगर आदि को मृत्यु दंड दिया जायेगा।

इस प्रकार चंगेज खां ने 'रक्त और लौह' की नीति का अनुसरण कर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। कारपीनी का कहना है कि मंगोल जाति चंगेज खां की आज्ञाकारी थी। उसने अपने वंशजों के लिए विशाल साम्राज्य एवं नवीन राजनीतिक सिद्धांतों की स्थापना की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य को अलग–अलग पुत्रों में विभाजित कर दिया गया। इस उत्तराधिकार के नियम को कुछ मुगल शासकों के द्वारा भी अपनाया गया। चंगेज खां द्वारा प्रतिपादित दशमलव प्रणाली को मुगलों ने सेना का प्रमुख आधार बनाया और भारत में अपने साम्राज्य को संगठित किया।

मंगोलों का राजत्व सिद्धांत तुर्कों के सिद्धांत से भिन्न था। मंगोलों का सिद्धांत राजनीतिक एवं सैनिक प्रवृत्ति से प्रेरित था। उनका लक्ष्य न तो धार्मिक था और न ही उनका कोई धार्मिक नेता था। जबकि तुर्की सिद्धांत पूर्णतः धार्मिक या और उनका धार्मिक नेता 'खलीफा' था। उसी के अधीनस्थ शासक वर्ग शासन करते थे। तैमूर के राजस्व सिद्धांत का आधार 'मलफुजात–ए–तिमुरी' था। उसका मानना था 'सुल्तान ईश्वर का प्रतिनिधि है एवं जनता का सर्वोच्च प्रतिनिधि है। उसने इस्लाम की परंपराओं को भी अपनाया। खलीफाओं की तरह उसने मस्जिदों में अपने नाम का खुतबा पढ़वाया।

टिप्पणी

इस प्रकार बाबर जिसके शरीर में चंगेज खां एवं तैमूर दोनों का रक्त प्रवाहित हो रहा था, उसने इस्लामी तुर्क एवं मंगोल परंपराओं को अपने राजत्व सिद्धांत में शामिल किया और भारत में सुदृढ़ शासन व्यवस्था की नींव रखी जिस पर उसके वंशजों ने आलीशान भवन तैयार किया।

मुगलकाल में राजत्व सिद्धांत

"राजत्व ईश्वर का अनुग्रह है, यह उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है, जिस व्यक्ति में हजारों गुण एक साथ विद्यमान हों।"

'अबुल फजल'

मध्यकालीन भारत के शासन के स्वरूप के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। डॉ. आर.पी. त्रिपाठी, डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव, डॉ. ईश्वरी प्रसाद, डॉ. ए.सी. बैनर्जी आदि के विचार में उस समय के भारत का शासन धर्म तंत्रात्मक था। किंतु डॉ. आई.एच. कुरैशी और प्रो. मुहम्मद हबीब इस मत से सहमत नहीं हैं। हरिश्चंद्र वर्मा स्पष्ट कहते हैं कि मुगल राजत्व का स्वरूप अनेक स्तरों से होकर विकसित हुआ एवं इसके विकास में अरबी कबीलाई प्रथा, 'उम्मत' और 'मिल्लत' जैसी इस्लामी अवधारणाओं तथा तुर्की, मंगोल, ईरानी, ससमिद, बैंजटाइन एवं भारतीय राजनीतिक परंपराओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

बाबर का राजत्व सिद्धांत– बाबर मूलतः सैनिक था। उसकी आत्मकथा में राजत्व सिद्धांत के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। फिर भी उसके विचारों में राजत्व संबंधी जानकारी मिलती है।

उसका मानना था– "बादशाही से बढ़कर कोई बंधन नहीं है। बादशाह के लिए एकांतवास या आलसी जीवन उचित नहीं है।" बाबर का पूरा जीवन भटकाव भरा था। काबुल पर अधिकार करने के पश्चात उसने 'पादशाह' की उपाधि धारण की। उसके द्वारा 'पादशाह' की उपाधि धारण करने का मुख्य उद्देश्य ईरान के शाह तुर्की के सुल्तान तथा उजबैक शासकों के मुकाबले अपनी श्रेष्ठता साबित करना था। खलीफा के आधिपत्य से भी उसने अपने आपको मुक्त कर लिया। अब वो किसी विदेशी सत्ता अथवा व्यक्ति के अधीन नहीं था।

वह हुमायूं से कहता है, "उसे योग्य, अनुभवी अमीरों एवं हितैषियों से सलाह लेकर राज्य के कार्यों को संपादित करना चाहिए। वह वंशानुगत अधिकार पर विश्वास करता था एवं उत्तराधिकार के नियम को भी उसने अपनाया। अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' में उसने हुमायूं को अपने बाद साम्राज्य विभाजन के निर्देश दिये हैं।

इस प्रकार बाबर का जीवन 'घुम्मड़' अवश्य था परंतु भारत में मुगल सत्ता को उसने स्थापित किया और राजत्व सिद्धांत को आधार प्रदान किया।

हुमायूं का राजत्व सिद्धांत– हुमायूं बादशाह को पृथ्वी पर खुदा का प्रतिनिधि मानता था। उसका मानना था कि "जिस प्रकार परमात्मा प्राणियों की रक्षा करता है उसी प्रकार अपनी प्रजा की रक्षा करने का कर्तव्य बादशाह का है। उसका मानना था कि ईश्वर की इच्छा से ही समस्त कार्य हो रहे हैं। इसी तरह उसके कार्य ईश्वर की इच्छा पर

टिप्पणी

आधारित होते हैं। अबुल फजल उसे 'इन्साने कामिल' (पूर्व मानव) कहकर संबोधित करता है।

समकालीन इतिहासकार 'एवदमोर' उसे ईश्वर का प्रतिरूप तथा सर्वोच्च धार्मिक एवं लौकिक शक्ति का साकार रूप मानता है।

हुमायूं का राजत्व सिद्धांत अन्य शासकों से भिन्न था। वह साम्राज्य के विभाजन में विश्वास करता था। उसका मानना था कि ऐसा करने पर राज्य संगठित होगा और भाई संतुष्ट होकर उसका सहयोग करेंगे, परंतु यह विभाजन उसकी सोच के विपरीत था। हुमायूं के सरल व्यवहार ने एक भिस्ती जिसने उसकी चौसा के युद्ध के उपरांत जान बचाई उसे एक दिन का बादशाह बनाया। इसका विरोध उसके भाइयों ने एवं अमीरों ने किया। यह कार्य मुगल राजत्व सिद्धांत के पूर्णतया विपरीत था।

अतः हुमायूं द्वारा किये गये सभी प्रयोग असफल रहे और उसे अपने राज्य को खोना पड़ा। उसकी इस दुर्बलता का लाभ अफगान शक्ति ने उठाया और 'शेरशाह' ने अफगानी सत्ता की स्थापना की।

अकबर का राजत्व सिद्धांत– अकबर कालीन राजत्व सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या 'अबुल फजल' ने 'आइने अकबरी' में की है। उसने राजत्व की परिभाषा दो प्रकार से दी है– पहली 'फर्रे इजिदी' जिसका अर्थ है–'पवित्र प्रकाश चक्र' और दूसरी 'खा–ए–रोजी' (शासक एवं समाज के मध्य सामाजिक अनुबंध) है। अकबर कालीन राजत्व की जानकारी 'आइन–ए–अकबरी' तथा 'अकबरनामा' से मिलती है। उसके शासन काल में पादशाहत की परंपरा को नया अधिकार और मजबूती मिली। पादशाह दो शब्दों से मिलकर बना है 'स्थायित्व' और 'स्वामी' अथवा अधिपति। अबुल फजल के अनुसार, "राजसत्ता परमात्मा से फूटने वाला तेज और विश्व प्रकाशक सूर्य की किरण है।" अकबर राजतंत्र को धर्म एवं संप्रदाय से ऊपर मानता था और उसने रूढ़िवादी इस्लामी सिद्धांत के स्थान पर सुलह–कुल की नीति अपनायी और दो विभिन्न धाराओं को जोड़ने की कोशिश की। उसने भारत में राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया। अबुल फजल ने राज्य की जो संकल्पना प्रतिपादित की वह सार्वदेशिक थी। इसमें किसी जाति धर्म, संप्रदाय या राष्ट्रीयता के सभी लोग सम्मिलित थे।

इसलिए अकबर को 'साहिब–ए–जमाना' (युग पुरुष) कहा गया है। "ईश्वर की दृष्टि में राजा से ऊंचा अधिकारी नहीं और जो लोग बुद्धिमान होते हैं वे इस दैवीय अनुग्रह का आनंद लेते हैं।" इस प्रकार के कथन अकबर के राजत्व के संदर्भ में कहे गये हैं।

जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब का राजस्व सिद्धांत

जहांगीर भी प्रकाश से प्रभावित था। उसने मुहम्मद शब्द को हटाकर 'नुरुद्दीन' (प्रकाश का स्वामी) जोड़ा। उसने अपने राजत्व की जानकारी 'तुजुके जहांगीरी' में दी है। उसका मानना था– "खुदा यह महत्वपूर्ण पद उस व्यक्ति को जिसे वह योग्य समझता है, प्रदान करता है। जहांगीर और शाहजहां के सिद्धांत कठोरता की नीति पर आधारित थे पर उन्होंने अकबर की नीतियों का विरोध भी नहीं किया। जहांगीर के व्यक्तित्व में विरोधाभास था। डॉ. बेनीप्रसाद उसे उदार शासक मानते हैं जबकि डॉ. कुरैशी उसे इस्लामी शासक कहते हैं।"

टिप्पणी

शाहजहां भी दैवीय सिद्धांत पर विश्वास रखता था। ईरान में शाहजहां के वक्त आलम खां ने ईरान के शाह के सामने मुगल सम्राट शाहजहां को 'पृथ्वी का ईश्वर' कहा है। पंडित जगन्नाथ ने भी शाहजहां के संदर्भ में इसी प्रकार की पंक्ति कही है–

"दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा

धनेन मां पूरयितुं समर्थः

अन्यैः नृपालैः परिदीयमानं

शाकं वा स्यात् लवणं वा स्यात्।"

इस प्रकार शाहजहां के सिद्धांतों पर इस्लामी प्रभाव अवश्य था पर उसमें औरंगजेब की तरह धर्मान्धता नहीं थी। उसका प्रभाव उसके पुत्र 'दाराशिकोह' में स्पष्ट परिलक्षित होता है। उसके शासन काल में हिंसात्मक उत्तराधिकार का संघर्ष मुगल राजत्व की अलग व्याख्या करता है।

औरंगजेब ने मुस्लिम कानून की 'हनफी विचारधारा' के नियमों को लागू किया और कठोर धार्मिक नीति का अनुसरण किया। उसने अकबर की सुलह–कुल की नीति का त्याग कर दक्षिण भारत में मराठों से संघर्ष किया जो मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बनी।

इस प्रकार 'अबुल फजल' का राजस्व सिद्धांत मुगल शासकों को एकतंत्रीय एवं स्वेच्छाचारी शासन में परिलक्षित करता है। उन्होंने अपने को धर्म प्रमुख घोषित किया और खलीफा की अधीनस्थता को अस्वीकार कर दिया। 1579 में अकबर ने 'महजर' की घोषणा की जिससे वह 'धार्मिक प्रमुख' भी बन गया। सिक्कों एवं इबादत में अकबर को खलीफा बताया गया। 1579 में वह अमीरुला मोमिनीन (सेनानायक) एवं धर्म प्रमुख (इमाम) बन गया। इस प्रकार उसने भारत में सम्प्रभुता की स्थापना की।

जगदीश नारायण का मत है कि मुगल शासकों ने एकाधिकार स्थापित किया। इस एकाधिकार में बादशाह के नाम पर जुम्मे की नमाज (खुतबा) दरबार में मिलने वाली सलामियों जिन्हें 'तसलीम' व 'कोर्निश' कहा जाता था, सम्मिलित थे।

संक्षेप में मुगलों का राजस्व सिद्धांत तुर्की और मंगोल परंपरा पर आधारित था जिसमें अकबर के समय में भारतीय परंपरा का समावेश किया गया।

1.2.1 राजतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति

ऐतरेय ब्राह्मण में चार प्रकार के राजतंत्र बताए गए हैं– राज्य, महाराज्य, आधिपत्य और सार्वभौम राज्य। सार्वभौम राज्य सामान्य राजतंत्र है। महाराज्य की परिभाषा नहीं दी गई है परंतु इसका तात्पर्य बड़े राजतंत्र से है। आधिपत्य का अर्थ डॉ. जायसवाल के शब्दों में–"आधिपत्य एक ऐसी साम्राज्य प्रणाली मालूम होती है जिसमें राज्यों के सीमांतों के बाहर का संरक्षण या अधिराज्य प्रभावी राज्यों को प्राप्त होता है।"

राजतंत्र (Monarchy) वह शासन व्यवस्था कहलाती है जिसमें शासन का प्रमुख राजा होता है। राजा (संस्कृत में राजन्) शब्द संस्कृत की धातु 'राजा' से अन् प्रत्यय लगकर बना है जिसका अर्थ है दीप्त होना, प्रकाशमान होना, तेज चमकना आदि। अतः राजा वह है जिस पर तेज चमकता हो और जो सहज सौन्दर्य, दिव्य गुणों एवं अर्जित यश से दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है।

विभिन्न विचारकों के मतों के विश्लेषण के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भारत में राजतंत्र शासन व्यवस्था का प्रचलित रूप था। इसके अंतर्गत एक व्यक्ति विशेष का शासन होता था।

टिप्पणी

वैदिक काल के अंत में ऋग्वैदिक काल के कबीलाई संगठन के स्थान और प्रादेशिक राज्य प्रतिष्ठित होते जा रहे थे, लेकिन बुद्धकाल (6वीं शताब्दी) ई.पू. में शहरों को अपनी सत्ता के केंद्र बनाकर बड़े–बड़े राज्य (महाजनपद) उदित हो रहे थे, जो बुद्धकालीन भारत में राजनीतिक एकीकरण तथा विशाल साम्राज्यों की बढ़ती प्रवृत्ति की पुष्टि करते हैं तथा साथ ही प्रादेशिकता की प्रबल होती हुई इच्छा की भी।

नई भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण राज्य की सेना तथा कर व्यवस्था जैसे अंगों का तीव्र विकास हुआ जिसने राजतंत्र, प्रशासन व्यवस्था के विस्थापित होने में मदद की।

बी.जी. गोखले– "बुद्ध के समय में राजतंत्र प्रमुख राजनीतिक संस्था थी– स्वयं बुद्ध ने जिनका कि जनजातीय गणतंत्रों के प्रति स्वाभाविक झुकाव था, ने भी कारण चाहे जो भी रहे हों यह घोषणा की कि अराजकता की स्थिति में जाने से बचने के लिए राजतंत्र अत्यंत आवश्यक है।"

राजतंत्र शासन व्यवस्था की विशेषताएं

राजतंत्र शासन व्यवस्था की विशेषताएं निम्न हैं–

1. राजतंत्र शासन व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी राजा का शक्तिशाली होना। प्राचीन साहित्य में राजा को सर्वोच्च स्वामी एवं देवतुल्य संज्ञा दी गई है।
2. राजतंत्रात्मक शासन के विस्तार के साथ राजा की सहायता के लिए राज्य अधिकारियों की संख्या तथा महत्व में वृद्धि हुई।
3. राज्य की शक्ति में वृद्धि होने के कारण स्थायी सेना के गठन के महत्व को समझा जाने लगा।
4. साम्राज्य विस्तार की भावना एवं राज्य के खर्चे को किस प्रकार वहन किया जाये इसके लिए सुदृढ़ राजस्व व्यवस्था स्थापित की गई।
5. व्यवस्थित कर संग्रह प्रणाली की शुरुआत हुई।
6. राज्य को सुव्यवस्थित करने हेतु पुलिस संगठन और दंडाधिकरण की स्थापना की गई।
7. वैदिक कालीन सभा समिति संस्था जो राजा पर नियंत्रण स्थापित करती थी उनके प्रभाव को खत्म कर मंत्रिपरिषद का गठन किया गया।
8. राजा जन के नहीं राष्ट्र के स्वामी कहलाने लगे।

राजतंत्र शासन व्यवस्था के उद्देश्य– राज्य के उद्देश्य के संबंध में वैदिक साहित्य में विवरण मिलता है। उन दिनों शांति सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय आदि राज्य के मूल उद्देश्य माने जाते थे। छांदोग्य उपनिषद में कहा गया है कि राजा वरुण के समान नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक तथा दुष्टों को दंड देने वाला होना चाहिए। धर्म का संवर्धन, सदाचार को प्रोत्साहन और ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक

राज्य को भली–भांति करना चाहिए। इस प्रकार प्रजा का सर्वांगीण कल्याण ही राज्य का उद्देश्य था।

टिप्पणी

राजतंत्रात्मक शासन और राजा– मेगस्थनीज के अनुसार उसके काल में हिंदू परंपरा यह थी कि भारत में संगठित सरकार का प्रारंभिक रूप राजतंत्र था। यह तथ्य ऋग्वेद से भी प्रमाणित होता है। प्राचीन भारत में शासक को राजा कहा जाता था। वैदिक साहित्य एवं अनेक प्राचीन साहित्य में राजा की स्थिति देवतुल्य थी। ऋग्वेद में पुरुकुत्स को अर्द्ध देव माना गया है। अथर्ववेद में राजा परीक्षित को मानवों में देवता बताया गया है। ऐसा माना गया है कि राजाओं की विजय का कारण विभिन्न देवताओं का आशीर्वाद था। वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ देवताओं के समान स्थिति प्राप्त करने में समर्थ बनाते थे।

छठी शताब्दी ई.पू. तक अनेक राजतंत्रों की स्थापना हुई। काशी, कोसल, अंग, मगध, चेदि, वत्स आदि राजतंत्र प्रमुख थे। कालान्तर मगध ने इन सभी महाजनपदों पर अधिकार कर चंद्रगुप्त मौर्य ने एकछत्रीय राजतंत्र की स्थापना की। उसके वंशजों ने भी इस परंपरा का निर्वाहन किया। गुप्त काल में समुद्रगुप्त जो 'सौ युद्धों का विजेता था' जिसे स्मिथ ने भारतीय नेपोलियन कहा है, राजतंत्र के अध्याय में नये युग का सूत्रपात किया। वर्धन वंश तक यह परंपरा और अधिक बलशाली हुई।

इस प्रकार राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था को स्थायी आधार प्रदान करने में भारत के यशस्वी राजाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया।

राज्य के प्रकार– प्राचीन समय में राज्य का स्वरूप राजतंत्रीय था। ऐतरेय ब्राह्मण आठ प्रकार के राज्यों की सूची देता है। उसमें उनके शासकों की पदवियों और जिन प्रदेशों में वे राज्य करते थे उनका वर्णन है। वैदिक काल में राजा, महाराजा, सम्राट आदि उपाधियां राजाओं को पद और गौरव के अनुसार दी जाती थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राज्यों की सूची–

राज्य का प्रकार	शासक की उपाधि	शासन क्षेत्र
1. साम्राज्य	सम्राट	पूर्व
2. भोज्य	भोज	दक्षिण
3. स्वराज्य	स्वराट्	पश्चिम
4. वैराज्य	विराट्	उत्तर
5. राज्य	राट्	कुरु पांचाल
6. पारमेष्ठय	–	कुरु पांचाल से उत्तर की ओर
7. महाराज्य	–	–
8. आधिपत्य	–	–

बौद्ध काल तक आते–आते साम्राज्यवाद का उदय हुआ। बहुत से अंतर्राष्ट्रीय राजतंत्रों का जन्म हुआ और उनमें से सबसे प्रमुख मगध, कौशल और अवंती थे। साम्राज्यवाद की प्रतिस्पर्धा में 'मगध' विजयी रहा। चक्रवर्ती शासन पद्धति का जन्म हुआ जिसका अर्थ था 'राजसी चक्र बिना किसी बाधा के पूरे क्षेत्र में घूमता था।'

टिप्पणी

सम्राटों की नियुक्ति के लिए विशेष समारोहों (यज्ञों) का विकास किया गया था। उन्हें वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध कहते थे। अश्वमेध यज्ञ को सार्वभौम ही कर पाते थे। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार कोई व्यक्ति राजसूय यज्ञ करने पर राजा, वाजपेय यज्ञ करने पर सम्राट, अश्वमेध यज्ञ करने पर स्वति, पुरुषमेध यज्ञ करने पर विराट और सर्वमेध यज्ञ करने पर सर्व विराट बनता था।

सप्तांग सिद्धांत संबंधी विचार प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों की एक महत्वपूर्ण देन रही है। इस विचार को राज्य की सार्वभौम विचारधारा भी कहा गया है। जिस प्रकार प्राणी के शरीर में विभिन्न अंग होते हैं, उसी प्रकार राज्य का शरीर भी इन सात अंगों से मिलकर बना है–स्वामी या राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। राज्य व्यवस्था संबंधी सभी ग्रंथों में इनका उल्लेख है।

अतः आधुनिक इतिहासकारों द्वारा प्राचीन राजशास्त्र पर अध्ययन करने के पश्चात निष्कर्ष दिया गया है कि प्राचीन राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था सर्वोत्कृष्ट प्रणाली थी। विचारकों ने राजतंत्र के समान पक्षों का अध्ययन किया है। जिसके आधार पर राज्य की प्रकृतियों को उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि के साथ समझने में सहायता प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन राजनीतिक चिंतकों, मनीषियों, प्रणेताओं ने राज्य के समस्त पक्षों को रेखांकित किया है।

1.2.2 कुलतंत्र : अवधारणा एवं स्वरूप

वंशानुगत शासन करने वाली 'कुल' आधारित व्यवस्था को कुलतंत्र (Oligarchy) अथवा श्रेणीतंत्र कहा गया है। यह एक राजनीतिक व्यवस्था थी जिसमें राज्य का शासन कुलों पर आधारित था। वैदिक कालीन परंपरा में 'कुल' का उल्लेख मिलता है। यही व्यवस्था कालान्तर में 'कुलतंत्र' में परिवर्तित हो गई। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुल के लिए 'गोत्र' शब्द को रेखांकित किया गया।

बौद्ध काल में जनपद एवं संघ राज्यों के साथ–साथ गोत्रों का विशेष महत्व था। ये प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करते थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गोत्र से संबंधित विशिष्ट शब्द यथा– अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य का विवरण दिया है और इनके बीच के अंतर को खोजने का प्रयास किया है। 'गोत्रापत्य' से तात्पर्य परिवार के मुखिया से है। युवापत्य से आशय है मुखिया के पश्चात 'गोत्रापत्य' का पद उसे दिया जाये। इस बात को स्पष्ट करने के लिए पाणिनि ने अनेक सूत्रों को रचित किया है।

कुलतंत्र जनपदों में न तो सर्वसाधारण जनता का शासन था और न ही कुल का प्रतिनिधि निर्वाचित होने की पद्धति थी। कुल का प्रतिनिधित्व कुल या गोत्र के सबसे वृद्ध सदस्य गोत्रापत्य द्वारा किया जाता था। इसलिए प्राचीन भारत के अनेक ग्रंथों में जनपदों की शासक सभाओं के सदस्यों के लिए 'कुलबद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि रामायण एवं वेदव्यास कृत महाभारत में स्थान–स्थान पर 'ग्रामबद्ध', 'कुलबद्ध' 'वृहद्दर्शी' आदि शब्दों को रेखांकित किया गया है।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि राजा को अपने प्रशासन को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने हेतु 'युवा शक्ति' की मात्र आवश्यकता नहीं थी बल्कि उसे 'गोत्रापत्य' के रूप में वृद्धजनों के अनुभव की भी आवश्यकता थी। वृद्ध एक पारिभाषिक शब्द था

टिप्पणी

जो अनुभवशाली व्यक्ति के रूप का बोध कराता था। पाणिनि के समय जनों के अपने जनपद थे जिनमें कुलवृद्धों या गोत्रापत्यों का शासक था। एक कुल के समय जन भाई–बहिन होते थे। वर्तमान में भी यह परंपरा प्रचलित है। सहगोत्र में विवाह वर्जित है। आज भी हर समाज, जाति वर्ण के अपने–अपने गोत्र प्रचलित हैं। पाणिनि इस तथ्य से भली–भांति परिचित थे कि 'गोत्र' शब्द केवल कुल के लिए प्रयुक्त नहीं होता बल्कि समूह अर्थ में भी इसका प्रयोग होता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में संघ वृत्तम अध्याय में संघ–जनपदों की सत्ता को समाप्त करने तथा 'एकराज' शासन की अधीनता में लाने के प्रसंग में कुलतंत्र के संबंध में उद्धरण मिलते हैं। अर्थशास्त्र के एक श्लोक में वर्णित है–

"कुल का राज्य होना चाहिए क्योंकि कुल संघ दुर्जेय होते हैं, उन्हें सुगमता से जीता नहीं जा सकता है। उनमें अराजकता या राजा की विहीनता का खतरा नहीं होता है और वे शाश्वत रूप में पृथ्वी पर कायम रह सकते हैं।"

कौटिल्य एक क्षत्रीय शासन प्रणाली का समर्थक था परंतु वह जानता था कि प्रशासन में अनुभव का भी महत्व है। इसलिए वह कुलतंत्र को स्वीकृति देता है। इसका कारण था किसी व्यक्ति विशेष को महत्व न देकर समुदाय की उपयोगिता पर बल दिया गया था। कुलतंत्रीय व्यवस्था में अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना कम थी। जनतंत्रीय शासन प्रणाली के स्वरूप में समाज के सभी विशिष्ट व्यक्तियों को शामिल किया गया था जो वर्तमान लोकतंत्रात्मक प्रणाली का आधार है।

पाणिनि ने इन्हें 'आयुध जाति' तथा 'जानपदी' कहा है। कौटिल्य ने 'वार्ताशस्त्रोपर्जाति' और 'राज शब्दोपजीवि' तथा मनु ने 'जातिमात्रोपर्जाति' कहा है।

अतः यहां यह स्पष्ट है कि पड़ोसी राज्य की मित्रता से ज्यादा लाभप्रद 'कुलतंत्र' शासन प्रणाली को अपनाना है। भारतीय राजनीतिक चिंतन में कुलतंत्र दीर्घजीवी श्रेष्ठ शासन तंत्र था जो वैदिक कालीन शासन व्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई थी। कौटिल्य भी इस तथ्य से भली भांति परिचित थे। इसी शासन प्रणाली को वर्तमान में जनतंत्र के रूप में अपनाया गया है जिसमें सामान्य एवं समाज के विशिष्ट वर्ग का स्थानीय स्तर पर योगदान लेकर संगठित राष्ट्र का निर्माण युवा एवं वृद्धजन के साथ मिलकर किया जा सके।

1.2.3 गणतंत्र शासन व्यवस्था : अर्थ एवं उत्पत्ति

प्राचीन भारतीय राजत्व संबंधी चिंतन में गणतंत्रीय विचार एवं राज्य संस्था का विशेष महत्व रहा है। भारतीय शासन पद्धति में गणतंत्रीय (Republicanism) या लोकतंत्रीय विचार अत्यंत महत्वपूर्ण थे, क्योंकि इस अवधारणा में सत्ता विकेन्द्रीकृत थी और जनों या गणों के अधिकार में थी।

'गणतंत्र' शब्द 'गण' और 'तंत्र' के योग से बना है। 'गण' संस्कृत भाषा का भारतीय उत्पत्ति का शब्द है। डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार, "समूह अर्थ में गणराज्य का अर्थ होता है– 'समूह के द्वारा संचालित राज्य'।" वस्तुतः गणतंत्र की शासन प्रक्रिया में वंशानुगत शासन प्रणाली न होकर जनसमूह द्वारा संचालित व्यवस्था होती थी जिससे प्रभुत्वजन के हाथों में उनके निर्णय होते थे।

टिप्पणी

गण शब्द संख्यासूचक है। इसलिए ऋग्वेद से लेकर परवर्ती भारतीय साहित्य तथा अभिलेखों में यह शब्द संख्यात्मक, गणनार्थक तथा समूहात्मक ही है।

बौद्ध ग्रंथ 'महावग्ग' में उल्लेखित 'गण' तथा गणपूरक शब्दों की व्याख्या द्वारा के.पी. जायसवाल ने स्पष्ट किया है कि गण का आशय 'असेम्बली' अथवा 'पार्लियामेंट' से समीकृत होने के कारण गणराज्य का अर्थ 'असेम्बली' अथवा 'पार्लियामेंट' द्वारा शासित होते थे। अतः आगे चलकर 'गण' से गणराज्य बन गये।

गणराज्यों की उत्पत्ति के विभिन्न मत

प्राचीन भारतीय गणराज्यों को महत्व प्रदान करने का श्रेय डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल को है। उनका विचार है कि ऋग्वेद और गणतंत्रात्मक शासन का उदय राजतंत्र के काफी बाद और पूर्व वैदिक काल के पश्चात हुआ। इस मत से असहमत आर.एस. शर्मा का विचार है कि 'गण' का उल्लेख ऋग्वेद में 46 बार और अथर्ववेद में 9 बार आया है। अधिकांशतः इसका निर्वाचन सभा या सेना के अर्थ में उल्लेख मिलता है। वैदिक ग्रंथों में मरुतो का उल्लेख बार–बार गण के रूप में हुआ है। इंद्र, मरुत, बृहस्पति को बार–बार गणपति कहा गया है।

ऋग्वेद में एक स्थल पर गण के नेता को राजन की उपाधि प्रदान की गई है। ऋग्वैदिक गण का आधार पशुपालन था। ऐतरेय ब्राह्मण में शासन पद्धतियों का वर्गीकरण करते हुए 'स्वराज्य' तथा 'वैराज्य' का उल्लेख किया गया है। जिसका तात्पर्य 'गणतंत्रीय' संगठनों से है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, महाभारत एवं मेगस्थनीज के उद्धरणों से प्राप्त आधारों पर काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गणतंत्रीय व्यवस्था का उदय राजतंत्रों के काफी बाद तथा पूर्व वैदिक काल के पश्चात हुआ। सिकंदर के आक्रमण के समय में यूनानी स्रोतों से भी प्रजातांत्रिक राज्यों की जानकारी मिलती है। पालि साहित्य गणराज्यों की लंबी सूची प्रदान करता है। अलतेकर के अनुसार गणतंत्र का अर्थ–"राजनीति के प्रमाणभूत ग्रंथों के अनुसार प्रजातंत्र राज्य वह है जिसमें सर्वोच्च शासनाधिकार राजतंत्र की भांति एक व्यक्ति में न होकर एक समूह 'गण' या परिषद के हाथ में हो जिसके सदस्यों की संख्या चाहे कम हो या अधिक।"

गणतंत्र की विशेषताएं

महाभारत के शांति पर्व में गणराज्यों की निम्नलिखित विशेषताओं को दर्शाया गया है। रामायण में गणराज्यों का उल्लेख नहीं मिलता है जबकि महाभारत में योधेम, मालव, शिली, त्रिर्गत, माध्यमकेव, अम्बष्ठ, यादव आदि गणराज्य थे जिनके प्रमुख 'कृष्ण' थे।

1. गण शास्त्रानुकूल धर्म एवं व्यवहार से चलें।
2. गण के सदस्य पक्षपात एवं लोभ से अलग हों।
3. कुलों के नेता अपने पुत्रों व भाइयों को नियंत्रण में रखें।
4. गण प्रमुखों का सम्मान किया जाए।
5. गोपनीय विषय सार्वजनिक न किए जाएं।
6. पुरुषार्थ, कर्तव्यपरायण, बुद्धिमान, बलवान व्यक्ति का सम्मान करना चाहिए।

टिप्पणी

प्राचीनकालीन महत्वपूर्ण गणराज्य

प्राचीन भारत के गणतंत्र राज्यों की सूची हमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होती है। उसके आधार पर हम उन्हें सुविधा के लिए दो वर्गों में बांट सकते हैं– उत्तर–पश्चिम के गणराज्य तथा उत्तर–पूर्व के गणराज्य, उत्तर–पश्चिम के गणराज्यों के विषय में मुख्यतः यूनानी लेखकों के विवरण से, महाभारत ग्रंथ तथा पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन आदि के ग्रंथों से जानकारी मिलती है तो उत्तर–पूर्व के गणराज्यों की जानकारी मुख्यतः बौद्ध ग्रंथों से मिलती है। अर्थशास्त्र से भी गणराज्यों अथवा संघ राज्यों के विषय में महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं।

500 ई.पू. से 400 ई.पू. तक पंजाब और सिंधु घाटी में अनेक गणतंत्र के नाम मिलते हैं। वृक दामणि, पार्श्व काम्बोज के नाम व्याकरण ग्रंथों में मिलते हैं परंतु इनके संदर्भ में विस्तृत जानकारी का अभाव है। पाणिनि के काल में निर्गत पठित छह गणराज्यों का संघ था।

आगरा–जयपुर क्षेत्र में 200 से 400 ई.पू. आर्जुनायन गणतंत्र था 'यौधेयो का गणराज्य सहारनपुर से पश्चिम में भागलपुर तक और उत्तर–पश्चिम में लुधियाना से लेकर दक्षिण–पूर्व से दिल्ली तक था।' पाणिनि ने यौधेयो को 'आयुधजीवी' कहा है।

मध्य पंजाब में 'मद्रो' का गणराज्य था। इनकी राजधानी स्यालकोट थी। सिकंदर के साथ युद्ध मालव और क्षुद्रक गणराज्यों का हुआ जिसमें वे पराजित हुए। इनका क्षेत्र चेनाब और रावी नदी के बीच था। इसके अतिरिक्त 'अस्से के नाई' (अश्वक) सिवोई, अम्बष्ठ गणराज्यों की भी जानकारी मिलती है।

महाभारत एवं पाणिनि दोनों ही गणराज्यों की लंबी सूची देते हैं। छठी शताब्दी ई.पू. में अनेक गणतंत्रों की जानकारी मिलती है। बौद्ध ग्रंथ 'महापरिनिब्बसुत्त' में कुशीनारा के मल्ल पावा के मल्ल, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, अलकप्प के खुली का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में केसपुत्र के कालाम तथा सुसुमागिरी के भग्ग का उल्लेख है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक गणराज्यों का उल्लेख है। उनमें लिच्छविक, बृजक, मल्लक, मद्रक, कुकर, कुरु पांचाल आदि हैं। डॉ. जायसवाल का मत है कि "मौर्यो के आने तक गणराज्य 1000 वर्ष के हो चुके थे।" यह हिंदू गणराज्यों का स्वर्ण युग था।

शुंग काल से गुप्तकाल तक गणराज्यों के बारे में पता चलता है कि गुप्तकाल से पहले मालते में तीन मित्र गणराज्यों का उदय हुआ। उनके शासक पुष्यमित्र, पदुमित्र और पदनमित्र थे।

पांचवीं सदी के अंत तक गणराज्यों का प्राचीन भारत से लोप हो गया एवं सर्वत्र राजतंत्र का विस्तार हुआ।

गणतंत्रों की प्रशासनिक व्यवस्था : गणराज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था के बारे में विभिन्न स्रोतों से जानकारी मिलती है। जो निम्न प्रकार से है–

1. प्रशासन तंत्र में राजा, उपराजा, सेनापति, भंडागारिक आदि अधिकारी सम्मिलित थे।

टिप्पणी

2. गणतंत्रों की शासन व्यवस्था सभा अथवा परिषद के माध्यम से संचालित होती थी।
3. गणराज्य की वास्तविक शक्ति केंद्रीय समिति में निहित थी। इन समितियों की संख्या अधिक होती थी। शाक्य संघ की सभा में 500 सदस्य थे। जिसे महावस्तु में 'शाक्य परिषद' कहा है।
4. गणराज्यों के सफल संचालन के लिए मंत्रिमंडल का गठन होता था।
5. विदेशी तथा आंतरिक मामलों की देखरेख के लिए महासमिति होती थी।
6. न्याय की प्रक्रिया अत्यंत आदर्श थी तथा सभी पक्षों पर विचार कर ही न्याय का निर्णय किया जाता था।
7. अंगुत्तर निकाय में अनेक पदाधिकारियों का उल्लेख है।
8. राजा सर्वोच्च था जो जनता की रक्षा और उसकी स्वतंत्रता के कर्तव्य का निर्वाहन करता था।

गणतंत्रात्मक शासन प्रणाली के लाभ व हानियां

प्राचीन साहित्य में गणराज्य प्रणाली के लाभ व हानियों का उल्लेख है। यूनानी लेखकों ने हिंदू–गणराज्यों की कानून प्रणाली और न्याय प्रणाली की प्रशंसा की है। वाल्मीकि रामायण में तत्कालीन गणराज्यों के गुणों का वर्णन है। इनमें सामूहिक नेतृत्व, सैन्य संचालन, पारस्परिक सहयोग, अनुशासन, आर्थिक समृद्धि आदि उल्लेखनीय हैं। महाभारत के शांतिपर्व में वर्णित 107 गणराज्यों के गुणों की व्याख्या भीष्म ने की है। जिनमें पारस्परिक प्रेम, सद्भावना, संविधान, न्याय व्यवस्था, कृषि व्यापार और उद्योगों की प्रगति के साथ–साथ संघबद्ध जीवन इनका वैशिष्ट्य रहा है।

गणराज्यों में अनेक कमियां थी। इनका क्षेत्र कम था एवं इनमें उचित साधनों का अभाव था। बड़े राज्यों के कारण इनका अस्तित्व सदैव खतरे में रहता था। गणराज्यों में षड्यंत्रों का भी खतरा रहता था। बहुमत के कारण विचारों में मतैक्य नहीं हो पाता था। इसका एक प्रमुख दोष यह भी था कि शासन तंत्र में कुलीन वर्ग की भागीदारी अधिक थी जिसमें समाज का निम्न वर्ग इसमें रुचि नहीं रखता था।

पतन : गणराज्यों का अस्तित्व जिन 'अपरिहानिय धम्मो' पर आधारित था, उनका उल्लंघन ही उनके विनाश और पतन का कारण बना। डॉ. जायसवाल का मत है कि "गणराज्यों के लुप्त होने का कारण गुप्त साम्राज्य था।" समुद्रगुप्त ने सिकंदर की तरह देश की स्वतंत्र भावना को कुचल दिया। परंतु डॉ. अलतेकर इस मत को नहीं मानते हैं उनका मानना है कि "गुप्तकाल के पश्चात भी अनेक गणतंत्रों का अस्तित्व था।"

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि शक्तिशाली राज्य तंत्रों के उत्थान ने गणराज्यों के उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। इसका परिणाम गणराज्यों के विनाश के रूप में आता है।

अतः प्राचीन भारत में गणतंत्रीय चिंतन तथा उसके विविध स्वरूपों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि भारत में गणतंत्रीय चेतना प्रारंभ से ही थी। इस भू–भाग

पर निवास करने वाले भरतवंशियों के जीवन में गणतांत्रिक मूल्यों का इतना प्रभाव था कि प्रत्यक्ष रूप से राजतंत्रीय दिखाई देने वाली व्यवस्था व्यवहारतः गणतंत्रीय थी। वैदिक युग के प्रारंभ से ही भारतीय मनीषियों ने प्रजाहित में, लोकहित में, प्रजातंत्रात्मक या लोकतंत्रात्मक प्रणाली का बीजारोपण किया तथा युग धर्म के अनुसार उसके स्वरूप में परिवर्तन भी किया और इसे श्रेष्ठ प्रणाली सिद्ध किया।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. कौटिल्य की रचना है–
   (क) अर्थशास्त्र (ख) अष्टाध्यायी
   (ग) हर्षचरित (घ) मुद्राराक्षस
2. समुद्र गुप्त को भारतीय नेपोलियन किसने कहा है?
   (क) मेगस्थनीज (ख) हेनसांग
   (ग) स्मिथ (घ) अलतेकर
3. 16 महाजनपदों का उल्लेख है–
   (क) दीपवंश में (ख) महावंश में
   (ग) दिव्यावदान में (घ) अंगुत्तर निकाय में
4. अर्थशास्त्र को कितने अध्यायों में बांटा गया है–
   (क) 14 (ख) 18
   (ग) 15 (घ) 20
5. कौटिल्य किसका प्रधानमंत्री था–
   (क) चंद्रगुप्त मौर्य (ख) समुद्रगुप्त
   (ग) अशोक (घ) हर्ष
6. गुलाम वंश का संस्थापक था–
   (क) बलबन (ख) हुमायूं
   (ग) कुतुबुद्दीन ऐबक (घ) इल्तुतमिश
7. 'अकबरनामा' का लेखक था–
   (क) अबुल फजल (ख) गुलबदन बेगम
   (ग) बाबर (घ) हुमायूं
8. चंगेज था–
   (क) तुर्क (ख) अफगान
   (ग) मंगोल (घ) पठान

टिप्पणी

1.3 प्राचीन काल में राजा के अधिकार और कर्तव्य

भारत की प्राचीन परंपरा प्रत्येक क्षेत्र में विकसित थी और इसके विकास का प्रमुख कारण यहां की सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था जिसने भारत को अनेक शक्तिशाली वंश दिये। कालान्तर में अनेक राजनीतिक संस्थाओं का जन्म हुआ। जैसे–जैसे साम्राज्य का विस्तार हुआ राजा के अधिकार और कर्तव्यों की व्याख्या होने लगी। प्रजा और राजा के मध्य पितातुल्य संबंधों का विकास हुआ।

राजा अपने अधिकार (Rights) और कर्तव्यों (Duties) के प्रति निष्ठावान थे। प्रजा अपने स्वामी से पूर्णतः संतुष्ट थी। यह इस बात से पता चलता है कि विश्व का इतिहास राजा और प्रजा के बीच अनेक क्रांति का साक्षी रहा है, परंतु भारत में इस प्रकार की क्रांति के कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं। केंद्रीयकृत प्रशासन ने और योग्य सक्षम राजाओं ने भारत की राजनीतिक संप्रभुता को बनाये रखा। बाहरी आक्रमणकारियों से हमारा देश सदैव सुरक्षित रहा जिसका श्रेय यहां की राजनीतिक व्यवस्था को जाता है।

प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी के स्रोत

इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भांति उपलब्ध सामग्री की समीक्षा करके अतीत का सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसके लिए साहित्यिक साधन, पुरातात्विक साधन और विदेशियों के वर्णन सभी का महत्व है, जिनसे प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी के स्रोत निम्न हैं–

1. **ब्राह्मण साहित्य**– ब्राह्मण साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन वेद हैं जिनसे भारत की राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है। 'ऋग्वैदिक कालीन राजनीतिक व्यवस्था' कबीले पर आधारित थी। इसके प्रमुख को 'राजन' कहा जाता था। राजा का पद आनुवंशिक था, राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी थे। ऋग्वेद में 'दाश राज्ञ' युद्ध की जानकारी मिलती है। इसके पुरुष सूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में कुरु राज्य की समृद्धि का वर्णन है।

ऐतरेय ब्राह्मण में राज्याभिषेक के नियम तथा कुछ प्राचीन अभिषिक्त राजाओं के नाम दिये गए हैं। इसमें राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है– "कुरु नरेश सदैव 64 यौद्धाओं से घिरा रहता था।" मुंडकोपनिषद से भारत का आदर्श राष्ट्रीय वाक्य 'सत्यमेय जयते' लिया गया है।

मनुस्मृति का महत्व अत्यधिक है, इसके सातवें अध्याय में राजा के कर्तव्य, कराधान के सिद्धांत एवं प्राचीन राजनीतिक इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर स्मृति भी प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। महाकाव्यों में रामायण और महाभारत भी महत्वपूर्ण हैं। महाभारत के शांति पर्व में राजधर्म या राजा और सरकार के कर्तव्यों को बताया गया है। राजनीति के विज्ञान के महत्व पर बल दिया गया है। राजा और मंत्रियों के कर्तव्यों का वर्णन है, करों की जानकारी मिलती है। सभा पर्व में प्रशासन के आदर्श को रखा

गया है, 'आदि पर्व' में संकट काल में किस प्रकार लोगों से व्यवहार करना चाहिए इसका वर्णन किया गया है।

रामायण से भी तत्कालीन राजनीति की जानकारी मिलती है। प्राचीन आख्यानों से युक्त ग्रंथों को पुराण कहा गया है। इनमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित ये पांच भाग हैं। ये प्राचीन वंशों की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

टिप्पणी

बौद्ध एवं जैन साहित्य– इन धर्मों के साहित्य में अधिकतर धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा का उल्लेख है। फिर भी ये तात्कालिक राजनीतिक स्थिति की जानकारी के महत्वपूर्ण साधन हैं। बौद्ध ग्रंथ 'विनयपिटक के चुल्लवग्ग' एवं महावग्ग में राजनीतिक विचारों एवं राज्य की शासन व्यवस्था का उल्लेख है। जातक कथाओं में गणतंत्रीय शासन प्रणाली का वर्णन है। दीघनिकाय एवं महावस्तु ग्रंथ में राज्य व्यवस्था की उत्पत्ति का विवरण मिलता है।

जैन ग्रंथों में प्रमुख आगम हैं। इनमें राज्य प्रशासन एवं राजा के कर्तव्यों के संबंध में विवरण मिलता है।

धर्मनिरपेक्ष साहित्य– अर्थशास्त्र भारत का पहला राजनीतिक ग्रंथ है। यह 15 अध्यायों एवं 180 प्रकरणों में विभक्त है। इस ग्रंथ में राज्य के सात अंगों, राजा के प्रशिक्षण, कर्तव्यों और दोषों, अमात्यों और मंत्रियों की नियुक्ति एवं उनके कर्तव्यों, दीवानी और फौजदारी कानूनों का विवेचन है। कौटिल्य प्रथम राजनेता और सिद्धांतवादी थे। उन्होंने भारतवर्ष का अखंड राजनीतिक रूप में दर्शन और संगठन प्रस्तुत किया है।

कामन्दक का नीतिसार गुप्त काल में लिखा गया है। इसमें राजतंत्रात्मक व्यवस्था का वर्णन है। शुक्रनीति का काल निश्चित नहीं है। इसमें राजाओं, मंत्रियों और अन्य अधिकारियों के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को विस्तार से बताया गया है।

विदेशी यात्रियों का वर्णन– विदेशी यात्रियों एवं लेखकों के विवरण से भी हमें भारतीय राजनीति एवं प्रशासन का उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में 14 वर्ष रहा। उसने 'इंडिका' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें राजा की दिनचर्या, कर्मचारियों के कार्य, दायित्व, नगर प्रशासन विशेषकर पाटलिपुत्र नगर के प्रशासन तथा साम्राज्य के सैन्य संगठन का विवरण है। फाह्यान ने चंद्रगुप्त द्वितीय के समय के प्रशासन की स्थिति एवं राजपरिवारों की जानकारी दी है। ह्वेनसांग 16 वर्ष तक भारत में रहा। उसने हर्षवर्धन कालीन शासन का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अलबरुनी, सुलेमान, अलमसूदी के विवरण से भी तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन मिलता है।

पुरातात्विक साधन– पुरातात्विक साधनों में अभिलेख एवं सिक्कों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन अभिलेख ब्राह्मी, खरोष्ठी एवं संस्कृत में मिलते हैं। इस श्रेणी में अशोक के अभिलेख प्रमुख हैं। इन लेखों में राजकीय आदेश एवं उद्घोषणाएं हैं। इसके अतिरिक्त राजा परिषद के संबंध, महापात्रों के अधिकार एवं कर्तव्य, गुप्तचर विभाग, सैन्य व्यवस्था और अशोक के राज्य संबंधी विचारों की सूचना मिलती है। अशोक के प्रथम शिलालेख में वह कहता है–"सभी मनुष्य मेरी संतान की तरह हैं।" तेरहवें शिलालेख से विदेश नीति की जानकारी मिलती है।

टिप्पणी

खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में राज्यारोहण, सैनिक अभियानों तथा नगरीय और ग्रामीण लोगों पर किए गए उसके अनुग्रहों का उल्लेख है। समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में गुप्त काल तथा राजा एवं प्रजा के संबंधों की जानकारी मिलती है। गुप्तकालीन भूमिदान पत्र, सातवाहन कालीन सरकारी अभिलेख, राजस्व एवं प्रशासनिक अधिकारियों एवं उनकी नीतियों की जानकारी प्रदान करते हैं।

मुद्रा व्यवस्था भी राजनीतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। राज्य की स्थिति, राजनीतिक स्थिरता, राजाओं के व्यापारिक जीवन, उनकी राजनीतिक एवं भौगोलिक सीमा का ज्ञान भी मुद्राओं के द्वारा होता है। भारत की सर्वाधिक प्राचीन मुद्रा 'आहत' मुद्रा कहलाती है। कुषाण कालीन सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से राजपद की विशेषता और उसके दैवी पहलुओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

अतः अतीत के अध्ययन में साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत का इतिहास बहुत पुराना है। इस दीर्घकाल का भारतीय साहित्य विशद एवं समृद्ध है जिससे भारत के राजनीतिक स्वरूप को स्पष्ट तौर पर समझा जा सकता है। डॉ. सत्यनारायण दुबे का मत है, "भारतीय इतिहास की जानकारी के साहित्यिक विदेशी यात्रियों तथा लेखकों के विवरण के अतिरिक्त पुरातात्विक साधन सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में किए गए खनन कार्य, अन्वेषण से भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की अमूल्य जानकारी प्राप्त होती है।"

राजा की उत्पत्ति संबंधी प्राचीन अवधारणा

प्राचीन भारत में प्रारंभ से ही सामाजिक व्यवस्था एवं सुरक्षा को बनाए रखने के लिए राज्य की आवश्यकता को समझा गया था। ऐसी अवधारणा थी कि यदि राज्य अपराधियों को दंड नहीं देता है तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। महाभारत में राजा के लिए कहा गया है, "यदि दंडधारक राजा पृथ्वी पर न हो तो सब निर्बल का भक्षण उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछली का भक्षण करती है।"

इस प्रकार प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सुशासन के लिए राज्य एवं राजा के अस्तित्व को अपरिहार्य माना है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है–"देवासुर संग्राम में देवता बारम्बार पराजित होते गए तब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि राजा के अभाव में उनकी पराजय हो रही है।"

अतः उन्होंने सोम को अपना राजा बनाकर उसके नेतृत्व में विजय प्राप्त की। इसके पश्चात सभी देवताओं ने मिलकर इंद्र को अपना राजा बनाया।

पृथ्वी में अराजकता की स्थिति उत्पन्न न हो इसलिए 'ब्रह्मा' ने 'मनु' को राजा बनाया एवं धर्मशास्त्र भी बनाया। उसी के अनुसार शासन चलाने का आदेश दिया। 'दीघनिकाय' में महाजनसम्मत को राजा बनाए जाने का उल्लेख मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को राजा बनाया गया एवं उन्होंने अधिकारियों की नियुक्ति की। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजा के दैवी उत्पत्ति सिद्धांत का उल्लेख है।

महावस्तु, बौद्ध ग्रंथ में आपसी समझौते से राजा के चुनाव का विवरण मिलता है। डॉ. जायसवाल का मत है कि जनसमूह सर्वसम्मति से राजा को चुनते थे। रुद्रदामन

के जूनागढ़ शिलालेख में राजा के निर्वाचन की जानकारी मिलती है। हर्षवर्धन को राजा के पद के लिए निर्वाचित किया गया था।

इस प्रकार प्राचीन साहित्य में राजा की उत्पत्ति संबंधी अनेक अवधारणाएं प्रचलित थी। सभी एक मत से इस बात का समर्थन करते हैं कि इस संसार में अराजकता की स्थिति उत्पन्न न हो इसलिए समाज के संचालन के लिए योग्य नेतृत्व का चयन होना चाहिए। जनसामान्य ने भी इस धारणा को स्वीकार किया और सर्वसम्मति से उसे अपना स्वामी स्वीकार कर लिया। कालान्तर में इसी प्रक्रिया में राजा के अधिकार एवं कर्तव्य के सिद्धांत की शुरुआत हुई।

टिप्पणी

1.3.1 राजा के अधिकार

प्राचीन भारतीय सभ्यता छोटे–छोटे कबीलों या ग्रामों में विभक्त थी जहां सदस्य एक परिवार के रूप में संगठित रूप से रहते थे। इन कबीलों का सर्वमान्य नेता होता था जिसके निर्णयों का सभी आदर करते थे। ऋग्वेद में कई ग्रामों का समूह 'विश' कहलाता था जिसका प्रमुख 'विशपति' था। कई 'विश' मिलकर 'जन' का निर्माण करते थे। 'जन' के अध्यक्ष को जनपति अथवा राजा कहा जाता था। आर.एस. शर्मा का मत है–"राज्य संस्था की उत्पत्ति के पीछे निजी संपत्ति, परिवार तथा वर्ण या जाति का मुख्य हाथ रहा है। 'वायुपुराण' में पृथक शासक के रूप में मनु को अधिकृत किया गया था।

कालक्रम के अनुरूप संगठन में परिवर्तन हुआ और सरदार की शक्तियों में वृद्धि हुई। इसके अधिकार क्षेत्र में राज्य के सभी विषय सम्मिलित हो गए। ग्राम क्रमशः विकसित राज्य के रूप में परिणत हो गए। राजा को अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाहन एवं राजनीतिक, सामाजिक कर्तव्यों की पूर्णता हेतु धन की आवश्यकता हुई तो राजस्व प्रणाली का विस्तार हुआ।

इस प्रकार राजा के अधिकार क्षेत्र में वृद्धि होने लगी। कबीले के सरदार राजा के रूप में प्रतिष्ठित होने लगे। धीरे–धीरे राजाओं की महत्वाकांक्षाओं का विस्तार हुआ और युद्ध प्रणाली की शुरुआत हुई। यह शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक और गणतंत्रात्मक व्यवस्था में परिणत हुई। छठवीं शताब्दी ई.पू. तक 16 महाजनपद अस्तित्व में आए और काशी, कौशल, मगध जैसे बड़े राजतंत्रों की स्थापना हुई। मौर्य काल तक आते–आते राजा संवैधानिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक शक्तियों का स्वामी बन गया। इसके पश्चात भी राजा निरंकुश नहीं थे।

गुप्त काल में राजा को 'देवतातुल्य' समझा जाने लगा। लेकिन वह धर्मशास्त्रों के अनुसार शासन चलाने के लिए बाध्य था। पूर्व मध्यकाल में राजा का सामंतीय स्वरूप देखने को मिलता है। क्रमशः राजा के अधिकार क्षेत्र में कमी आती गई।

राजा के अधिकार निम्नलिखित हैं–

1. **पितृतुल्य शासक**– राजा प्रजा के लिए पिता की तरह था। वह शासन के प्रति आदर की भावना का पोषक था। अशोक ने अपने पृथक शिलालेख में उल्लेख किया है कि "सभी मनुष्य मेरी संतान (प्रजा) है जिस प्रकार मैं अपनी संतान के लिए इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण की कामना करता हूं उसी प्रकार अपनी प्रजा के लिए भी।"

टिप्पणी

2. **राजा सर्वोच्च सत्ता के रूप में**– राजा समस्त विभागों का प्रमुख होता था। कोषागार, प्रशासन, खान, नगर सीमा, शुल्क राजस्व, न्याय व्यवस्था आदि का स्वामी होने के कारण उसे असीमित अधिकार प्राप्त थे। उसे राज्य की रक्षा एवं विकास के लिए युद्ध करने एवं विभिन्न अवसरों पर संधियां संपादित करने का अधिकार था।

3. **राज्य की सम्प्रभुता की सुरक्षा का अधिकार**– कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा की शक्ति अथवा स्थिति से भी यह स्पष्ट होता है कि संपूर्ण शासन व्यवस्था राजा के आस–पास घूमती थी। वह प्रभुसत्ता का नैतिक व कानूनी रूप था। वह कार्यपालिका, न्यायपालिका व सेना का अध्यक्ष था। वह विदेशी मामलों का शीर्ष संरक्षक होता था। राज्य की सम्प्रभुता की रक्षा का अधिकार उसके पास था।

4. **न्यायिक अधिकार**– राजा कार्यपालिका का अध्यक्ष होता था। उसके हाथ में वास्तविक सत्ता होती थी। वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मनुस्मृति में राजा के न्यायिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का विस्तृत विवरण मिलता है। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। कौटित्य ने राजा को न्यायपालिका का अध्यक्ष कहा है परंतु वह कानून का स्रोत नहीं था।

5. **युद्ध का संचालन करना**– राज्य एवं प्रजा की सुरक्षा करना राजा के अधिकार क्षेत्र में था। उसे बाह्य आक्रमणों तथा आंतरिक विपत्तियों से सुरक्षा करनी होती थी। मत्स्यन्यास से प्रजा की रक्षा हेतु ही राजा की उत्पत्ति हुई थी। मनु ने कहा है जो राजा उचित रूप में अपनी प्रजा की रक्षा करता है वह उनके पुण्य का छठा भाग पाता है।

6. **आर्थिक अधिकार**– राजा के आर्थिक अधिकार महत्वपूर्ण थे। धन के वितरण तथा उसकी रक्षा से राजा का गहरा संबंध था। मनु के अनुसार राजा करों व महसूलों की दर नियत करता था। कौटित्य के अनुसार इस क्षेत्र में राजा की शक्तियां विस्तृत थी। वह प्रतिदिन आय–व्यय का ब्यौरा देखता था। मनु के अनुसार राजा समस्त मंत्रियों तथा उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता था। राजा प्रजा से उपज का छठा भाग कर के रूप में ले सकता था।

अतः मानव समाज के विकास की प्रक्रिया में राजनीतिक संस्था के संचालन हेतु एक नेतृत्व की आवश्यकता ने राजा के पद को जन्म दिया। वह प्राचीन राजनीतिक विचारधारा में राज्य, नियम पालन, न्याय व्यवस्था, सुरक्षा तथा कल्याण की परंपराओं का श्रेष्ठ प्रतिनिधि था। वह देवांश का प्रतिरूप था। उसके पास असीमित अधिकार थे। इसके बावजूद भी उसके निरंकुश होने के कहीं भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते हैं। इसका प्रमुख कारण था वह कर्तव्यनिष्ठ एवं धर्मपरायण होता था। प्रजा के पास भी अधिकार होते थे जिससे वह राजा को सही मार्गदर्शन हेतु प्रेरित कर सके। अथर्ववेद में लिखा है–"यह जनता का राजा दृढ़ रहे, स्वर्ग की भांति दृढ़, पृथ्वी की भांति दृढ़, सृष्टि की भांति दृढ़ और पहाड़ों की भांति दृढ़ रहे।"

1.3.2 राजा के कर्तव्य

प्राचीन काल से राज्य एक आवश्यक इकाई रहा है। राजकाज चलाने के लिए सर्वगुण सम्पन्न राज्याभिषिक्त ऐसे राजा की आवश्यकता रही जो राज्य की समस्त गतिविधियों

टिप्पणी

को संचालित करता था। राज्य के प्रति उसके कुछ अधिकार एवं कर्तव्य थे। रामायण एवं महाभारत में राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है, महाभारत के अनुसार राज्य एक महान भार है, उसे सम्भालने हेतु एक कुशल वाहक आवश्यक है। उसमें शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक गुण आवश्यक हैं। भीष्म ने शांति पर्व में राजा के कर्तव्यों को लोकरंजन कहकर पुकारा है।

महाभारत के अनुसार राजा के कर्तव्य

महाभारत के अनुसार राजा के निम्न कर्तव्य हैं–

1. राजा का प्रथम कर्तव्य है आत्मविजय प्राप्त करना।
2. शांति पर्व के अनुसार प्राणीमात्र की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्तव्य है।
3. कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करना।
4. ऐसी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना जिससे किसी भी व्यक्ति की प्रगति अर्थ के अभाव से अवरुद्ध न हो। प्रत्येक नागरिक की आर्थिक स्थिति ऐसी होनी चाहिए जिससे कि वह कम से कम अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।
5. सार्वजनिक उत्सव की व्यवस्था करना, जीर्ण, प्राचीन भवन व स्मारकों की मरम्मत, देव मंदिर निर्माण जलाशय कूप जीर्णोद्धार एवं नव निर्माण करवाना।
6. मादक द्रव्यों का विक्रय और वेश्यावृत्ति के निरोध का प्रयास करे। राजा से यह भी कहा गया है कि वह मांस मद्य वेश्या और व्यवसायों पर नियंत्रण रखे।
7. रामायण में भी राजा के कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

अन्य स्रोतों में राजा के कर्तव्य

1. राजा का मुख्य कर्तव्य शांति व्यवस्था की स्थापना करना, लोगों की सुरक्षा एवं उचित न्याय प्रदान करना। धर्म तथा नैतिकता की स्थापना करना।
2. दुर्जनों को दंड देना, सज्जनों को पुरस्कृत करना, प्रजा का भौतिक एवं नैतिक उत्थान करना।
3. वेदों तथा उपनिषदों के अनुसार राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा का सर्वांगीण विकास करना।
4. धर्म, अर्थ, काम का संवर्धन करना।
5. सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों का सम्मान करना एवं उनके विकास में सहायता प्रदान करना।
6. कृषि पशुपालन वाणिज्य का विकास करना।
7. अग्निपुराण में कहा गया है कि "जो राजा अपनी प्रजा की भली भांति रक्षा नहीं करता उसकी यज्ञ तपस्या निष्फल है। किंतु जिसकी प्रजा भली प्रकार से सुरक्षित होती है उसका अपना घर ही स्वर्ग के समान है।"
8. मनुस्मृति में भी प्रजापालन को राजा का श्रेष्ठ धर्म बताया गया है।
9. वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना एक प्रमुख कर्तव्य था।

टिप्पणी

10. संसार धर्म पर आधारित है तथा धर्म राजा पर इसलिए याज्ञवल्क्य श्रोत और स्मृति क्रियाओं के अनुष्ठान हेतु ऋत्विजों का वरण तथा यज्ञों का अनुष्ठान राजा हेतु आवश्यक था। नारद के अनुसार जो राजा यज्ञ कराता है वह इंद्रलोक जाता है।

अतः प्रस्तुत विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन राजशास्त्रियों ने राज्य के कार्य क्षेत्र की परिधि में मानव जीवन के सभी पक्षों को समेट लिया था। प्राचीन काल के समस्त राजाओं ने, मौर्य वंश, गुप्त वंश, वर्धन वंश ने प्रायः उन सभी कार्यों को पूरा किया जिनका विधान ग्रंथों में किया गया है।

छठवीं शताब्दी के राजतंत्र मौर्य काल तक अधिक विस्तृत हो गए। राजा के अधिकारों एवं कर्तव्यों का विकास हुआ। अशोक ने राजा के कर्तव्यों का नया आदर्श रूप प्रस्तुत किया जो आज भी प्रासंगिक है।

राजा की शक्तियों पर नियंत्रण– राजा के अधिकार एवं कर्तव्य असीमित थे। वह कहीं निरंकुश न हो इसके लिए धर्मशास्त्रों ने उस पर नियंत्रण हेतु कुछ नियमावली और संस्थाओं का निर्माण किया जो समय–समय पर राजा का मार्गदर्शन करती रहें जिससे वह प्रजा हित से विमुख न हो और अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठावान रहे।

1. हिंदू राजा–निरंकुश नहीं थे और उनकी शक्तियों पर अवरोध थे। वैदिक युग में समिति राजा को मनमानी करने से रोकती थी।
2. शतपथ ब्राह्मण में 12 रत्नियों का उल्लेख है जिनके घर जाकर राजा भेंट करता था।
3. धार्मिक और आध्यात्मिक कर्तव्य राजा पर नियंत्रण रखते थे।
4. अपने देश के प्रति उसे कर्तव्यनिष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी।
5. राजाओं को पदच्युत करने का अधिकार जनता के पास होता था। संस्कृत साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है।
6. राजा की मंत्रिपरिषद उसको नियंत्रित करती थी।
7. प्राचीन भारत में राज्य पर ऋषि मुनियों का प्रभाव था जो राजा को नैतिक सिद्धांत पर कार्य करने को प्रेरित करते थे।
8. जनमत का भी राजा पर प्रभाव था और वह उसके विरुद्ध कार्य करने का साहस नहीं कर सकता था। "राम को जन–आलोचना के डर के कारण ही अपनी पत्नी को वन में भेजना पड़ा।"

राजा को सहयोग करने वाली संस्थाएं

राजा को सहयोग करने वाली संस्थाएं निम्नलिखित हैं–

1. **सभा और समिति**– वैदिक युगीन राजनीतिक व्यवस्था के विकास का एक अन्य प्रमाण सभा और समिति नाम की जन परिषदों के अस्तित्व से मिलता है जो शासन का अनिवार्य अंग थी। ऋग्वेद में सभा शब्द का 'आठ' बार तथा समिति का 'छह' बार उल्लेख है। सभा का शाब्दिक अर्थ है– 'चमकना'। इस अर्थ में सभा वह है जो चमकती है अर्थात् इस संस्था के सदस्य प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे। इसे गयो और पासे के खेल की तरह के सार्वजनिक मामलों पर विचार

टिप्पणी

करने वाली सभा बताया गया है। सभा के प्रमुख व्यक्ति को 'सभ्य' कहा जाता है। यह वृद्धों या सरदारों की परिषद थी। जायसवाल का मत है कि सभा का जन्म ऋग्वेद के अंतिम काल में माना जा सकता है और इसका कार्य समिति के साथ ही एक स्थान या समय में व्यापक था। सभा राष्ट्रीय न्यायालय के न्याय में काम करती थी। इसे 'मुसीबत' या 'प्रचण्ड' कहा जाता था। इसमें स्त्रियां भी भाग लेती थी।

2. **सभा की कार्यप्रणाली**– सभा में धार्मिक, राजनीतिक विचार–विमर्श भी किया जाता था। तत्कालीन राष्ट्रों में सभा का विकसित रूप परिलक्षित होता है। ऋग्वेद के कथन से यह स्पष्ट होता है–"तुम अपने घर को भद्र बनाओ तुम्हारी वाणी भद्र हो और तुम चिरकाल तक सभा में रहो।" सभा के लिए 'किलिवाव–स्पृत' शब्द दिया है जिसका अर्थ "पाप या अपराध का परिमार्जन करने वाली न्यायिक संस्था होने के कारण न्याय करते समय पक्षपात या अन्याय की संभावना रहती है इसलिए यजुर्वेद में मंत्र द्वारा सभा में किए गए पाप से मुक्ति की प्रार्थना की गई। ऋग्वेद में बताया गया है कि सभा की वार्ता का विषय गाय और उनकी उपयोगिता है।"

   सभा स्थल को 'सभागार' कहा जाता था। संस्थागारों में गोष्ठियों का आयोजन होता था जिनमें सामाजिक एवं धार्मिक विषयों पर चर्चा होती थी। गणप्रमुख अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में सभा की कार्यवाही का संचालन व नियंत्रण करते थे। सभा में किसी भी विषय से संबंधित प्रस्ताव पहले औपचारिक रूप से होता था फिर उस पर वाद–विवाद होता था। सभी को प्रस्ताव पर बोलने व अपना मत प्रकट करने का समान अधिकार था। सभा के सदस्यों की योग्यता के संबंध में वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इस संबंध में महाभारत में कहा गया द्रोपदी का कथन है कि "वह सभा नहीं, जहां वृद्ध न हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्म के वचन न बोलें, वह धर्म नहीं जो सत्य पर आधारित न हो और वह सत्य नहीं जिसके साथ धोखे का मिश्रण हो।"

   इस प्रकार प्राचीन काल में राजा के सहयोग के लिए 'सभा' संस्था थी।

2. **समिति**– समिति वैदिक लोगों की सबसे बड़ी संस्था थी। सम+इति का अर्थ है एकत्र होना अर्थात् समिति में संपूर्ण 'विश' के लोग एकत्र होते थे। यह एक केंद्रीय राजनीतिक संस्था थी। इसमें राजा एवं प्रजा की भागीदारी होती थी। ऋग्वेद में राजा को समिति में सम्मिलित होने के लिए निर्देश दिया गया है। राजा और समिति में नीति, लाभ, विचार और प्रयासों की एकता के लिए प्रार्थना की गई है। जायसवाल का कहना है कि समिति संपूर्ण जनता की राष्ट्रीय सभा थी। ऋग्वेद में उल्लेख है कि संपूर्ण जनता या उसके स्थान पर समिति राजा का निर्वाचन करती थी। उत्तर वैदिक काल में यह एक महत्वपूर्ण संस्था थी। 'कार्य के अनुसार' समिति वह संस्था थी जो जन के कार्य और आवश्यकताएं संपादित करती थी। समिति के प्रत्येक सदस्य को अपना विचार प्रकट करने की अनुमति थी। उसमें ग्रामीण, सूतकार, कम्मी और रथकार सम्मिलित थे। समिति का अस्तित्व में रहने का प्रमाण स्वयं ऋग्वेद, अथर्ववेद और छांदोग्य उपनिषद में पाया जाता है। समिति जातकों के समय 600 ई.पू. से पहले समाप्त हो गई।

टिप्पणी

समिति के निर्वाचन में सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रणाली से होता था। कभी–कभी सदस्य मत संग्रह करने वालों के कान में अपना मत प्रकट करते थे जिसे 'संकर्णष्क' मतदान कहते थे। बौद्ध संघों में प्रचलित मतदान पद्धति से यह ज्ञात होता है कि मतदान के पूर्व प्रत्येक सदस्य को पूर्व संकेत के अनुसार अलग–अलग रंग की शलाकाएं (मत पत्र) विभिन्न मतों की अभिव्यक्ति के लिए दी जाती थी जो 'शलाका ग्राहक' एकत्र करता था। ये एक विकसित प्रजातांत्रिक लक्षणों की ओर संकेत करते हैं।

3. **सभा समिति के संदर्भ में विद्वानों के विचार**– सभा एवं समिति के संदर्भ में विद्वानों के अलग–अलग मत हैं। जनता उन्हें पुरातन पुरुष की दैवी संस्था मानती थी। डॉ. जायसवाल का मत है कि सभा का रूप समिति से सम्बद्ध था किंतु जो सामग्री प्राप्त हुई है उससे निश्चित संबंध निर्धारित नहीं किया जा सकता। लुडविग की मान्यता है कि सभा उच्च सदन की तरह थी जिसमें पुरोहितों और धनिकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। जिमर का मत है कि सभा ग्राम्य सभा थी और समिति संपूर्ण जनता की केंद्रीय सभा थी। हिले ब्रांडित का मत है कि सभा और समिति एक ही संस्था थी। डॉ. कीथ का भी यही विचार है। प्रो. आप्टे की मान्यता है कि सभा और समिति में अंतर कर पाना कठिन होने पर भी हम अस्थायी रूप से किसी निश्चित परिणाम पर पहुंच सकते हैं। डॉ. अलतेकर हिले ब्राडित और डा. कीथ के मत को अस्वीकार करता है और बताता है कि सभा और समिति निश्चित रूप से अलग–अलग संस्थाएं थी। अथर्ववेद के एक सूत्र में सभा और समिति को प्रजापति की दो कन्या कहा है। अलतेकर का मत है कि सभा प्राथमिक रूप से ग्राम की सामाजिक संस्था थी, किंतु कुछ क्षेत्रों या राज्यों में सभा राजा से सम्बद्ध थी जो सामाजिक संस्था कम और राजनीतिक अधिक थी।

इस प्रकार दोनों ही संस्थाओं का स्वरूप जैसा भी था दोनों ही संस्थाएं तत्कालीन राजनीतिक सत्ता का महत्वपूर्ण आधार थी। प्राचीन कालीन प्रजातंत्र व्यवस्था इसका सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत करती है। भारतीय साहित्य को पुनरावलोकन की अत्यंत आवश्यकता है। गणतंत्रीय शासन व्यवस्था का जनक अमेरिका नहीं बल्कि भारत है। इस दृष्टिकोण को विश्व स्तर पर पहुंचाने की आवश्यकता है।

विदथ– वैदिक काल में सभा–समितियों के साथ ही एक अन्य संस्था विदथ का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में विदथ का उल्लेख एक सौ बाईस बार हुआ है। इसी प्रकार से अन्य ग्रंथों यथा– अथर्ववेद, वाजसनेयी, संहिता, ब्राह्मण ग्रंथों में भी विदथ शब्द का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

विदथ मूलधातु 'विद' से निकला है। 'विद' का अर्थ जानना, करना, धारण करना, विचार करना है। सभा और समिति से भिन्न एक संस्था थी जिसमें महिलाएं भी शामिल होती थी एवं वे इसमें विचार विमर्श भी करती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण से जानकारी मिलती है कि उत्तर वैदिक काल तक इसमें महिलाएं शामिल होती थी। जॉन स्पैलमैन के अनुसार 'विदथ' का संबंध युद्ध से था। आर.एस. शर्मा का मानना है कि विदथ में युद्धों के उपरांत जीती हुई संपत्ति को बांटने का कार्य होता है। इंद्र को विदथ की शक्ति कहा

टिप्पणी

है। पूषन को विदथ का वीर माना है। अग्नि के महत्व को बताया गया है और उसे पुरोहित के रूप में उल्लेखित किया गया है।

इंद्र से प्रार्थना की गई है कि हम सुवीरों के साथ विदथ में जोर से बोलें। इसमें मंत्रों का पाठ, गाने, बजाने, मदिरापान करने तथा खेल आदि का आयोजन होता था। इसमें योषा, सूर्या नाम की स्त्रियों के भाग लेने का उल्लेख ऋग्वेद में है।

विदथ के संदर्भ में विद्वानों ने कई प्रकार के मत व्यक्त किए हैं। अधिकांश विद्वानों ने विदथ को जनसभा कहा है। झिम्मर का विचार है कि संभवतः विदथ समिति का ही एक छोटा निकाय रहा होगा। रामशरण शर्मा ने विदथ को सभा और समिति का पूर्वगामी माना है। लुडविग ने विदथ को ब्राह्मणों की सभा माना है। डॉ. घोषाल ने विदथ के लक्षणों को निश्चित रूप नहीं दिया है।

उत्तरवैदिक काल में विदथ में स्त्रियों का महत्व कम हो गया, परंतु पूर्णतः महत्व कम नहीं हुआ। बारह रत्नियों में इनका स्थान बना रहा।

संक्षेप में यह वैदिक सभ्यता की एक सामूहिक संस्था थी जिसमें स्त्री एवं पुरुष एक साथ विदथ की गतिविधियों में शामिल होकर वार्तालाप करते थे और समस्त कार्यों को संपादित करते थे। यह एक सहकारिता की भावना को व्यक्त करने वाली संस्था के रूप में प्रदर्शित होती है। वर्तमान में सत्र को अपनी स्वतंत्रता एवं अस्तित्व के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ रहे हैं। इसके विपरीत हमारी वैदिक सभ्यता ने सत्र स्वतंत्रता के नये मायने प्रस्तुत किए हैं। क्यों न फिर एक प्रयास की शुरुआत की जाए, जहां हर सत्र अपने अधिकारों को सुरक्षित महसूस कर सके।

अपनी प्रगति जांचिए

9. 'दाशराज्ञ' युद्ध की जानकारी किस स्रोत में उपलब्ध है?

(क) ऋग्वेद (ख) उपनिषद

(ग) पुराण (घ) महाकाव्य

10. राजा की उत्पत्ति का सिद्धांत प्राचीन काल के किस स्रोत से मिलता है?

(क) शतपथ ब्राह्मण (ख) ऐतरेय ब्राह्मण

(ग) गोपथ ब्राह्मण (घ) पंचविंश ब्राह्मण

11. राज्य के 'सप्तांग सिद्धांत' वर्णित हैं–

(क) मुद्राराक्षस (ख) हर्षचरित

(ग) अष्टाध्यायी (घ) अर्थशास्त्र

12. ऋग्वेद में सभा का कितनी बार उल्लेख है–

(क) 6 (ख) 8

(ग) 7 (घ) 9

टिप्पणी

1.4 राजनीतिक प्रभुसत्ता की वैधता

प्रारंभिक कबीलाई व्यवस्था से सत्ता जब राजतंत्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में स्थापित हुई तब राजाओं को उत्तराधिकार के रूप में राज्य सत्ता प्राप्त हुई। अपनी राज्य सत्ता को शक्तिशाली स्वरूप देने के लिए वैधता के अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया जिसमें सबसे सशक्त वैधता (Legitimacy) का सिद्धांत राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत था।

ऋग्वेद में 'पुरुकुटस' को अर्द्ध देव बताया गया है। अथर्ववेद में राजा परीक्षित को मानवों में देवता बताया है। यह माना जाता था कि राजाओं की विजय का कारण विभिन्न देवताओं का आशीर्वाद था। राजतिलक के अवसर पर अग्नि, बृहस्पति और सविता राजा के शरीर में प्रवेश करते थे। वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ देवताओं के समान स्थिति प्राप्त करने में समर्थ बनाते थे। पुराणों और स्मृतियों में राजा को देवता बताया गया है।

राजा देश में धर्म का रक्षक था उसे राजतिलक के समय शपथ लेनी पड़ती थी कि वह अपनी संपूर्ण योग्यता लगा कर धर्म की रक्षा करेगा। राजा से आशा की जाती थी कि वह सज्जनता और त्याग का आदर्श उपस्थित करेगा क्योंकि जनता उसकी नकल कर सकती थी। यह बताया जाता है–"जब राजा अन्यायी हो जाता है तो गुड़ और नमक का स्वाद भी चला जाता है।"

राजनीतिक प्रभुसत्ता की वैधता के लिए राजतिलक समारोह होते थे। समारोह का नाम राजसूय था। इसके बारे में ब्राह्मणों में वर्णन किया गया है। राजा इन रत्नों के घर जाकर भेंट करता था। इसमें शामिल रत्नियों में सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामीण क्षत्री, संग्रहिणी, भागदुध, अक्षवप, गोविकत्री, पलागल प्रमुख थे। यह समारोह रत्नों के घर पर उनकी निष्ठा और विश्वास प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता था। राजा का राज्याभिषेक कर उसे सत्ता पर बिठाया जाता था।

राजत्व की निर्वाचन पद्धति वाली प्रक्रिया से यह ज्ञात होता है कि इस विचारधारा में राजा को एक संरक्षक के रूप में माना गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में सिंहासनारोहण समारोह में सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में राजा को एक संरक्षक के रूप में माना गया है। मैत्रायणी उपनिषद में राजा वृहद्रथ का अपने पुत्र को राज्य देकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर संन्यास लेकर जंगल में साधु की भांति रहने का उल्लेख है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक काल में उस समय की जनप्रतिनिधि सभाएं राजा पर अंकुश रखती थी इनके नाम सभा और समिति थे। प्राचीन साहित्य में अनेक स्थानों पर राजा पर नियंत्रण रखने का उल्लेख मिलता है। इसका प्रमुख कारण राजा की शक्ति पर कोई संवैधानिक प्रभुत्व नहीं था, परंतु वास्तव में उस पर कई अंकुश विद्यमान थे। राजा का कर्तव्य एक कानून के संरक्षक के रूप में नहीं वरन एक सुरक्षा प्रदान करने वाले अधिकारी के रूप में था।

कौटिल्य ने राज्य के सप्तांग सिद्धांत में स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र की चर्चा की है। इन सातों में राजा सर्व शक्तिशाली है। वह सभी गुणों से

टिप्पणी

संपन्न योग्य और शक्तिशाली योद्धा है। वह राज्य की प्रभुता का सबसे महत्वपूर्ण घटक है। इन सात अंगों का उल्लेख मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णु स्मृति आदि में भी मिलता है। राजा के लिए 'स्वामी' शब्द का उल्लेख किया गया है जिसका अर्थ है राज्य पर राजा का पूर्ण स्वत्व होना।

मौर्योत्तर काल में भारत में केंद्रीकृत सुदृढ़ शासन व्यवस्था की स्थापना हुई। सत्ता पूर्णतः राजा में समाहित हो गई। वह कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका का सर्वोच्च हो गया। राजा समस्त सरकारी कार्यों का स्रोत था। सेना और खजाना उसके अधिकार में थे। वह मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करता था परंतु उसको मानने के लिए बाध्य नहीं था। मौर्य राजा कौटिल्य की इस सलाह पर कार्य करते थे–"प्रजा की प्रसन्नता में राजा की प्रसन्नता है, उसको प्रजा की भलाई में खुश होना चाहिए।"

शुग काल में अश्वमेध एवं राजसूय यज्ञ की परंपरा यह दर्शाती है कि इस काल में राजा के पद के महत्व को दर्शाने की आवश्यकता थी। मौर्योत्तर काल में बाह्य आक्रमणों ने सामंतशाही व्यवस्था की शुरुआत की। सातवाहन शासकों की परंपरा मात्र प्रधान थी परंतु अप्रत्यक्ष में राजा का ही महत्व था। वे धर्मशास्त्रों के आधार पर शासन करते थे। राजतंत्र पुत्रों में वंशानुगत था। सातवाहन राजाओं ने केवल 'राजा उपाधि' को ही ग्रहण किया। वे राजाओं के दैवी अधिकार में विश्वास नहीं रखते थे। वे किसी निरंकुश अधिकार का दावा नहीं करते थे। धर्मशास्त्रों के नियमों से वे स्वयं भी बद्ध थे और देश के रीतिरिवाज उन पर भी लागू होते थे।

गुप्त काल में राजाओं के देवत्व का सिद्धांत लोकप्रिय था। समुद्रगुप्त को देवता कहा गया है जो पृथ्वी पर रहने के लिए आया है। उनकी उपाधियां परमदेवता, परमभट्टारक, पृथ्वीपाल, परमेश्वर आदि थी। उन्हें अधिक शक्तियां प्राप्त थी जैसे– राजनीतिक, प्रशासकीय, सैनिक तथा न्यायिक क्षेत्रों में।

हर्षवर्धन के समय राजा के निर्वाचन का प्रमाण मिलता है। 'हर्षचरित' में लिखा है, "चूंकि राजा स्वर्गवासी हो गया है और सर्प के डंक से राज्यवर्धन दिवशत हो गये, इस कठिनाई में आप ही शेष बचे हैं। जो पृथ्वी को सहारा दे सकते हैं।" सातवीं शताब्दी तक राजा के देवत्व के स्वरूप का वर्णन होता रहा है।

वर्धन वंश के पतन के पश्चात् भारत में केंद्रीय सत्ता का अभाव हो गया। अनेक क्षत्रिय शक्तियों का उदय हुआ। राजा के देवत्व रूप की समाप्ति और निरंकुश रूप में वृद्धि हुई, राजा अब स्वेच्छाचारी हो गया। राज्य दरबार में चाटूकारों की वृद्धि होने लगी एवं सभा–समिति जैसी संस्थाएं लुप्तप्रायः हो गई। कालान्तर में राजा का सही मार्गदर्शन करने वाले तत्व समाप्त होते चले गए। राजा का प्राचीनकालीन देवत्व स्वरूप नष्ट प्रायः हो गया और मुस्लिम आक्रमणकारियों ने उसे पूर्णतः समाप्त कर दिया। भारतीय पारंपरिक राजनीतिक प्रभुसत्ता की समाप्ति हो गई।

इतिहास का अस्तित्व तत्कालीन विचारधाराओं पर निर्भर होता है। मनन, चिंतन, विचार एवं अभिव्यक्ति से ही मनुष्य की पहचान होती है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने राजनीतिक विभिन्न पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन वाक्यमय साहित्य राजत्व संबंधी विचारों से पटापेक्ष है। यह बात अवश्य सत्य के समीप है कि धर्म राजनीति का नैतिक आधार रहा है।

टिप्पणी

भारत में प्रशासन तंत्र के प्रमाण सैंधव सभ्यता से मिलने लगते हैं। यह बात अवश्य है कि लिखित साक्ष्य के प्रमाण अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं जिससे प्रशासनिक व्यवस्था की प्रमाणिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती है। परंतु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि इतनी सुव्यवस्थित नगरीय शासन व्यवस्था का आधार मजबूत राजनीतिक प्रणाली रही होगी। इसके पश्चात वैदिक समय तक राजनीतिक अवधारणा का जन्म हो चुका था, जिसे मजबूत आधार छठी शताब्दी ई.पू. तक मिल चुका था। अनेक राजतंत्र एवं गणतंत्र की उत्पत्ति ने राजनीति में कूटनीति का समावेश किया। भारतीय राजत्व का आधार प्राचीन धर्मशास्त्र में इसे दंड नीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि नामों से जाना जाता है।

प्राचीन राजत्व संबंधी साहित्य में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महाभारत, मनुस्मृति, कामंदक का नीतिसार, बृहस्पति का अर्थशास्त्र, सोमदेव का नीति वाक्य शास्त्र आदि प्रमुख हैं, जिनमें राजनीति के संदर्भ में अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसके अतिरिक्त अनंग, मनु, गौतम, व्यास, विज्ञानेश्वर, कात्यायन आदि चिंतकों ने राजनीतिक सिद्धांतों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया और वे राजनीतिक संस्थाओं के अनेक पहलुओं पर अपने विचारों की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं।

प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इतिहासकारों ने इसकी अपने–अपने ढंग से व्याख्या की है। राज्य की उत्पत्ति का प्रारंभिक स्वरूप राज्यविहीन था। विकासवादी सिद्धांत के अनुसार प्रारंभ में अराजकता की स्थिति थी। फिर परिवार जैसी संस्था का उदय हुआ और परिवार की सुरक्षा हेतु गृहपति का मुखिया के रूप में उदय हुआ और पारिवारिक इकाई ग्रामीण संगठन के रूप में अस्तित्व में आई। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक सिद्धांत, अनुबंध का सिद्धांत, दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत की अवधारणा का विकास हुआ।

राज्य के साथ अनेक शासन प्रणालियों का भी विकास हुआ। जिसमें प्रमुख गणतंत्रीय विचार एवं राज्य संस्था का विशेष महत्व रहा है। 'गण' शब्द संख्या सूचक है। इसलिए ऋग्वेद से लेकर परवर्ती भारतीय साहित्य तथा अभिलेख में यह शब्द संख्यात्मक, गणनार्थक तथा समूहात्मक रूप में वर्णित है। लिच्छती, बृजक, मल्ल भद्रक, कुकर, कुरु, पांचाल आदि प्राचीन काल के प्रमुख गणराज्य थे।

शासन व्यवस्था का एक रूप राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के रूप में प्राचीन काल में प्रचलित था। इसके अंतर्गत एक व्यक्ति विशेष का शासन होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में चार प्रकार के राजतंत्र बताए गए हैं। राजतंत्र वह शासन व्यवस्था कहलाती है, जिसमें शासन का प्रमुख राजा होता है राजा ही इस व्यवस्था का सर्वोच्च व्यक्ति होता था। इस प्रकार राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था को स्थायी आधार प्रदान करने में भारत के यशस्वी राजाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया।

वंशानुगत शासन प्रणाली कुल पर आधारित व्यवस्था थी। जो 'कुलतंत्र' था। श्रेणीतंत्र कहा जाता था। इस व्यवस्था में न तो सर्वसाधारण जनता का शासन था और न ही प्रतिनिधि निर्वाचित होने की पद्धति थी। कुल का प्रतिनिधित्व कुल या गोत्र के सबसे वृद्ध सदस्य 'गोत्रपत्य' द्वारा किया जाता था। कालान्तर में यह व्यवस्था वर्तमान में जनतंत्र या प्रजातंत्र का प्रमुख आधार बन गई।

संक्षेप में कौटित्य का अर्थशास्त्र और महाभारत जैसे अनेक साहित्यिक ग्रंथों ने नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत कर राजनीतिक चिंतन, मनन को समझने में सरल किया है। प्राचीन विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के विकास का गंभीर अध्ययन किया था। आरंभिक चिंतन में राजा को ही राज्य की उत्पत्ति के मूल में रखा गया। यह सर्वमान्य धारणा है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने सुशासन, सुराज्य एवं लोक कल्याणकारी भावनाओं के आधार पर राज्य के प्रादुर्भाव में अनेक तत्वों को स्थान दिया है। इनका क्रमिक विकास भिन्न–भिन्न राजवंशों के इतिहास के रूप में दिखाई देता है।

अपनी प्रगति जांचिए

13. अथर्ववेद में किस राजा को मानवों में देवता बताया गया है?

(क) राजा परीक्षित को (ख) राजा युधिष्ठिर को

(ग) राजा दुर्योधन को (घ) राजा दुष्यंत को

14. ऐतरेय ब्राह्मण में कितने प्रकार के राजतंत्र बताए गए हैं?

(क) दो (ख) तीन

(ग) पांच (घ) चार

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (घ)
4. (ग)
5. (क)
6. (ग)
7. (क)
8. (ग)
9. (क)
10. (ख)
11. (घ)
12. (ख)
13. (क)
14. (घ)

टिप्पणी

1.6 सारांश

प्राचीन भारतीय विद्वतजनों ने धर्म के विभिन्न पक्षों का गहन अध्ययन किया है। ऐसा अनुभव इतिहासकारों द्वारा होता रहा है कि राजनीति का पक्ष प्राचीन काल में कमजोर था, परंतु यह अवधारणा सत्य के करीब नहीं है। राजत्व संबंधी विचारों की विस्तृत जानकारी प्राचीन साहित्य में अवलोकित होती है। धर्म का पक्ष भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों था। धर्म राजनीति का नैतिक आधार था। राजत्व संबंधी अवधारणाओं के संदर्भ में प्राचीन साहित्य में अनेक उद्धरण प्रस्तुत हैं। जरूरत है उचित दृष्टिकोण के अध्ययन की।

प्राचीन काल में वैदिक समय तक राजनीतिक अवधारणा का जन्म हो चुका था। कबीलाई प्रणाली अब स्थायित्व ले चुकी थी। उपनिषद युग में एक अन्य राजनीतिक तत्व विधि को भी राज्य से संबद्ध कर राज्य की धारणा को पूर्णता प्रदान की गई। कालान्तर में धीरे–धीरे राजत्व के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। राजत्व के सिद्धांत की नई परिकल्पना का जन्म हुआ। धर्मशास्त्र के अनुसार ही राजत्व के सिद्धांत को स्पष्ट किया गया। राजनीति में नैतिकता का समावेश प्राचीन राजत्व सिद्धांत की मुख्य विशेषता थी।

प्राचीन भारतीय मनीषियों के द्वारा विपुल साहित्य का लेखन किया गया किंतु इसमें राजनीतिक विषयक विचारों का यथोचित विवेचन का सर्वथा अभाव रहा है। गहन अध्ययन के उपरांत वैदिक साहित्य के सागर से राजनीतिक साहित्य के कुछ मोती उपलब्ध हो ही जाते हैं।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र ग्रंथ तात्कालिक राजनीतिक साहित्य की रीढ़ है। जिसके प्रथम वाक्य में पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का विवेचन किया गया है। इनमें प्रमुखतः भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, कोणड़क, भारद्वाज, कात्यायन, घाटेमुख, पिशुनपुत्र नाम उल्लेखनीय हैं। यह इस बात के प्रमाण का पक्ष है। भारत में राजनीतिक परंपरा का आधार शून्यता नहीं था। कौटिल्य ने प्राचीन विचारकों के अनेक उद्धरणों को अपनी पुस्तक में स्थान दिया है।

आचार्य चाणक्य का अर्थशास्त्र 15 अधिकरण और 180 उपभागों में बंटा है इसमें लगभग 6000 श्लोक हैं। यह पुस्तक 1909 में मिली थी। डॉ. शाम शास्त्री ने इसका सुंदर अनुवाद किया है। इस पुस्तक में दर्शन शास्त्र, राज्य पद्धति, स्वरूप, राज्यों के प्रकार राज्य के उद्देश्य, राजा और राजपद, उत्तराधिकार, मंत्रिपरिषद, स्थानीय प्रशासन, न्यायिक व्यवस्था, दण्डनीति, आर्थिक नीति, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, धर्म और नैतिकता पर विचारों का सुंदर प्रस्तुतीकरण किया गया है।

कामंदक का नीतिसार गुप्त काल में रचित है। इसमें राजतंत्र पर अधिक प्रकाश डाला गया है और गणराज्यों के चिंतन पर मौन प्रस्तुति है। शुक्र नीति का समय अनिश्चित है। इस ग्रंथ में राजाओं, मंत्रियों और अन्य अधिकारियों के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को विस्तार से बताया गया है।

मानव समाज के विकास तथा उत्कर्ष में राज्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन भारतीय विचारधारा में राज्य नियम, पालन, न्याय व्यवस्था सुरक्षा तथा कल्याण की परिस्थितियों का प्रतीक था। जिसके उद्धरण धार्मिक तथा लौकिक साहित्य

टिप्पणी

में प्राप्त होते हैं। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत के प्रमाण प्राचीन भारतीय चिंतन की लेखनशैली में उपलब्ध हैं।

राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धांत सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके अनुसार राज्य की स्थापना ईश्वर ने की है तथा राजा उसका एक अंश है। राजा को देवांश माना जाता है। इस सिद्धांत का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृति साहित्य, महाभारत जैसे प्राचीन ग्रंथों में अनेक प्रकार के उद्धरणों के रूप में मिलता है।

भारत की प्राचीन परंपरा प्रत्येक क्षेत्र में विकसित थी और इसके विकास का प्रमुख कारण यहां की सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था जिसने भारत को अनेक शक्तिशाली वंश दिये। कालान्तर में अनेक राजनीतिक संस्थाओं का जन्म हुआ। जैसे–जैसे साम्राज्य का विस्तार हुआ राजा के अधिकार और कर्तव्यों की व्याख्या होने लगी। प्रजा और राजा के मध्य पितातुल्य संबंधों का विकास हुआ।

राजा अपने अधिकार और कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान थे। प्रजा अपने स्वामी से पूर्णतः संतुष्ट थी। यह इस बात से पता चलता है कि विश्व का इतिहास राजा और प्रजा के बीच अनेक क्रांति का साक्षी रहा है, परंतु भारत में इस प्रकार की क्रांति के कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं। केंद्रीयकृत प्रशासन ने और योग्य सक्षम राजाओं ने भारत की राजनीतिक संप्रभुता को बनाये रखा। बाहरी आक्रमणकारियों से हमारा देश सदैव सुरक्षित रहा जिसका श्रेय यहां की राजनीतिक व्यवस्था को जाता है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता छोटे–छोटे कबीलों या ग्रामों में विभक्त थी जहां सदस्य एक परिवार के रूप में संगठित रूप से रहते थे। इन कबीलों का सर्वमान्य नेता होता था जिसके निर्णयों का सभी आदर करते थे। ऋग्वेद में कई ग्रामों का समूह 'विश' कहलाता था जिसका प्रमुख 'विशपति' था। कई 'विश' मिलकर 'जन' का निर्माण करते थे। 'जन' के अध्यक्ष को जनपति अथवा राजा कहा जाता था। आर.एस. शर्मा का मत है–"राज्य संस्था की उत्पत्ति के पीछे निजी संपत्ति, परिवार तथा वर्ण या जाति का मुख्य हाथ रहा है। 'वायुपुराण' में पृथक शासक के रूप में मनु को अधिकृत किया गया था।

प्राचीन काल से राज्य एक आवश्यक इकाई रहा है। राजकाज चलाने के लिए सर्वगुण सम्पन्न राज्याभिषिक्त ऐसे राजा की आवश्यकता रही जो राज्य की समस्त गतिविधियों को संचालित करता था। राज्य के प्रति उसके कुछ अधिकार एवं कर्तव्य थे। रामायण एवं महाभारत में राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है, महाभारत के अनुसार राज्य एक महान भार है, उसे सम्भालने हेतु एक कुशल वाहक आवश्यक है। उसमें शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और बौद्धिक गुण आवश्यक हैं। भीष्म ने शांति पर्व में राजा के कर्तव्यों को लोकरंजन कहकर पुकारा है।

प्रारंभिक कबीलाई व्यवस्था से सत्ता जब राजतंत्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में स्थापित हुई तब राजाओं को उत्तराधिकार के रूप में राज्य सत्ता प्राप्त हुई। अपनी राज्य सत्ता को शक्तिशाली स्वरूप देने के लिए वैधता के अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया जिसमें सबसे सशक्त वैधता का सिद्धांत राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत था।

ऋग्वेद में 'पुरुकुटस' को अर्द्ध देव बताया गया है। अथर्ववेद में राजा परीक्षित को मानवों में देवता बताया है। यह माना जाता था कि राजाओं की विजय का कारण विभिन्न देवताओं का आशीर्वाद था। राजतिलक के अवसर पर अग्नि, बृहस्पति और

सविता राजा के शरीर में प्रवेश करते थे। वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ देवताओं के समान स्थिति प्राप्त करने में समर्थ बनाते थे। पुराणों और स्मृतियों में राजा को देवता बताया गया है।

टिप्पणी

1.7 मुख्य शब्दावली

- **अवधारणा** : विचार।
- **विशद** : विशाल।
- **भक्षण** : खाना।
- **अपरिहार्य** : अत्याज्य।
- **अराजकता** : अनियंत्रित एवं विधि विरोधी शासनावस्था।
- **प्रतिष्ठित** : प्रसिद्ध।
- **पदच्युत** : पद से हटाना।
- **अभिव्यक्ति** : प्रकट करना।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धांत बताइए?
2. भारतीय राजनीति के प्राचीन स्रोतों के विषय में संक्षेप में बताइए।
3. राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धांत को प्रतिपादित कीजिए।
4. बलबन के राजत्व सिद्धांत से क्या अभिप्राय है?
5. तुर्क मंगोल सिद्धांत पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
6. समिति के विषय में बताइए।
7. विदथ से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में वर्णित कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन भारत में राजनीतिक चिंतन से आप क्या समझते हैं। इसके स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2. राजत्व संबंधी विभिन्न विचारों का वर्णन कीजिए।
3. राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का अर्थ, उत्पत्ति एवं स्वरूप का विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।
4. गणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था पर निबंध लिखिए।
5. कुलतंत्र शासन व्यवस्था के चिंतन एवं स्वरूप को समझाइए।
6. मध्यकालीन राजत्व सिद्धांत संबंधी विचारों का विवेचन कीजिए।
7. मुगलकालीन राजत्व सिद्धांत का विश्लेषण कीजिए।

टिप्पणी

8. सल्तनत कालीन राजत्व सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
9. मंगोल सम्प्रभुता के सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
10. मध्यकालीन राजत्व के स्वरूप को समझाइए।
11. राजा की उत्पत्ति संबंधी अवधारणा का विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।
12. राजा के अधिकारों का वर्णन कीजिए।
13. प्राचीन कालीन राजा के कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।
14. राजनीतिक प्रभुसत्ता के सिद्धांत को समझाइए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
2. शर्मा हरिश्चंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
3. विद्यालंकार सत्केतु, प्राचीन भारत की शामन पद्धति और राजशास्त्र, नई दिल्ली।
4. वी.सी. पांडे, प्राचीन भारत का इतिहास।
5. एस.एल. शाह, भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था, कब क्यों और कैसे, सरिता बुक हाउस, दिल्ली।
6. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, एस चंद्र एंड कंपनी प्रा. लि., दिल्ली।
7. डॉ. के.एल. खुराना, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
8. डॉ. के.एल. खुराना, आर.के. बंसल, इतिहास लेखन धारणाएं तथा पद्धतियां, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
9. वी.डी. महाजन, मध्यकालीन भारत, एम चंद्र एंड कंपनी प्रा.लि., दिल्ली।
10. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – 1707 से वर्तमान तक, एस. चंद्र एंड कंपनी लि., दिल्ली।
11. डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, विचारों का इतिहास, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस।
12. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.
13. रविंदर कुमार, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 1997.
14. डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्मदर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1996.
15. डॉ. ए.के. चतुर्वेदी, यूनीफाइड इतिहास, बी.ए. तृतीय वर्ष, एम.बी.पी.डी. पब्लिकेशन।

इकाई 2 राजनीतिक–आधुनिक विचार

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 उपनिवेशवाद और नए राजनीतिक विचारों का उदय : उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं प्रत्यक्षवाद
  2.2.1 उदारवाद
  2.2.2 प्रजातंत्रवाद
  2.2.3 उपयोगितावाद
  2.2.4 सापेक्षवाद या प्रत्यक्षवाद
2.3 भारतीय राष्ट्रवाद एवं समाजवाद
  2.3.1 राष्ट्रवाद
  2.3.2 समाजवाद
2.4 सांप्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप विश्व में उपनिवेशवाद का जन्म हुआ। नवीन आविष्कारों एवं भौगोलिक खोजों ने व्यापार के लिए नये क्षेत्रों की खोज को प्रोत्साहित किया। विकसित राष्ट्र उपनिवेशवाद की दौड़ में शामिल हुए और बड़े पैमाने पर साम्राज्य का विस्तार किया। पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने उपनिवेशों पर आर्थिक और राजनीतिक दोनों नियंत्रण स्थापित किए।

औद्योगिक क्रांति ने विश्व में नवीन परिवर्तन किये और नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया। मध्यवर्ग, पूंजीवाद, समाजवाद का विकास हुआ। इस विकास की प्रक्रिया ने लोगों को जागरूक किया और अमेरिका व फ्रांस जैसे देशों में स्वतंत्रता, समानता एवं प्रजातंत्र की स्थापना के लिए क्रांति की शुरुआत हुई।

उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद, सापेक्षवाद तथा धर्मनिरपेक्षवाद जैसी अनेक विचारधाराओं ने विश्व में परिवर्तन की शुरुआत की।

प्रस्तुत इकाई में हम इन सभी विचारधाराओं का विस्तृत अध्ययन करेंगे। साथ ही भारतीय संदर्भ में इन विचारधाराओं के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक स्वरूप को समझने का भी प्रयास करेंगे।

2.1 उद्देश्य

टिप्पणी

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- उपनिवेशवाद और नए राजनीतिक विचारों के अंतर्गत उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं प्रत्यक्षवाद का अध्ययन कर पाएंगे;
- राष्ट्रवाद एवं समाजवाद को विस्तार से समझ पाएंगे;
- सांप्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता के विभिन्न पहलुओं को जान पाएंगे।

2.2 उपनिवेशवाद और नए राजनीतिक विचारों का उदय : उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं प्रत्यक्षवाद

उपनिवेशवाद (Colonialism) की परंपरा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। यूनानी ईसा पूर्व काल में ही उपनिवेश स्थापित कर चुके थे। भारतीयों के भी उपनिवेश थे उदाहरणार्थ चोल समुद्र पार गए और इंडोचीन व इंडोनेशिया में उपनिवेश स्थापित किए, कंबोडिया में प्रसिद्ध अंगकोरवाट मंदिर अथवा बाली द्वीप में रामायण की प्रस्तुति उसके प्रभाव के उदाहरण हैं। परंतु इसे प्राचीन काल में उपनिवेशवाद से जोड़ कर नहीं देखा गया।

सोलहवीं शताब्दी के आगे हमने जो देखा वह यह था– संसार के एक छोटे से हिस्से द्वारा पृथ्वी के बाकी हिस्से का समावेशन। उपनिवेशवाद ने संपूर्ण विश्व पर कुछ देशों की एक चिरस्थायी शासन पद्धति और प्रभुत्व को स्थापित किया। एक छोटी सी समयावधि में ही अपने औपनिवेशीकृत संसार के आर्थिक एकीकरण को एक गहन अनुचित व्यापार–प्रक्रिया के माध्यम से विजेता शक्तियों की अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकताओं की ओर उन्मुख किया।

उपनिवेशवाद का अर्थ एवं परिभाषा– किसी समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने विभिन्न हितों को साधने के लिए किसी निर्बल किंतु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न संसाधनों को शक्ति के बल पर उपयोग करना उपनिवेशवाद कहलाता है। उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है, उसे शासन में कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होता।

परिभाषा : आर्गनस्की के अनुसार, "वे सभी क्षेत्र उपनिवेशों के तहत आते हैं, जो विदेशी सत्ता द्वारा शासित हैं एवं जिनके निवासियों को पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं– वस्तुतः हम किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा निहित स्वार्थवश किसी निर्बल राष्ट्र के शोषण को उपनिवेशवाद कह सकते हैं।"

ब्रिटानिक रेडी रेफरेंस एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार, "उपनिवेशवाद किसी शक्ति का अपने अधीनस्थ क्षेत्र अथवा लोगों पर नियंत्रण है। उपनिवेशवाद के निहितार्थों में उपनिवेश के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन उपनिवेशों के लिए नए बाजारों का निर्माण तथा उपनिवेशकों की जीवन शैली को अपनी राष्ट्रीय सीमा के परे विस्तारित करना सम्मिलित है।

टिप्पणी

उपनिवेशवाद का स्वरूप : उपनिवेशवाद एक ऐसे समाज का निर्माण करता है, जो न तो पूरी तरह पूंजीवादी होता है न ही उपनिवेश पूर्व अथवा पूंजीवाद पूर्व। ब्रिटिश कालीन भारत इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। वहां न तो इंग्लैण्ड की तरह पूंजीवादी व्यवस्था स्थापित हुई और न ही मुगलकालीन अर्थव्यवस्था अस्तित्व में रही। भारत में ब्रिटिश काल में हुए भूमि सुधारों पर ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जमींदारी तथा रैयतवाड़ी बंदोबस्तों के माध्यम से औपनिवेशिक शासकों ने एक ओर जहां भूमि स्वामीवाद (Iandlordism) को प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर भू–स्वामित्व के अधिकार देकर भूमि को क्रय–विक्रय की वस्तु बनाकर पूंजीवादी व्यवस्था प्रारंभ की साथ ही रेलवे और उद्योगों में विदेशी पूंजी के निवेश को प्रोत्साहन देकर पूंजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात किया।

इस प्रकार उपनिवेशवादी व्यवस्था के अधीन औपनिवेशिक समाज बुनियादी परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने लगे। उन्हें विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग बना दिया गया जिस प्रकार इंग्लैण्ड के लिए औद्योगिक पूंजीवाद एक आधुनिक घटना थी, उसी प्रकार भारत के लिए उपनिवेशवाद। वस्तुतः दोनों तत्वों पूंजीवाद और उपनिवेशवाद का विकास अठारहवीं शताब्दी के मध्य से साथ–साथ हुआ। धीरे–धीरे पूंजीवाद और उपनिवेशवाद अपनी प्रवृत्ति के कारण विश्वव्यवस्था बन गया परंतु इसका स्वरूप पूंजीवादी देशों में तथा उपनिवेशों में भिन्न रहा। यह विश्वव्यवस्था का रूप बन गया।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरण

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की नींव 1757 के 'प्लासी के युद्ध' के बाद पड़ी, जिसका प्रारंभिक उद्देश्य यहां के उन साधनों को अपने कब्जे में लेना था जिससे प्राप्त माल इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में सरलता से बेचा जा सके। प्लासी के युद्ध से पूर्व जहां ब्रिटेन को भारत से वस्तुओं को क्रय करने हेतु भुगतान सोने और चांदी में करना होता था, वहीं इस युद्ध के बाद ब्रिटेन को भुगतान के लिए सोने, चांदी की आवश्यकता नहीं रही। अब वह भुगतान यहीं से वसूले गए धन से करता था। उपनिवेशवाद का मूल तत्व आर्थिक शोषण में निहित है, परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक उपनिवेश पर राजनीतिक नियंत्रण रखना आवश्यक नहीं है। अपितु उपनिवेशवाद का मूल स्वरूप ही आर्थिक शोषण के विभिन्न तरीकों में लक्षित होता है।

रजनी पाल्मे दत्त ने अपनी पुस्तक 'इंडिया टुडे' में भारतीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का चित्रण किया है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को तीन चरणों में बांटा है–

1. वाणिज्यिक चरण–1757–1813
2. उद्योग मुक्त व्यापार–1813–1860
3. वित्तीय पूंजीवाद 1860 के बाद

उपनिवेशवाद का प्रथम चरण 1757–1813

उपनिवेशवाद के प्रथम चरण, जिसकी शुरुआत प्लासी के युद्ध के बाद होती है, में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार पर पूर्ण रूप से कब्जा कर लिया एवं कंपनी ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों को कम कीमत पर तैयार भारतीय माल का निर्यात कर अच्छी कीमत वसूलती थी। उपनिवेशवाद के इस चरण में बंगाल व अन्य प्रांतों से वसूले गए

टिप्पणी

भू–राजस्व के बचे हुए हिस्से से भारतीय माल को खरीदा जाता था और उसे अन्य देशों को अच्छी कीमत पर निर्यात किया जाता था। 1757 के बाद कंपनी द्वारा भारत से निर्यात किए जाने वाले माल के बदले कुछ भी नहीं लौटाया गया, इस तरह प्रतिवर्ष भारतीय माल और संपत्ति का दोहन होता रहा, परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड अधिक अमीर और भारत अधिक गरीब होता गया।

इस प्रकार प्रारंभिक औपनिवेशिक प्रणाली ने भारत का शोषण करना आरंभ कर दिया। नवीन भू–राजस्व प्रणाली एवं व्यापार ने भारतीयों की अर्थव्यवस्था पर कुठाराघात करना प्रारंभ कर दिया।

उपनिवेशवाद का द्वितीय चरण 1813–1860

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के द्वितीय चरण की शुरुआत 1813 में कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करके मुक्त व्यापार के द्वार खोल दिए जाने से हुई जिसके परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का दूसरा चरण प्रारंभ हुआ। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दूसरे चरण में जिसे उद्योग मुक्त व्यापार का चरण कहा जाता है, इसने भारत को ब्रिटिश माल के आयात का मुक्त बाजार बना दिया।

1833 में कंपनी की समस्त वाणिज्यिक गतिविधियों को ब्रिटिश सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया। 1833 के बाद भारत के सभी शहर, कस्बे गांव, जंगल, खानें, कृषि, उद्योग तथा जनसंख्या का विशाल मानव समुदाय ब्रिटिश संसद द्वारा ब्रिटिश पूंजीपतियों के मुक्त प्रयोग के लिए खुला छोड़ दिया गया। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इस चरण में भारत का उपयोग ब्रिटेन की मशीन निर्मित वस्तुओं के एक बाजार के रूप में तथा ब्रिटेन पर निर्भर एक ऐसे उपनिवेश के रूप में करना चाहता था जो ब्रिटेन के उद्योगों के लिए कच्चे माल और खाद्यान्नों का उत्पादन एवं पूर्ति करे।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कंपनी तथा ब्रिटिश पूंजीपतियों ने मिलकर भारतीय हस्तशिल्प उद्योग को पूर्णतः नष्ट कर दिया। 'करघा' और 'चरखा' जो पुराने भारतीय समाज की धुरी के रूप में प्रसिद्ध थे, को तोड़ डाला तथा भारतीय बाजारों को लंकाशायर और मैनचेस्टर में निर्मित कपड़ों से भर दिया।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का तृतीय चरण 1860 के बाद

अंग्रेज पूंजीपति भारत में पूंजीनिवेश के लिए इसलिए आतुर था क्योंकि वह अपनी अतिरिक्त पूंजी को सुरक्षित तरीके से यहां नियोजित कर सकता था। उपनिवेश में मजदूरी सस्ती होने के कारण अच्छा मुनाफा कमा सकता था। उपनिवेशवाद में मजदूरी सस्ती होने के कारण अच्छा मुनाफा कमा सकता था, साथ ही गृह उद्योग के लिए सस्ता कच्चा माल भी निरंतर प्राप्त कर सकता था। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर 1860 के बाद ब्रिटिश उपनिवेश का तीसरा चरण वित्तीय पूंजीवाद प्रारंभ हुआ। 19वीं शताब्दी के मुक्त व्यापार से उत्पन्न अन्तर्विरोधों और 1857 के विद्रोह के परिणामों ने अंग्रेजों को इस बात के लिए विवश किया कि वे भारत में अपने व्यापारिक, सामाजिक हितों की पूर्ति के लिए रेल लाइनों के निर्माण, सड़कों के विकास और सिंचाई के साधनों की ओर ध्यान दिया जाए। 1860 के बाद अंग्रेजों द्वारा भारत में बड़े पैमाने पर पूंजी निवेश की शुरुआत हुई। इस काल में सर्वाधिक पूंजी निवेश 'सार्वजनिक ऋण' के क्षेत्र में किया गया। अंग्रेजों द्वारा भारत में अनेक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु रेल लाइन का विस्तार किया गया।

अंग्रेजों द्वारा वाणिज्यिक और सामरिक उद्देश्यों से भारत में बिछाई गई रेल को कार्ल मार्क्स ने 'आधुनिक युग का अग्रदूत' कहा है। इस काल में भारतीय उद्योगों का भी विकास हुआ।

टिप्पणी

इस प्रकार भारत में अपना शासन स्थापित करने के लिए चरणबद्ध तरीके से आर्थिक दोहन ही ब्रिटिशों का मुख्य उद्देश्य था। शोषण की इस प्रवृत्ति ने शासन का रूप ही बदल दिया जिसने ब्रिटेन में भी परिवर्तन को जन्म दिया। इससे भी उपनिवेश में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिणाम हुए। उपनिवेशी राज्य के अंतर्गत होने वाले विकास को आधुनिकीकरण की संज्ञा दी गई। किंतु उपनिवेश पर इसके विभिन्न प्रभाव पड़े जो प्रगति के बदले पिछड़ेपन का कारण बना और अंततः संसाधनों के दोहन ने देश को यूरोप में औद्योगीकरण के योग्य बनाया।

अन्य राजनीतिक विचार– औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप विश्व नई अर्थव्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से उपनिवेशवादी दौड़ में शामिल हो गया। अनेक नए सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। मध्यम वर्ग की दार्शनिक विचारधारा ने अनेक क्रांतियों की पृष्ठभूमि को तैयार करने में अहम भूमिका निभाई और पुरातनपंथी व्यवस्था, सामंतवादी व्यवस्था तथा निरंकुश तंत्रवादी विचारधारा का विरोध शुरू हुआ। नवीन विचारधाराओं जैसे– उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं धर्मनिरपेक्षवाद ने जन्म लिया। अमेरिका की क्रांति एवं फ्रांस की राज्य क्रांति ने 'स्वतंत्रता समानता एवं भ्रातृत्व' की भावना को जन्म दिया। अमेरिका ने विश्व को प्रजातंत्र जैसी नवीन विचारधारा देकर सामान्य वर्ग के लिए भी प्रशासन में भागीदारी के अवसर प्रदान कर नए युग का सूत्रपात किया।

2.2.1 उदारवाद

प्राचीन और आधुनिक उदारवादी विचारों की अचानक ही उत्पत्ति नहीं हुई है। उदारवाद (Liberalism) एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। यूनान से उदारवादी विचारों की शुरुआत हुई। उन्होंने विचारों की एवं राजनीतिक स्वतंत्रता पर अपने मत व्यक्त किए। इसके पश्चात इसका प्रभाव ईसाई विचारकों पर भी पड़ा। उन्होंने भावी राजनीतिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता का बीजारोपण किया। उदारवाद ने शासित वर्ग की व्यक्तिवादी परंपरा का विरोध किया। जिसका मुख्य उद्देश्य मानव को धार्मिक अंधविश्वासों की बेड़ियों से स्वतंत्र कराना और उसमें प्राचीन युग हेतु जिज्ञासु भावना का संचार हुआ।

उदारवाद का अर्थ

उदारवाद शब्द का अर्थ मूलतः लैटिन शब्द 'लीबेट'– स्वतंत्रता से लिया गया है। उदारवाद स्वतंत्र जीवन की आवाज है– ऐसा जीवन जिसमें स्वतंत्रता इस सीमा तक हो कि कोई व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक सोच सके, विश्वास कर सके इत्यादि। संक्षेप में उदारवाद के विचार का मूल तत्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता में निहित है। जॉन लॉक के अनुसार– "उदारवाद संभवतः शासक और जनता के बीच एक समझौते पर आधारित है। इस अनुबंध को किसी पक्ष द्वारा इसकी शर्तों का उल्लंघन करने पर समाप्त किया जा सकता है।" राजनीतिक विचार के रूप में उदारवाद एक ऐसा राजनीतिक व आर्थिक सिद्धांत है जो व्यक्ति के अधिकार एवं स्वतंत्रता की वकालत करता है तथा शासन के अधिकारों को सीमित करने की आवश्यकता प्रतिपादित करता है। राजनीतिक विचारधारा

के रूप में उदारवाद का प्रतिपादन 17वीं शताब्दी के ब्रिटिश दार्शनिक 'थॉमस हॉब्स' एवं जॉन लॉक द्वारा हुआ।

टिप्पणी

रूसो उच्चकोटि का लेखक एवं राजनीतिक विचारक था। प्राथमिक उदारवादी विचारकों में रूसो का नाम उल्लेखनीय है। रूसो की विचारधारा पर उसके युग की परिस्थितियों तथा अनेक राजनीतिक दार्शनिकों का प्रभाव दिखाई देता है। रूसो का कहना था कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एवं मनुष्य का पूर्ण जीवनकाल केवल समाज में ही संभव है। राज्य की अधीनता मनुष्य इसलिए स्वीकार करता है कि राज्य व्यक्ति को अंतिम लक्ष्य की ओर ले जाने में सफल हो।" रूसो का अमर वाक्य "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न हुआ है किंतु वह सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ दिखाई देता है।" कालान्तर में यही वाक्य भारतीय स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा बन गया।

मांटेस्क्यू के स्वतंत्रता संबंधी विचारों को भारतवासी भारत में देखना चाहते थे। उन्होंने ब्रिटिश शासन प्रणाली का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके स्वतंत्रता की व्यापक अर्थ में परिभाषा करते हुए कहा था "स्वतंत्रता व्यक्ति का ऐसा विश्वास है जिसमें वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहा है।" इस प्रकार एडम स्मिथ बेन्थम, मिल आदि उदारवादी विचारकों ने स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद के नये मायने को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। इसका प्रभाव भारतीय राष्ट्रवाद पर भी पड़ा।

कांग्रेस पर प्रारंभिक वर्षों में उदारवाद का प्रभाव रहा। उदारवादी नेताओं को ब्रिटिश सरकार की सद्भावना में विश्वास था। उनका उद्देश्य था कि सभी भारतीयों को धर्म या जाति के पक्षपात से रहित समानता प्राप्त हो, उन्हें नागरिक स्वतंत्रता प्राप्त हो और प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना की जाए। ये लोग क्रमिक सुधार तथा संवैधानिक नीतियों में विश्वास रखते थे। इस काल में कांग्रेस ने स्वतंत्रता की मांग नहीं की थी, बल्कि उसने भारतीयों के लिए कुछ रियायतें ही मांगी थी। इसका मुख्य कारण यह था कि वे ब्रिटिश प्रशासन को भारत के लिए लाभदायक मानते थे। प्रारंभिक कांग्रेस उदारवादी थी और उसका आंदोलन संवैधानिक उपायों द्वारा किया गया था। कांग्रेस में उदारवादियों के वर्चस्व का काल 1885 से 1905 तक था।

उदारवादी विचारों ने विश्व को एक नए सिद्धांत से परिचित कराया जो स्वतंत्रता, समानता एवं भातृत्व की भावना पर आधारित था।

2.2.2 प्रजातंत्रवाद

प्रजातंत्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें कोई राजा नहीं होता बल्कि राज्य परिचालन के लिए प्रजा द्वारा कोई एक व्यक्ति चुन लिया जाता हो। यह वह शासन व्यवस्था है जो जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा चलाई जाती है। ऐसी व्यवस्था में उस चुने हुए व्यक्ति को प्रायः राजा के समान अधिकार प्राप्त होते हैं और वह प्रजा की चुनी हुई किसी सभा या समिति आदि की सहायता से कुछ निश्चित समय तक शासन का समुचित प्रबंध करता है।

मानव जाति के राजनीतिक विकास में जो विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाएं रही उनमें प्रजातंत्र विश्व की प्रमुख शासन प्रणाली मानी गई है। प्रजातंत्रवाद की मुख्य अवधारणा यह है कि राज्य की संपूर्ण शक्ति की स्वामी जनता है। कोई व्यक्ति, समूह या कोई वंश नहीं है। प्रजातंत्रवाद के आरंभिक काल में सीमित जनसंख्या एवं सीमित

क्षेत्रफल वाले छोटे राज्य होने से सारी जनता शासन संचालन संबंधी निर्णय में सहभागी होती थी अतः सीमित क्षेत्रफल एवं सीमित जनसंख्या वाले छोटे राज्यों में इसका व्यावहारिक प्रयोग होने लगा। यूनान के नगर राज्यों से प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की शुरुआत मानी जाती है।

टिप्पणी

वर्तमान राज्य उनके विस्तार एवं जनसंख्या की दृष्टि से बड़े होने से जनता द्वारा प्रत्यक्ष शासन संभव नहीं था। अतः जनता अप्रत्यक्ष रूप से अपने चुने हुए जनप्रतिनिधियों के माध्यम से शासन की शक्ति का उपयोग करती है। वर्तमान में अप्रत्यक्ष रूप से जनप्रतिनिधियों के माध्यम से संचालित व्यवस्था को प्रजातंत्र कहते हैं।

प्रजातंत्र शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Democracy' शब्द का पर्यायवाची है यह यूनानी भाषा के दो शब्दों 'Demos' और 'Cratil' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ क्रमशः जनता और शक्ति है। इस प्रकार जनता की शक्ति प्रजातंत्र है एवं वाद से अभिप्राय विचारधारा से है अर्थात् प्रजातंत्र की सोच या जनता की सरकार, जनता का शासन हो यही सोच है प्रजातंत्रवाद।

प्रजातंत्रवाद या लोकतंत्रवाद का अर्थ एक ऐसी शासन प्रणाली से है जिसमें जनहित सर्वोपरि होता है। प्रजातंत्रवाद केवल एक शासन प्रणाली तक सीमित विचारधारा नहीं है यह राज्य व समाज का रूप भी है। अतः यह विचारधारा राज्य, समाज व शासन तीनों का मिश्रण है। प्रजातंत्रवाद जनता को शासन करने, शासन पर नियंत्रण करने एवं उसे हटाने की शक्ति है। समाज के रूप में प्रजातंत्र एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें समानता का विचार और व्यवहार प्रबल हो।

प्रजातंत्रवाद की अवधारणा को मुख्यतः दो प्रकार से देखा जा सकता है। जब किसी राज्य के निवासी सार्वजनिक विषयों पर प्रत्यक्ष रूप से स्वयं विचार विमर्श करते हैं और इसके आधार पर नीतियों का निर्धारण और विधिनिर्माण होता है तो इसी अवधारणा को प्रत्यक्ष रूप से प्रजातंत्रवादी कहा जाता है। यह अवधारणा कम जनसंख्या वाले एवं छोटे आकार वाले राज्यों में ही संभव है। वर्तमान में बड़े आकार वाले राष्ट्रों में जहां नागरिकों की संख्या करोड़ों में होती है वहां प्रत्यक्ष प्रजातंत्रवादी विचारधारा संभव नहीं है। वर्तमान में स्विट्जरलैंड के कुछ कैंटनों एवं भारत में पंचायत राज व्यवस्था के अंतर्गत ग्राम सभाओं में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की व्यवस्था है।

जब जनता निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से विधि निर्माण एवं शासन के कार्यों पर नियंत्रण रखने का कार्य करती है तो उसे अप्रत्यक्ष प्रजातंत्रवादी अवधारणा कहते हैं। वर्तमान समय में अप्रत्यक्ष प्रजातंत्रवादी अवधारणा ही प्रचलित है इसमें जनता निश्चित अवधि के लिए अपने प्रतिनिधि चुनती है जो व्यवस्थापिका का गठन करते हैं और कानूनों का निर्माण करते हैं। इस प्रणाली में जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से होती है।

इस प्रकार वर्तमान परिदृश्य में प्रजातंत्रवादी अवधारणा भारत सहित विश्व के सभी देशों द्वारा अपनाई गई अवधारणा है प्रजातंत्रवादी जनता के शासन एवं जनता की शक्ति का पुरजोर समर्थन करते हैं और आधुनिक विश्व में यह एक सफल अवधारणा है। भारत विश्व का सबसे सफल एवं सबसे बड़ा प्रजातंत्र एवं अमेरिका (महाशक्ति)

विश्व में सबसे सफल प्रजातंत्र वाला देश है। इसलिए प्रजातंत्रवादी अवधारणा सफल अवधारणा है जिसका हमारा देश (भारत) सर्वोत्तम उदाहरण है।

टिप्पणी

2.2.3 उपयोगितावाद

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपयोगितावाद की इतनी महत्वपूर्ण भूमिका रही कि इस युग को उपयोगितावादी युग कहा जाता है। एक सिद्धांत के रूप में इसका संबंध प्राचीन यूनान के 'ऐपीक्यूरियन' चिंतन के अनुसार 'मनुष्य पूर्णतया सुखवादी है, वह सुख की ओर दौड़ता है तथा दुख से बचना चाहता है'– से है। यूनानियों ने राज्य को एक नैतिक संस्था मानकर उसके उपयोगी रूप को अस्वीकार भी नहीं किया तथा मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक माना।

उपयोगितावाद (Utilirianism) में सार्वजनिक कल्याण की भावना निहित है यह कोई दार्शनिक सिद्धांत न होकर अपने समय का एक प्रकार का व्यावहारिक आंदोलन था जिसमें समाज और राज्य की परिस्थितियों के अनुसार समय–समय पर संशोधन होते रहे।

परिभाषा– विभिन्न विद्वानों ने उपयोगितावाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा था– सुख प्रदान करना ही उपयोगितावाद है।

'मैक्सी' ने "उपयोगितावादी दर्शन को बहुधा 'एपीक्यूरम' के प्राचीन आनंदवाद को 19वीं शताब्दी में पुनरुत्थान कहा है, जो वास्तव में वह था।"

डॉ. आर. भण्डारी के अनुसार, "उपयोगिता राज्य और सरकार के सिद्धांत की व्याख्या करने वाले राजनीतिक विचारों का संग्रह नहीं है। यह मानव व्यवहार की प्रेरणाओं से संबंधित सिद्धांत है।"

बेंथम ने उपयोगितावाद शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा था, "किसी वस्तु का वह गुण जिसके कारण वह हित, लाभ, आनंद, अच्छाई या सुख को उत्पन्न करती है और क्षति, कष्ट, बुराई या दुख को रोकती है। यह सुख सामान्य रूप से समाज का या विशिष्ट रूप से किसी व्यक्ति का हो सकता है।"

भारतीय संदर्भ में उपयोगितावाद : उपयोगितावादी विचारधारा का जनक 'जेरेमी बेंथम' को माना जाता है। उपयोगितावादियों ने भारत को अपने सिद्धांतों को परखने की प्रयोगशाला के रूप में देखा। उन्होंने भारत को सभ्यता के मापदंड की कसौटी पर सबसे निम्नतर स्तर पर माना और उन्होंने भारतीय पिछड़ेपन को दूर करने, उसकी सभ्यता के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य की उपयोगिता को प्रतिपादित किया।

रोमिला थापर के अनुसार "उपयोगितावादियों का पक्का विश्वास था कि "भारत में अंग्रेजों का आगमन एक दैवी सुयोग था क्योंकि ब्रिटिश प्रशासन और कानून से भारत का पिछड़ापन खत्म हो जाएगा। उससे अब तक के निरंकुश शासकों का अटूट सिलसिला समाप्त हो जाएगा और भारत के जन–गण में राजनीतिक चेतना का संचार होगा।"

औपनिवेशिक शासन की प्रशासनिक नीतियों पर उपयोगितावाद का प्रभाव महारानी विक्टोरिया की घोषणा 1858 एवं ब्रिटिश संसद द्वारा जारी भारत सरकार अधिनियम 1858 ई. में दृष्टिगोचर होता है, जिसके अनुसार अंग्रेजी क्राऊन ने भारतीय

प्रशासन को नियमानुसार सीधे और वैधानिक रूप से अपने नियंत्रण में ले लिया। जबकि सन् 1857 के विद्रोह ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी भावना पूर्णतः व्यक्त कर दी थी। किंतु ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने के बजाय कंपनी की समस्त संपत्ति पर भी अधिकार कर लिया।

टिप्पणी

उपयोगितावादी विचारधारा का ध्येय प्रत्येक कार्य उपयोगिता के आधार पर करना था। उपयोगितावादी विचारधारा ने भारत में औपनिवेशिक शासन की प्रशासनिक नीतियों को प्रभावित किया। भारत में औपनिवेशिक शासन स्थापना के पश्चात् न्याय व्यवस्था में कठिनाइयां आने लगीं तब उन्होंने 1776 में मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद 'ए कोड ऑफ जूण्ट लॉज' के नाम से किया। अंग्रेजों ने यह महसूस किया कि भारतीय सामाजिक परंपराओं एवं रीति–रिवाजों को समझे बिना भारतीय न्याय व्यवस्था का सही ढंग से संचालन संभव नहीं है। अतः उन्होंने उपयोगितावादी सिद्धांत पर अमल करते हुए, प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद कार्य के अनुभव की इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1784 में 'एशियाटिक सोसायटी' नामक संस्था की 'कलकत्ता' में स्थापना की। इस संस्था ने एशिया खंड के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज और विज्ञान आदि विषयों के संबंध में खोज की। अपना उद्देश्य निश्चित किया। वारेन हेस्टिंग्ज ने भी उपयोगितावादी दर्शन पर अमल करते हुए भारतीय साहित्य के अनुवाद कार्य में रुचि ली।

इस प्रकार उपयोगितावादी विचारधारा का प्रभाव भारतीय अंग्रेजों प्रशासकों की नीतियों पर भी पड़ा। विलियम बैंटिक ने भी उपयोगितावादी दर्शन का भरपूर उपयोग भारतीयों पर किया।

2.2.4 सापेक्षवाद या प्रत्यक्षवाद

सापेक्षवाद या प्रत्यक्षवाद (Positivism) ऐसी दार्शनिक व्यवस्था है जो स्वयं को अनुभव के आंकड़ों तक सीमित रखती है जो पराभौतिक, अटकलबाजी को अस्वीकार करती है तथा विज्ञान की उपलब्धियों पर बल देती है।

प्रत्यक्षवाद का जनक 'आगस्ट कॉम्टे' को माना जाता है। आगस्ट कॉम्टे फ्रांस के उन भाग्यशाली दार्शनिकों में से था जिन्हें 1789 ई. की राज्य क्रांति की भूकंप जैसी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विभीषिकाओं के प्रभावों की अनुभूति का अवसर प्राप्त हुआ।

आगस्ट कॉम्टे ने 'प्रत्यक्षवादी दर्शन' की रचना की। उनका दर्शन पूरी तरह विज्ञान पर आधारित था। उनके प्रत्यक्षवाद की रचना की ओर ध्यान देने का मूल कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयां थी। उनकी महान कृति "द कोर्स ऑफ पोजिटिव फिलॉसफी" है। उन्होंने प्रत्यक्षवाद के संदर्भ में लिखा है 'समय, ब्रह्माण्ड अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों द्वारा नियंत्रित, व्यवस्थित एवं निर्देशित होता है।' उनका यह भी कथन था कि 'इन नियमों को समझने के लिए हमें विज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा क्योंकि विज्ञान में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। वह केवल प्रयोग, परीक्षण, निरीक्षण और वर्गीकरण पर आधारित होते हैं।' कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद में हम केवल प्राकृतिक घटनाओं का ही अध्ययन नहीं करते अपितु समाज का अध्ययन भी करते हैं। क्योंकि समाज प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। प्राकृतिक घटनाओं की तरह सामाजिक घटनाएं भी एक निश्चित नियमों के आधार पर घटित होती हैं।

टिप्पणी

इतिहास और प्रत्यक्षवाद : डॉ. जे. चौबे ने उल्लेख किया कि "विज्ञान की आश्चर्यजनक उपलब्धियों ने मानव जाति के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया है।" इसने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई ख्यातिप्राप्त इतिहासकारों के चिंतन को प्रभावित करके विचार–विमर्श हेतु बाध्य किया है। वह यह अनुभव करने लगे कि इतिहास के अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों के कार्यान्वयन के द्वारा ही इतिहास की उपयोगिता और महत्व में वृद्धि हो सकती है। इस विषय पर यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वानों में पर्याप्त विचार–विमर्श के परिणामस्वरूप प्रोफेसर जे.बी. ब्यूरी ने अपने एक अभिभाषण में घोषित किया कि "इतिहास विज्ञान है न कम और न अधिक।" ब्यूरी ने यह भी स्पष्ट किया कि "जब तक इतिहास मात्र कला स्वीकार किया जाता रहेगा, तब तक उसमें यथार्थता तथा सूक्ष्मता का समावेश गंभीरता से नहीं किया जा सकेगा।"

इस प्रकार प्रत्यक्षवाद का मुख्य उद्देश्य अतीत का यथार्थ वर्णन है। इसमें व्यक्तिगत दृष्टिकोण एवं संरक्षक के गुणगान को सम्मिलित करना उचित नहीं है। अतः प्रत्यक्षवादी इतिहासकारों ने वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार नवीन विधाओं को प्रतिपादित करके अतीत के यथावत वर्णन के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'इंडिया टुडे' पुस्तक के लेखक हैं–

   (क) ओलफ पाल्मे (ख) थामस हाब्स

   (ग) रजनी पाल्मे दत्त (घ) जे.आर. काम्बले

2. भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को कितने चरणों में बांटा गया है?

   (क) 2 (ख) 3

   (ग) 4 (घ) 5

2.3 भारतीय राष्ट्रवाद एवं समाजवाद

भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय 19वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ। इसका विकास इसी सदी के मध्य में और इसमें परिपक्वता सदी के अंत में आई। भारत का राष्ट्रवाद भारतीयों की अंतर्निहित सुदृढ़ और परिपक्व सांस्कृतिक एकता की समय की आवश्यकता के अनुसार कवच के रूप में विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध राजनीतिक राष्ट्रवाद के रूप में उदय हुआ।

प्रो. जे.आर. काम्बले के अनुसार, "राष्ट्रवाद के नाले की बाढ़ में बड़ी–बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियां डूब जाती हैं चूंकि एक बार यदि कहीं राष्ट्रवाद का दीप प्रज्ज्वलित हो गया तो वह बुझता नहीं है।"

राष्ट्रवाद एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राष्ट्रीयताएं राजनीतिक इकाइयों के रूप में परिवर्तित होती है, आधुनिक काल में राष्ट्रवाद ने एक धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है।

शिलिटो इसे मनुष्य का दूसरा धर्म कहता है। यह आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक मनःस्थिति है जिसका उद्देश्य किसी जनसमूह में संगठित तथा चेतनामूलक राष्ट्रतत्व की पूर्ण प्राप्ति करना होता है।

टिप्पणी

2.3.1 राष्ट्रवाद

प्रो. रैनजे म्यौर ने राष्ट्रवाद (Nationalism) की परिभाषा इस प्रकार दी है– "राष्ट्रवाद वह जनसमुदाय है जिसके सदस्य अपने को स्वाभाविक रूप से एकता के सूत्र में बंधा हुआ अनुभव करते हैं। जो इतने सुदृढ़ तथा वास्तविक होते हैं कि उनके कारण वे प्रसन्नतापूर्वक साथ–साथ रह सकते हैं। उनके पृथक हो जाने पर वे दुःखी होते हैं और ऐसे लोगों की अधीनता सहन नहीं कर सकते जो इन बंधनों के अंतर्गत नहीं आते।"

अतः राष्ट्र एक विशिष्ट जनसमूह का संगठित रूप है और उस जनसमूह के ह्रदय में पाया जाने वाला देशप्रेम, राजभक्ति तथा आत्मीयता की भावना राष्ट्रवाद कहलाता है। राष्ट्रवाद सामुदायिक अर्थात् 'हम' की भावना को जाग्रत करता है। राष्ट्रवादी भावना ही राष्ट्र के हित के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करना सिखाती है। यह राष्ट्र के प्रति अटल श्रद्धा भक्ति उत्पन्न करती है। यह छोटे हितों को बड़े हितों के लिए त्याग देने का पाठ पढ़ाती है। राष्ट्र के सदस्य अपने राष्ट्र के सर्वतोन्मुखी विकास का प्रयत्न करते हैं।

औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रीय चेतना

बाबू गुलाबराय के अनुसार– "राष्ट्रीय चेतना एक मिश्रित मनोदशा है जिसमें अतीत–प्रेम के साथ–साथ वर्तमान के प्रति गर्त की भावना भी विद्यमान होती है।"

उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम चौथाई का काल भारत में राष्ट्रीयता के जन्म का काल माना जाता है। सामाजिक–धार्मिक सुधार आंदोलन, आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार, प्रेस की भूमिका, मध्यमवर्ग का उदय तथा ब्रिटिश शासन के आर्थिक परिणामों ने भारत में राष्ट्रवादी आकांक्षा को जन्म दिया। राष्ट्रवादी चेतना के कारण ही उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में भारत के महानगरों में अनेक राजनीतिक संगठनों का गठन हुआ जिनमें पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित लोग संगठित होकर राजनीतिक विकास के समान कार्यक्रमों पर विचार–विमर्श करते थे। राष्ट्रवादी चेतना प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में सामने आया, जिसने संगठित राष्ट्रवादी आंदोलन के औपचारिक आरंभ का श्री गणेश किया। अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रवाद को अंग्रेजी शासन की देन बताया है। रैम्जे मैकडोनाल्ड ने कहा है कि "भारतीय जनता का राजनीतिक मनोवृत्ति वाला हिस्सा बौद्धिक दृष्टि से हमारी संतान है। उन्होंने उन विचारों को ग्रहण किया, जिन्हें खुद हमने उनके सामने रखा। भारत की बौद्धिक और नैतिक हलचल हमारे कार्य की निंदा नहीं वरन प्रशंसा की बात है।"

भारत में राष्ट्रीय जागरण की प्रक्रिया में कई कारण सहायक सिद्ध हुए हैं जिनमें सामाजिक एवं धर्म सुधार आंदोलन की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। राजा राममोहन राय, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती जैसे सुधारवादियों ने भारतीयों के अंतर्मन को झकझोर दिया। भारत में सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भारतीयों को उनके सुनहरे अतीत की याद दिलाकर उनमें आत्मबल व विश्वास तथा राष्ट्रवाद की भावना को जन्म

दिया। दयानंद सरस्वती ने स्वदेशी राज्य को सर्वोत्तम बताया तथा 'भारत भारतीयों के लिए है' का नारा दिया।

टिप्पणी

पाश्चात्य शिक्षा ने भी भारत में राष्ट्रवाद को पनपने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा ने शिक्षित भारतीयों को एक तार्किक धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक तथा राष्ट्रवादी राजनीतिक दृष्टिकोण प्रदान किया। प्रेस की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही। राष्ट्रकवियों ने भी ओजपूर्ण कविताएं लिखकर राष्ट्रवाद की चेतना को बढ़ावा दिया।

माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा रचित देशप्रेम से परिपूर्ण ओजस्वी कविता– "मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक, मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाये वीर अनेक।" तथा संचार साधनों एवं अंग्रेजों द्वारा भारत में अपनायी गई नीतियों के परिणामस्वरूप भारत के संसाधनों का बड़े पैमाने पर दोहन के विरोध में राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ।

संक्षेप में भारत में राष्ट्रवाद की भावना के विकास से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में गति आई और भारतीय जनता में राष्ट्रप्रेम की भावना उमड़ने लगी। यह राष्ट्रवाद किसी एक घटना या कुछ सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया में नहीं हुआ था अपितु इसके पीछे निरन्तर राष्ट्रप्रेम की अनुभूति के साथ एक ऐसी विचारपरक चिंतन परंपरा की अवस्थिति थी जिसके बीज देश के अतीत गौरव में निहित थे।

भारतीय राष्ट्रवाद के विचारक– राष्ट्रवाद की चेतना में जहां बहुत से राष्ट्रवादी तत्वों का योगदान था, वहीं कुछ राष्ट्रवादी विचारकों की भी अहम भूमिका थी। यहां कुछ राष्ट्रवादी विचारकों के विषय में अध्ययन करेंगे।

1. **बालगंगाधर तिलक**– लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के संबंध में कहा है कि "एक सच्चा राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र का निर्माण प्राचीनता की नींव पर ही करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है, उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता।" तिलक एक महान राष्ट्रवादी नेता थे। उनका राष्ट्रवाद भारत के गौरव को पुनः स्थापित करने की धारणा पर आधारित था। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का संदेश दिया। सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के भाव को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने 'गणपति उत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' प्रारंभ किया। तिलक का कहना था कि उत्सव प्रतीक का काम करते हैं जिनसे राष्ट्रवाद की भावना पनपती है।

   तिलक ने राष्ट्रवाद के संबंध में आर्थिक कारकों को पर्याप्त महत्व दिया। तिलक ने कांग्रेस की उदारवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया। उनका कहना था, "स्वतंत्रता के लिए शिवाजी की भांति साहसी मार्ग ही अपनाना होगा।" इस तरह उन्होंने भारत में उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया।

2. **महात्मा गांधी**– गांधीजी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के महानायक थे। गांधी जी ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण करके उसे अंकुरित किया, विकसित किया और पोषण भी किया। उनका राष्ट्रवाद उग्र विस्तारवादी एवं हिंसात्मक न होकर नैतिक धारणा है। उनके राष्ट्रवाद में संकीर्णता, जातीय श्रेष्ठता अथवा एकाकीपन

के भाव नहीं हैं। गांधीजी सदा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना पर चले और अपने राष्ट्र प्रेम को कभी भी संकुचित नहीं होने दिया।

गांधी जी का विचार था कि जिस प्रकार देशभक्ति की भावना हमें यह सिखाती है कि व्यक्ति जिले के लिए, जिला प्रांत के लिए और प्रांत देश के लिए न्यौछावर हो जाए, उसी प्रकार देश को आवश्यकता पड़ने पर विश्व की भलाई के लिए न्योछावर होने के लिए तैयार होना चाहिए।

टिप्पणी

गांधी मानते थे कि जनता की भागीदारी के बिना कोई भी आंदोलन सफल नहीं हो सकता इसलिए उन्होंने जनता को जाग्रत करके उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना राष्ट्रवाद के लिए अहम माना। वो राष्ट्रीयता की भावना जनता के अंदर भी भरना चाहते थे। गांधी ने इसके दम पर भारत को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक अलग पहचान दिलाने का सपना देखा था। गांधी जी का राष्ट्रवाद मानता है कि राष्ट्र और जन के बीच की दूरी को पाटे बिना कोई भी राष्ट्र सशक्त नहीं हो सकता है।

3. **जवाहर लाल नेहरू**– पं. नेहरू ने राष्ट्रवाद के संबंध में कहा है कि "राष्ट्रवाद अपनी जगह पर अच्छा है लेकिन यह अविश्वसनीय मित्र व संदिग्ध सलाहकार है। यह कई घटनाओं के प्रति हमारी आंखें मूंद देता है और कभी–कभी सत्य को विदूषित कर देता है। विशेषकर तब जबकि उसका संबंध अपने देश से हो।"

नेहरू के लिए राष्ट्रवाद वास्तव में आत्म विस्तार का ही एक रूप था उन्हीं के शब्दों में, "राष्ट्रवाद तत्वतः अतीत की उपलब्धियों, परंपराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है और राष्ट्रवाद जितना शक्तिशाली आज है उतना कभी नहीं था जब कभी संकट आया है तभी राष्ट्रवादी भावना का उत्थान हुआ और लोगों ने अपनी परंपराओं से शक्ति तथा सांत्वना प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अतीत और राष्ट्र का पुनरान्वेशन वर्तमान युग की आश्चर्यजनक प्रगति है।"

नेहरू का राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद से मुक्ति और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की प्रेरणा देता है। उन्होंने, राष्ट्रवाद को ऐसे संघर्षो की अनुभूति कहा है। जब कभी आपत्ति आती है तब राष्ट्रवाद जन्म लेता है और राष्ट्रीय मंच पर छा जाता है। अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में वे लिखते हैं कि किसी भी पराधीन देश के लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्रथम तथा प्रधान आकांक्षा होनी चाहिए। भारत के लिए जिसको पाना अतीत की एक धरोहर है उसके लिए यह बात और भी सही थी।

विवेकानंद का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद

स्वामी विवेकानंद ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन इसलिए किया क्योंकि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदंड बनेगा, उनका कहना था कि राष्ट्र की भांति महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है। अतीत की उपेक्षा राष्ट्र के जीवन का निषेध करने के समान है इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना होगा। विवेकानंद के अनुसार भारत को अपने अध्यात्म से पश्चिम विजित करना होगा। उनका कहना था, "एक बार पुनः भारत को विश्व विजय करनी है। उसे पश्चिम पर आध्यात्मिक विजय करनी है।"

टिप्पणी

वे भारत राष्ट्र की महत्ता एवं एकता के पोषक थे तथा सभ्यता को आंतरिक ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति मानते थे। उन्होंने कहा– हे वीर! निर्भीक साहस धारण करो, इस बात पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो और गर्व के साथ घोषणा करो "मैं भारतीय हूं और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है।" ज्ञानहीन भारतीय, दरिद्र तथा अकिंचन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, अछूत भारतीय मेरा भाई है। तुम भी अपनी कमर में लंगोटी बांधकर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोषणा करो– "भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है, भारत के देवी–देवता मेरे ईश्वर हैं। भारतीय समाज मेरा बाल्यकाल का पालना है। मेरे यौवन का आनंद उद्यान है। पवित्र स्वर्ग और मेरी वृद्धावस्था की वाराणसी है।" मेरे बंधु बोलो– "भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है और दिन–रात जपो और प्रार्थना करो– हे गौरीपति! हे जगधात्री! मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। हे शक्ति की जननी! मेरे दौर्बल्य को हर लो, मेरी पौरुषहीनता को हर लो तथा मुझे मनुष्य बना दो।[1]

2.3.2 समाजवाद

समाजवाद (Socialism) एक आर्थिक–सामाजिक दर्शन है। समाजवादी व्यवस्था में धन संपत्ति का स्वामित्व और वितरण समाज के नियंत्रण के अधीन रहते हैं। आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक प्रत्यय के तौर पर समाजवाद निजी संपत्ति पर आधारित अधिकारों का विरोध करता है। उसकी एक बुनियादी प्रतिज्ञा यह भी है कि संपदा का उत्पादन और वितरण समाज या राज्य के हाथों में होना चाहिए। राजनीति के आधुनिक अर्थों में समाजवाद को पूंजीवाद या मुक्त बाजार के सिद्धांत के विपरीत देखा जा सकता है।

समाजवाद शब्द ग्रीक शब्द 'सोसिएम' से लिया गया है। जिसका अर्थ समाज है। यह शब्द सर्वप्रथम फ्रांस में 'दि पुअर मेन्स गार्जियन' में सन् 1833 में प्रयोग किया गया। समाजवाद के विचार विभिन्न राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किए गए हैं।

समाजवाद के स्वरूप को लेकर विभिन्न विचारधाराओं के जो मतभेद परिलक्षित होते हैं उसके संदर्भ में प्रो. सी.ई.एम. जोड़ ने कहा है– "समाजवाद एक ऐसी टोपी है जिसका रूप प्रत्येक व्यक्ति के पहनने के कारण बिगड़ गया है। प्रो. जोड़ के इस कथन का अभिप्राय यह है कि समाजवाद का अपना कोई वास्तविक स्वरूप नहीं होता तथा इसके स्वरूप में परिस्थितियों के अनुसार समायोजन हो जाता है।"

समाजवाद की परिभाषा

समाजवाद के संदर्भ में अनेक विद्वानों ने परिभाषाएं दी हैं–

1. इंग्लिश ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार– "समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत या नीति है जो उत्पादन के साधनों– संपत्ति, पूंजी, जमीन आदि पर समस्त समाज के स्वामित्व एवं प्रबंधन की वकालत करता है, जो सभी के हितों में हो।"
2. जोसेफ शुम्पीटर के अनुसार– "समाजवाद समाज का ऐसा संगठन है जिससे उत्पादन के साधनों का नियंत्रण और कैसे और क्या उत्पादन किया जाए और किसे क्या दिया जाए का निर्णय नीति नियंत्रण और प्रबंधन के बजाए सामाजिक सत्ता के द्वारा लिए जाते हों।"

इस प्रकार समाजवाद की परिभाषा करना कठिन है। यह सिद्धांत तथा आंदोलन दोनों ही है और यह विभिन्न ऐतिहासिक और स्थानीय परिस्थितियों में विभिन्न रूप धारण करता है।

टिप्पणी

समाजवाद की विशेषताएं

समाजवाद की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक एवं सामाजिक स्वामित्व की संकल्पना इसमें है। समाजवाद में उत्पादन के साधनों का प्रयोग सामाजिक कल्याण वाले कार्यों के लिए किया जाता है तथा इसमें व्यक्तिगत लाभ की भावना शून्य रहती है।
2. उत्पादन एवं वितरण क्रियाएं राज्य द्वारा संपादित होती हैं। समाजवादी आर्थिक प्रणाली में उत्पादन एवं वितरण संबंधी क्रियाओं पर सरकार का स्वामित्व एवं नियंत्रण रहता है। क्या उत्पादन होगा, कैसे होगा, कितना होगा तथा उत्पादन का समाज में किस प्रकार वितरण होगा– संबंधी सभी फैसले सरकार स्वयं अधिकतम सामाजिक कल्याण की भावना के आधार पर करती है।
3. निजी संपत्ति का अति–सीमित अधिकार– उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य के स्वामित्व का यह अभिप्राय नहीं कि निजी संपत्ति की संकल्पना ही नहीं होती। समाजवाद में निजी संपत्ति के अधिकार का सीमित अस्तित्व तो होता है, किंतु संपत्ति का प्रयोग धनोपार्जन के लिए नहीं किया जा सकता है।

समाजवाद की विभिन्न विचारधाराएं समाजवाद के कुछ प्रमुख स्कूलों के नाम से जानी जाती हैं। जो निम्न हैं–

1. फेबियन समाजवाद– इंग्लैण्ड में मार्क्सवादी समाजवाद की अभिव्यक्ति 'सोशल डेमोक्रेटिक फ्रंट' की स्थापना से हुई है। इस संस्था के विचारों से सहानुभूति रखते हुए परंतु इससे अलग सन् 1883 में फेबियन सोसाइटी नामक संस्था की स्थापना हुई। फेबियनवाद समाजवाद का एक भिन्न विकल्प था जो यूरोप में प्रत्यक्षवादी विचारधारा की उपज था।

फेबियन शब्द सोसायटी के एक सदस्य पाडेमोर द्वारा सुझाया गया। यह शब्द प्राचीन रोम के एक महान सेनापति फेबियस क्विटम के नाम से जुड़ा था। जो अपनी सैनिक गतिविधियों में अत्यधिक सतर्कता के लिए प्रसिद्ध था। इस सोसायटी ने अपने लिए आदर्श वाक्य अपनाया– "उचित अवसर के लिए इंतजार करो।"

सन् 1887 में इस सोसाएटी ने अपने सिद्धांतों और उद्देश्यों को स्पष्ट किया। इनमें यह स्पष्ट किया गया कि फेबियन सोसाएटी समाजवादियों की संस्था है, जिसका उद्देश्य भूमि और औद्योगिक पूंजी को व्यक्तिगत और एक वर्ग के मालिकाना हक से मुक्त करके सामाजिक समुदाय को उसके सामान्य लाभ के लिए सौंपना है। यह संस्था जमीन के रूप में निजी संपत्ति की समाप्ति के लिए कार्य करती है। इसके अनुसार किराया तथा ब्याज जो कि जमींदारों और पूंजीपतियों की बिना किसी कार्य के उत्पन्न हुई आय है, समाज को हस्तान्तरित हो जानी चाहिए। उन्होंने संपत्ति को सारे समाज का फल मानते हुए उस पर समाज के नियंत्रण का समर्थन किया। अभी तक औद्योगिक आविष्कारों और अतिरिक्त आय के पूंजी में परिवर्तन का लाभ केवल समृद्ध वर्ग को ही

टिप्पणी

मिलता रहा है और मजदूर वर्ग अपनी आजीविका के लिए इसी वर्ग पर निर्भर रहा है। अतः यदि इस तरह के सुधारों को बिना किसी मुआवजे के लागू किया जाता है तो किराया तथा ब्याज श्रम से जुड़ सकते हैं और दूसरों के श्रम पर जीने वाला 'आलसी वर्ग' समाप्त हो सकता है। साथ ही आर्थिक शक्तियों से स्वाभाविक परिवर्तन द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता में कम से कम हस्तक्षेप करते हुए अवसर की समानता जुटाई जा सकती है। इसके प्रमुख समर्थकों में बर्नाड शा, सिडनी वेब, वालाम, लॉस्की आदि थे।

2. गिल्ड समाजवाद– इंग्लैण्ड में एक प्रमुख विचारधारा का जन्म हुआ जिसे गिल्ड समाजवाद कहते हैं। जिसका अर्थ 'श्रेणी समाजवाद' होता है। इसके समर्थक जी.डी. ए. कोल, हॉब्सन आदि हैं। यह औद्योगिक स्वशासन का सिद्धांत है। यह क्रियाशील गणतंत्र नाम से भी जाना जाता है। यह राज्य की जगह श्रेणीबद्ध संघों के संगठन की वकालत करता है, जिनमें राज्य एक संघ होगा। इसमें राज्य सर्वशक्तिमान नहीं होगा। यह मात्र कुछ राजनीतिक कार्यों का निर्वाह करेगा। जैसे– सुरक्षा अपराधों को रोकना, विवाह और तलाक पर नियंत्रण रखना आदि। गिल्ड समाजवाद स्वशासित 'गिल्डस की वकालत करता है। इसका केंद्रीय बिंदु आर.एन. गिलक्रिस्ट के शब्दों में "प्रत्येक उद्योग को आत्मनिर्भर होना चाहिए जहां तक कि यह संभव हो और इसका संचालन इसके शिल्पियों के हाथों में ही होना चाहिए हालांकि आधुनिक परिस्थितियों में राष्ट्रीय गिल्ड्स की आवश्यकता है ताकि बड़े पैमाने के उद्योगों का नियंत्रण कर सके।" गिल्ड समाजवादियों ने मजदूर संगठनों में उनके स्वशासन का आधार खोजा, उनके अनुसार आर्थिक शक्ति राजनीतिक सत्ता से ऊपर है और वास्तविक समाज तब तक नहीं आ सकता जब तक कि मजदूर अपने शिल्प पर नियंत्रण हासिल न कर ले।

अपनी उत्पत्ति में यह सिद्धांत शुद्ध इंग्लिश (ब्रिटिश) है। जो इंग्लैण्ड के चिंतन में एक उदारवादी सिद्धांत था, जो सिवाय एक फैशन के और कुछ नहीं था, यह राज्य को क्रांति के द्वारा उखाड़ फेंकने के सिद्धांत से सहमत नहीं है। न ही यह राज्य द्वारा औद्योगिक नियंत्रण से सहमत है, जैसा कि फेबियन या मार्क्सवादी चाहते हैं। यह मध्य मार्ग को चुनते हैं।

3. सिन्डी कालिज्म– इसका अर्थ श्रमिक संघवाद या व्यवसाय संघवाद/श्रमिक संघ आंदोलन से है जो 1900–1937 के मध्य फ्रांस में विकसित हुआ। यह फ्रेंच शब्द सिंडिकात से लिया है। जिसका अर्थ मजदूर संघ या ट्रेड यूनियन होता है। यह आंदोलन फ्रेंच ट्रेड यूनियन आंदोलन से जन्मा है। जिसका जानना है कि मजदूर संगठन और उनके संघ भावी समाजवादी व्यवस्था के आधार–स्तंभ होंगे। शुरू में इन्होंने उद्योगों पर केवल मजदूरों के नियंत्रण की वकालत की। लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के बाद इन्होंने अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करते हुए उपभोक्ताओं के नियंत्रण के अधिकार को भी मान्यता दी।

विशेषताएं

1. मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष को समर्थन देता है।
2. राज्य की समाप्ति पर बल देता है।
3. राज्य के बिना समाज की कल्पना करता है।

4. औद्योगीकरण को समर्थन देता है।
5. उद्योगों पर मजदूरों के नियंत्रण की वकालत करता है।
6. यह एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें सारी शक्तियां उत्पादकों में निहित हों।
7. ट्रेड और औद्योगिक संघ समाज के आर्थिक ढांचे के आधार स्तंभ होंगे।

टिप्पणी

संक्षेप– यह क्रांति में विश्वास करता है। यह शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक सुधारों के तरीकों में विश्वास नहीं रखता। इसका मुख्य हथियार सामान्य हड़ताल है। यह क्रांति की नीति के द्वारा राज्य रहित समाज की स्थापना चाहता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारतीय राष्ट्रवाद की चेतना को जाग्रत करने में निम्न में से किस राष्ट्रवादी विचारक की अहम भूमिका थी?

   (क) बालगंगाधर तिलक (ख) महात्मा गांधी

   (ग) विवेकानंद (घ) उपर्युक्त सभी

4. समाजवाद की विभिन्न विचारधाराओं का कितने स्कूलों (प्रमुख धाराओं) के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है?

   (क) 3 (ख) 4

   (ग) 5 (घ) 6

2.4 सांप्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता

संप्रदायवाद मूल रूप से एक विचारधारा है। संप्रदायवाद यह मानता है कि कुछ लोग किसी एक विशेष धर्म को मानते हैं इसलिए उनके भौतिक हित अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, भाषायी सांस्कृतिक आदि हित भी समान होते हैं। संप्रदायवाद में एक और धारणा निहित है जो कहती है कि किसी धर्म के अनुयायियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित दूसरे धर्म के मानने वालों के हितों से भिन्न होते हैं। संप्रदायवाद का विकृत रूप तब सामने आता है जब किसी समुदाय के लोग यह मानते हैं कि उनके हित तथा अन्य समुदाय के भौतिक हित एक समान नहीं हो सकते हैं तथा उनके हितों को लेकर टकराव होना निश्चित है।

सांप्रदायिकता का अर्थ एवं परिभाषा : सांप्रदायिकता (Communalism) की कोई सर्वमान्य व्याख्या नहीं है। इसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है और किन स्रोतों से शक्ति संचय करके यह विकसित होती है, इसके बारे में भी भिन्न–भिन्न मत व्यक्त किए गए हैं। एकमत के अनुसार, "सांप्रदायिक विद्वेष भारत के राजनीतिक भविष्य के बारे में दोनों संप्रदायों में उत्पन्न हुई चिंताओं तथा महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है।"

जे.पी. सूद के अनुसार, "सांप्रदायिक समस्या धार्मिक होने की अपेक्षा से कहीं अधिक थी, धर्म के आवरण के बावजूद यह मुख्यतः राजनीतिक ही थी।"

के.एम. अशरफ के अनुसार, "सांप्रदायिकता मजहब की सियासी दुकानदारी मात्र है।"

टिप्पणी

सांप्रदायिकता राजनीतिक कारणों से उत्पन्न हुई, यह एक गलत तथ्य है। सांप्रदायिकता एक गहरी विचारधारा है क्योंकि राजनीतिक उद्देश्य पूरा होने के बाद भी सांप्रदायिकता बनी रहती है। इसलिए राजनीतिक उद्देश्यों को केवल अस्थायी उत्प्रेरक ही माना जा सकता है।

विपिनचंद्र ने सांप्रदायिकता की परिभाषा उसके उद्‌भव और विकास का विस्तृत विवेचन किया है। उनका कहना है कि सांप्रदायिकता या सांप्रदायिक विचारधारा के तीन चरण होते हैं। पहला तत्व यह विश्वास है कि धर्म मानने वालों के सांसारिक हित– राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक एक जैसे होते हैं। दूसरा तत्व यह विश्वास है कि उनके हित अन्य धर्मों के अनुयायियों से भिन्न है। तीसरा तत्व यह विश्वास है कि उनके हित अन्य धर्मों के अनुयायियों के हितों के विरोधी हैं। संक्षेप में– जब किसी धर्म के अनुयायी अपने हितों को एक मानते हैं तथा दूसरे धर्मों के अनुयायियों से भिन्न मानते हैं और अंत में विरोधी मानते हैं तब सांप्रदायिकता का उद्‌भव होता है।

विपिनचंद्र का कहना है कि सांप्रदायिकता की विचारधारा पर ही सांप्रदायिक राजनीति खड़ी होती है। सांप्रदायिक हिंसा सांप्रदायिक विचारधारा का ही नतीजा है। उनका कहना है कि तीनों चरणों का मानव समूहों पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव से तीन प्रकार के सांप्रदायिक वर्गों का निर्माण होता है।

1. प्रथम वर्ग के सांप्रदायिक राष्ट्रवादी भी होते हैं और अपने हितों को दूसरों से भिन्न या विरोधी नहीं मानते हैं।
2. द्वितीय वर्ग के सांप्रदायिक अपने हितों को दूसरों से भिन्न मानते हैं लेकिन विरोधी नहीं मानते हैं। इनको विपिनचंद्र नरम सांप्रदायिक कहते हैं।
3. तीसरा वर्ग उग्र सांप्रदायिक है जो दूसरों के हितों को अपना विरोधी मानता है।

ये तीनों वर्ग एक दूसरे को भी प्रभावित करते हैं जिससे उनमें निरंतरता बनी रहती है।

विपिनचंद्र का निष्कर्ष है कि सांप्रदायिकता आधुनिक काल की उपज है अर्थात् जब से जन राजनीति का आरंभ हुआ उसके साथ सांप्रदायिक राजनीति का जन्म हुआ। यह इतिहास की विरासत नहीं है। सांप्रदायिकता का जन्म उसी क्षण हो जाता है जब कोई व्यक्ति या समूह दूसरे धर्म को हीन, तुच्छ या कुफ्र (पाप) समझता है। अपने धर्म को उत्तम मानना और आत्मसंतुष्टि रखना स्वाभाविक तथा उचित है, लेकिन दूसरे धर्मों का तिरस्कार, उनसे घृणा या शत्रुता सांप्रदायिकता को जन्म देती है। अशोक ने इसका सर्वोत्तम हल प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि "अगर कोई व्यक्ति अपने धर्म की वृद्धि चाहता है तो वह दूसरे धर्म का सम्मान करे।"

भारतीय संदर्भ में सांप्रदायिकता अंग्रेजों की देन रही है। उन्होंने मुस्लिम सांप्रदायिकता को जन्म दिया और उसे मजबूत बनाया जिससे वे राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर कर सकें। विभिन्न संप्रदायों में फूट डालकर उनको अलग रखा जाए जिससे वे अपने शासन को सुरक्षित रख सकें। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में बंबई के

गवर्नर 'एलफिन्सटन ने लिखा था "फूट डालो और राज करो' प्राचीन रोम की नीति थी और हमें भी उसी का अनुसरण करना चाहिए।" इस नीति का अंग्रेजों ने बड़ी चतुराई से पालन किया।

टिप्पणी

इस प्रकार सांप्रदायिकता एक विचारधारा है जिसे तात्कालिक परिस्थितियों में अंग्रेजों ने बड़े ही कूटनीतिक ढंग से उपयोग किया।

धर्मनिरपेक्षवाद : स्वतंत्र विचारों एवं स्वतंत्र चेतना से अनुशासित इस युग में व्यावहारिक निष्पक्षता एवं धर्मनिरपेक्षता (Secularism) वर्तमान युग की देन है। धर्मनिरपेक्ष राज्य में वही राज्य आता है जो अपने नागरिकों के धार्मिक विश्वासों एवं राजनीति में किसी प्रकार की बाधा पहुंचाए बिना भौतिक सुख–संपन्नता को प्रदान करने में सहायता पहुंचाता है। धार्मिक समस्याओं से तटस्थ रहकर अपना कार्य संपादित करता है। इस प्रकार के राज्य में धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं के कारण वहां की राजनीति एवं शासन कार्यों में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

परिभाषा : डोनाल्ड ई. स्मिथ– "धर्मनिरपेक्ष राज्य वह होता है जो व्यक्ति से किसी धार्मिक भावना के आधार पर नहीं वरन् उसके केवल नागरिक के रूप से संबंधित होता है जो संवैधानिक रूप से किसी भी धर्म से संबंधित नहीं होता है तथा जो किसी धर्म विशेष में न कोई हस्तक्षेप करता है और न प्रचार करता है वरन् जो व्यक्तियों व संस्थाओं को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है।"

सामंतवाद के पतन के पश्चात नए बुर्जुआ वर्ग ने इस नई विचारधारा का पक्ष लिया कि राज्य का आधार कोई विशेष धर्म नहीं होना चाहिए। धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मनिरपेक्षता शब्द का प्रचलन 1648 में आया। फ्रांस की क्रांति के पश्चात् समस्त धार्मिक संपत्ति को राज्य के अधीन मान लिया। इस प्रकार 1851 में 'जॉर्ज जेकब' होली ओंक ने धर्मनिरपेक्षतावाद शब्द प्रयोग किया। 13 अप्रैल 1853 को फ्रेंच क्रांतिकारी 'राब्सपियरे' के सम्मान में सार्वजनिक सभा के आयोजन में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा, धर्मनिरपेक्ष साहित्य तथा धर्मनिरपेक्ष इतिहास लेखन भी शुरू हुआ।

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता : भारतीय संविधान द्वारा जिस प्रकार की धर्मनिरपेक्षता की व्यवस्था की गई है, उसका रूप नकारात्मक न होकर सकारात्मक है जिसका उद्देश्य जहां एक ओर धार्मिक कट्टरता को निरुत्साहित करना है, वहां उसका उद्देश्य यह भी है कि कोई व्यक्ति अपने धर्म के पालन के नाम पर दूसरे धर्मावलम्बियों का विरोध या अनादर न करे। स्वतंत्र भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य के व्यावहारिक सिद्धांतों के अनुसार अपना विकास कर रहा है। हमारे संविधान में भारत को सार्वभौम गणतंत्रात्मक राष्ट्र घोषित किया गया है तथा उल्लेख किया गया है कि धर्म संबंधी मामलों में राष्ट्र किसी भी व्यक्ति के विचारों पर नियंत्रण नहीं करता, अतः उसे पूर्ण रूप से धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

भारतीय संविधान में भारत को धर्मनिरपेक्ष प्रजातांत्रिक राज्य की संज्ञा दी गई है। इस नीति को स्वीकार करने में नेहरू का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत के लिए धर्म शाश्वत परंपरा रही है। ऐसे में उसे धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करना मुश्किल कार्य था। डा. डी.एफ. काफका ने नेहरू की प्रशंसा करते हुए कहा है– "हिंदू संप्रदायवाद के दबावों के बावजूद भारतीय राज्य का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप बनाये रखने का श्रेय नेहरू को

ही जाना चाहिए।" नेहरू ने सदैव संविधान के आधार पर धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या की है। भारत में धर्मनिरपेक्षता को कानूनी मान्यता तो हो गई है परंतु कुछ पूर्वाग्रह हैं जो हमें यह गर्व के साथ कहने नहीं देते कि हम एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के नागरिक हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. "सांप्रदायिकता मजहब की सियासी दुकानदारी मात्र है।"– यह कथन निम्न में से किस का है?

   (क) जे.पी. सूद (ख) विपिनचंद्र

   (ग) के.एम. अशरफ (घ) इनमें से कोई नहीं

6. विपिनचंद्र के अनुसार, सांप्रदायिकता की विचारधारा के प्रभाव से कितने प्रकार के सांप्रदायिक वर्गों का निर्माण होता है?

   (क) 3 (ख) 4

   (ग) 5 (घ) 6

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (घ)
4. (क)
5. (ग)
6. (क)

2.6 सारांश

उपनिवेशवाद की परंपरा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। यूनानी ईसा पूर्व काल में ही उपनिवेश स्थापित कर चुके थे। भारतीयों के भी उपनिवेश थे उदाहरणार्थ चोल समुद्र पार गए और इंडोचीन व इंडोनेशिया में उपनिवेश स्थापित किए, कंबोडिया में प्रसिद्ध अंगकोरवाट मंदिर अथवा बाली द्वीप में रामायण की प्रस्तुति उसके प्रभाव के उदाहरण हैं। परंतु इसे प्राचीन काल में उपनिवेशवाद से जोड़ कर नहीं देखा गया।

सोलहवीं शताब्दी के आगे हमने जो देखा वह यह था– संसार के एक छोटे से हिस्से द्वारा पृथ्वी के बाकी हिस्से का समावेशन। उपनिवेशवाद ने संपूर्ण विश्व पर कुछ देशों की एक चिरस्थायी शासन पद्धति और प्रभुत्व को स्थापित किया। एक छोटी सी समयावधि में ही अपने औपनिवेशीकृत संसार के आर्थिक एकीकरण को एक गहन अनुचित व्यापार–प्रक्रिया के माध्यम से विजेता शक्तियों की अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकताओं की ओर उन्मुख किया।

टिप्पणी

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की नींव 1757 के 'प्लासी के युद्ध' के बाद पड़ी जिसका प्रारंभिक उद्देश्य यहां के उन साधनों को अपने कब्जे में लेना था जिससे प्राप्त माल इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में सरलता से बेचा जा सके। प्लासी के युद्ध से पूर्व जहां ब्रिटेन को भारत से वस्तुओं को क्रय करने हेतु भुगतान सोने और चांदी में करना होता था, वहीं इस युद्ध के बाद ब्रिटेन को भुगतान के लिए सोने, चांदी की आवश्यकता नहीं रही। अब वह भुगतान यहीं से वसूले गए धन से करता था। उपनिवेशवाद का मूल तत्व आर्थिक शोषण में निहित है, परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक उपनिवेश पर राजनीतिक नियंत्रण रखना आवश्यक नहीं है। अपितु उपनिवेशवाद का मूल स्वरूप ही आर्थिक शोषण के विभिन्न तरीकों में लक्षित होता है।

प्राचीन और आधुनिक उदारवादी विचारों की अचानक ही उत्पत्ति नहीं हुई है। उदारवाद एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। यूनान से उदारवादी विचारों की शुरुआत हुई। उन्होंने विचारों की एवं राजनीतिक स्वतंत्रता पर अपने मत व्यक्त किए। इसके पश्चात इसका प्रभाव ईसाई विचारकों पर भी पड़ा। उन्होंने भावी राजनीतिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता का बीजारोपण किया। उदारवाद ने शासित वर्ग की व्यक्तिवादी परंपरा का विरोध किया। जिसका मुख्य उद्देश्य मानव को धार्मिक अंधविश्वासों की बेड़ियों से स्वतंत्र कराना और उसमें प्राचीन युग हेतु जिज्ञासु भावना का संचार हुआ।

प्रजातंत्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें कोई राजा नहीं होता बल्कि राज्य परिचालन के लिए प्रजा द्वारा कोई एक व्यक्ति चुन लिया जाता हो। यह वह शासन व्यवस्था है जो जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा चलाई जाती है ऐसी व्यवस्था में उस चुने हुए व्यक्ति को प्रायः राजा के समान अधिकार प्राप्त होते हैं और वह प्रजा की चुनी हुई किसी सभा या समिति आदि की सहायता से कुछ निश्चित समय तक शासन का समुचित प्रबंध करता है।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपयोगितावाद की इतनी महत्वपूर्ण भूमिका रही कि इस युग को उपयोगितावादी युग कहा जाता है। एक सिद्धांत के रूप में इसका संबंध प्राचीन यूनान के 'ऐपीक्यूरियन' चिंतन के अनुसार 'मनुष्य पूर्णतया सुखवादी है, वह सुख की ओर दौड़ता है तथा दुख से बचना चाहता है'– से है। यूनानियों ने राज्य को एक नैतिक संस्था मानकर उसके उपयोगी रूप को अस्वीकार भी नहीं किया तथा मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक माना।

उपयोगितावाद में सार्वजनिक कल्याण की भावना निहित है यह कोई दार्शनिक सिद्धांत न होकर अपने समय का एक प्रकार का व्यावहारिक आंदोलन था जिसमें समाज और राज्य की परिस्थितियों के अनुसार समय–समय पर संशोधन होते रहे।

सापेक्षवाद या प्रत्यक्षवाद (Positivism) ऐसी दार्शनिक व्यवस्था है जो स्वयं को अनुभव के आंकड़ों तक सीमित रखती है जो पराभौतिक, अटकलबाजी को अस्वीकार करती है तथा विज्ञान की उपलब्धियों पर बल देती है।

प्रत्यक्षवाद का जनक 'आगस्ट कॉम्टे' को माना जाता है। आगस्ट कॉम्टे "फ्रांस के उन भाग्यशाली दार्शनिकों में से था जिन्हें 1789 ई. की राज्य क्रांति की भूकंप जैसी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विभीषिकाओं के प्रभावों की अनुभूति का अवसर प्राप्त हुआ।"

टिप्पणी

भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय 19वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ। इसका विकास इसी सदी के मध्य में और इसमें परिपक्वता सदी के अंत में आई। भारत का राष्ट्रवाद भारतीयों की अंतर्निहित सुदृढ़ और परिपक्व सांस्कृतिक एकता की समय की आवश्यकता के अनुसार कवच के रूप में विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध राजनीतिक राष्ट्रवाद के रूप में उदय हुआ।

भारत में राष्ट्रीय जागरण की प्रक्रिया में कई कारण सहायक सिद्ध हुए हैं जिनमें सामाजिक एवं धर्म सुधार आंदोलन की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। राजा राममोहन राय, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती जैसे सुधारवादियों ने भारतीयों के अंतर्मन को झकझोर दिया। भारत में सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भारतीयों को उनके सुनहरे अतीत की याद दिलाकर उनमें आत्मबल व विश्वास तथा राष्ट्रवाद की भावना को जन्म दिया। दयानंद सरस्वती ने स्वदेशी राज्य को सर्वोत्तम बताया तथा 'भारत भारतीयों के लिए है' का नारा दिया।

लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के संबंध में कहा है कि "एक सच्चा राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र का निर्माण प्राचीनता की नींव पर ही करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है, उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता।" तिलक एक महान राष्ट्रवादी नेता थे। उनका राष्ट्रवाद भारत के गौरव को पुनः स्थापित करने की धारणा पर आधारित था। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का संदेश दिया। सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के भाव को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने 'गणपति उत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' प्रारंभ किया। तिलक का कहना था कि उत्सव प्रतीक का काम करते हैं जिनसे राष्ट्रवाद की भावना पनपती है।

गांधीजी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के महानायक थे। गांधी जी ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण करके उसे अंकुरित किया, विकसित किया और पोषण भी किया। उनका राष्ट्रवाद उग्र विस्तारवादी एवं हिंसात्मक न होकर नैतिक धारणा है। उनके राष्ट्रवाद में संकीर्णता, जातीय श्रेष्ठता अथवा एकाकीपन के भाव नहीं हैं। गांधीजी सदा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना पर चले और अपने राष्ट्र प्रेम को कभी भी संकुचित नहीं होने दिया।

गांधी जी का विचार था कि जिस प्रकार देशभक्ति की भावना हमें यह सिखाती है कि व्यक्ति जिले के लिए, जिला प्रांत के लिए और प्रांत देश के लिए न्योछावर हो जाए, उसी प्रकार देश को आवश्यकता पड़ने पर विश्व की भलाई के लिए न्योछावर होने के लिए तैयार होना चाहिए।

पं. नेहरू ने राष्ट्रवाद के संबंध में कहा है कि "राष्ट्रवाद अपनी जगह पर अच्छा है लेकिन यह अविश्वसनीय मित्र व संदिग्ध सलाहकार है। यह कई घटनाओं के प्रति हमारी आंखें मूंद देता है और कभी–कभी सत्य को विदूषित कर देता है। विशेषकर तब जबकि उसका संबंध अपने देश से हो।"

नेहरू के लिए राष्ट्रवाद वास्तव में आत्म विस्तार का ही एक रूप था। उन्हीं के शब्दों में, "राष्ट्रवाद तत्वतः अतीत की उपलब्धियों, परंपराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है।"

टिप्पणी

स्वामी विवेकानंद ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन इसलिए किया क्योंकि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदंड बनेगा, उनका कहना था कि राष्ट्र की भांति महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है। अतीत की उपेक्षा राष्ट्र के जीवन का निषेध करने के समान है इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना होगा। विवेकानंद के अनुसार भारत को अपने अध्यात्म से पश्चिम विजित करना होगा उनका कहना था, "एक बार पुनः भारत को विश्व विजय करनी है। उसे पश्चिम पर आध्यात्मिक विजय करनी है।"

समाजवाद एक आर्थिक–सामाजिक दर्शन है समाजवादी व्यवस्था में धन संपत्ति का स्वामित्व और वितरण समाज के नियंत्रण के अधीन रहते हैं। आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक प्रत्यय के तौर पर समाजवाद निजी संपत्ति पर आधारित अधिकारों का विरोध करता है। उसकी एक बुनियादी प्रतिज्ञा यह भी है कि संपदा का उत्पादन और वितरण समाज या राज्य के हाथों में होना चाहिए। राजनीति के आधुनिक अर्थों में समाजवाद को पूंजीवाद या मुक्त बाजार के सिद्धांत के विपरीत देखा जा सकता है।

समाजवाद के स्वरूप को लेकर विभिन्न विचारधाराओं के जो मतभेद परिलक्षित होते हैं उसके संदर्भ में प्रो. सी.ई.एम. जोड़ ने कहा है– "समाजवाद एक ऐसी टोपी है जिसका रूप प्रत्येक व्यक्ति के पहनने के कारण बिगड़ गया है। प्रो. जोड़ के इस कथन का अभिप्राय यह है कि समाजवाद का अपना कोई वास्तविक स्वरूप नहीं होता तथा इसके स्वरूप में परिस्थितियों के अनुसार समायोजन हो जाता है।"

इंग्लैण्ड में मार्क्सवादी समाजवाद की अभिव्यक्ति 'सोशल डेमोक्रेटिक फ्रंट' की स्थापना से हुई है। इस संस्था के विचारों से सहानुभूति रखते हुए परंतु इससे अलग सन् 1883 में फेबियन सोसाइटी नामक संस्था की स्थापना हुई। फेबियनवाद समाजवाद का एक भिन्न विकल्प था जो यूरोप में प्रत्यक्षवादी विचारधारा की उपज था।

इंग्लैण्ड में एक प्रमुख विचारधारा का जन्म हुआ जिसे गिल्ड समाजवाद कहते हैं। जिसका अर्थ 'श्रेणी समाजवाद' होता है। इसके समर्थक जी.डी.ए. कोल, हॉब्सन आदि हैं। यह औद्योगिक स्वशासन का सिद्धांत है। यह क्रियाशील गणतंत्र नाम से भी जाना जाता है। यह राज्य की जगह श्रेणीबद्ध संघों के संगठन की वकालत करता है, जिनमें राज्य एक संघ होगा। इसमें राज्य सर्वशक्तिमान नहीं होगा। यह मात्र कुछ राजनीतिक कार्यों का निर्वाह करेगा। जैसे– सुरक्षा अपराधों को रोकना, विवाह और तलाक पर नियंत्रण रखना आदि। गिल्ड समाजवाद स्वशासित 'गिल्डस की वकालत करता है।

श्रमिक संघवाद या व्यवसाय संघवाद/श्रमिक संघ आंदोलन से है जो 1900–1937 के मध्य फ्रांस में विकसित हुआ। यह फ्रेंच शब्द सिंडिकात से लिया है। जिसका अर्थ मजदूर संघ या ट्रेड यूनियन होता है। यह आंदोलन फ्रेंच ट्रेड यूनियन आंदोलन से जन्मा है। जिसका जानना है कि मजदूर संगठन और उनके संघ भावी समाजवादी व्यवस्था के आधार–स्तंभ होंगे। शुरू में इन्होंने उद्योगों पर केवल मजदूरों के नियंत्रण की वकालत की। लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के बाद इन्होंने अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करते हुए उपभोक्ताओं के नियंत्रण के अधिकार को भी मान्यता दी।

टिप्पणी

संप्रदायवाद मूल रूप से एक विचारधारा है। संप्रदायवाद यह मानता है कि कुछ लोग किसी एक विशेष धर्म को मानते हैं इसलिए उनके भौतिक हित अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, भाषायी सांस्कृतिक आदि हित भी समान होते हैं। संप्रदायवाद में एक और धारणा निहित है जो कहती है कि किसी धर्म के अनुयायियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित दूसरे धर्म के मानने वालों के हितों से भिन्न होते हैं। संप्रदायवाद का विकृत रूप तब सामने आता है जब किसी समुदाय के लोग यह मानते हैं कि उनके हित तथा अन्य समुदाय के भौतिक हित एक समान नहीं हो सकते हैं तथा उनके हितों को लेकर टकराव होना निश्चित है।

स्वतंत्र विचारों एवं स्वतंत्र चेतना से अनुशासित इस युग में व्यावहारिक निष्पक्षता एवं धर्मनिरपेक्षता वर्तमान युग की देन है। धर्मनिरपेक्ष राज्य में वही राज्य आता है जो अपने नागरिकों के धार्मिक विश्वासों एवं राजनीति में किसी प्रकार की बाधा पहुंचाए बिना भौतिक सुख–संपन्नता को प्रदान करने में सहायता पहुंचाता है। धार्मिक समस्याओं से तटस्थ रहकर अपना कार्य संपादित करता है। इस प्रकार के राज्य में धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं के कारण वहां की राजनीति एवं शासन कार्यों में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

भारतीय संविधान द्वारा जिस प्रकार की धर्मनिरपेक्षता की व्यवस्था की गई है, उसका रूप नकारात्मक न होकर सकारात्मक है जिसका उद्देश्य जहां एक ओर धार्मिक कट्टरता को निरुत्साहित करना है, वहां उसका उद्देश्य यह भी है कि कोई व्यक्ति अपने धर्म के पालन के नाम पर दूसरे धर्मावलम्बियों का विरोध या अनादर न करे। स्वतंत्र भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य के व्यावहारिक सिद्धांतों के अनुसार अपना विकास कर रहा है। हमारे संविधान में भारत को सार्वभौम गणतंत्रात्मक राष्ट्र घोषित किया गया है तथा उल्लेख किया गया है कि धर्म संबंधी मामलों में राष्ट्र किसी भी व्यक्ति के विचारों पर नियंत्रण नहीं करता, अतः उसे पूर्ण रूप से धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

2.7 मुख्य शब्दावली

- **उपनिवेशवाद** : किसी शक्ति का अपने अधीनस्थ क्षेत्रों पर नियंत्रण।
- **दोहन** : शोषण।
- **प्रोत्साहन** : बढ़ावा देना।
- **सामंत** : राजा को कर देने वाला भूमिपति।
- **प्रत्यक्षवाद** : एक दार्शनिक व्यवस्था।
- **आक्रांता** : आक्रमण करने वाला।
- **संरक्षक** : देखभाल करने वाला।
- **पृथक** : अलग।
- **उपेक्षा** : तिरस्कार।
- **आकांक्षा** : इच्छा।

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

टिप्पणी

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. उदारवाद को परिभाषित कीजिए।
2. प्रजातंत्र से आप क्या समझते हैं?
3. भारतीय राष्ट्रवाद के प्रमुख विचारकों के नाम बताइए।
4. समाजवाद के प्रमुख स्कूलों (प्रमुख विचारों) के नाम लिखिए।
5. धर्मनिरपेक्षवाद को परिभाषित कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. उपनिवेशवाद और नए राजनीतिक विचारों यथा उदारवाद, प्रजातंत्रवाद, उपयोगितावाद एवं प्रत्यक्षवाद का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय राष्ट्रवाद एवं समाजवाद की विवेचना कीजिए।
3. सांप्रदायिकता एवं धर्मनिरपेक्षता के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कीजिए।
4. सांप्रदायिक विचारधारा के चरणों का उल्लेख कीजिए।

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
2. शर्मा हरिश्चंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
3. विद्यालंकार सत्केतु, प्राचीन भारत की शामन पद्धति और राजशास्त्र, नई दिल्ली।
4. वी.सी. पांडे, प्राचीन भारत का इतिहास।
5. एस.एल. शाह, भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था, कब क्यों और कैसे, सरिता बुक हाउस, दिल्ली।
6. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, एस चंद्र एंड कंपनी प्रा. लि., दिल्ली।
7. डॉ. के.एल. खुराना, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
8. डॉ. के.एल. खुराना, आर.के. बंसल, इतिहास लेखन धारणाएं तथा पद्धतियां, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
9. वी.डी. महाजन, मध्यकालीन भारत, एम चंद्र एंड कंपनी प्रा.लि., दिल्ली।
10. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – 1707 से वर्तमान तक, एस. चंद्र एंड कंपनी लि., दिल्ली।
11. डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, विचारों का इतिहास, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस।

टिप्पणी

12. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.
13. रविंदर कुमार, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 1997.
14. डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्मदर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1996.
15. डॉ. ए.के. चतुर्वेदी, यूनीफाइड इतिहास, बी.ए. तृतीय वर्ष, एम.बी.पी.डी. पब्लिकेशन।

इकाई 3 सामाजिक विचार

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय

3.1 उद्देश्य

3.2 धर्मतंत्र की प्रारंभिक संरचना एवं न्यायसंगत व्याख्या : वर्ण, जाति, परिवार और नारी

- 3.2.1 वर्ण व्यवस्था
- 3.2.2 जाति व्यवस्था
- 3.2.3 परिवार और नारी

3.3 औपनिवेशिक भारत में जाति विरोधी आंदोलन : सत्यशोधक समाज, श्री नारायण आंदोलन, आत्मसम्मान आंदोलन

- 3.3.1 भारत में जाति विरोधी आंदोलनों का इतिहास
- 3.3.2 औपनिवेशिक काल में जाति विरोधी आंदोलनों का विकास
- 3.3.3 सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले
- 3.3.4 श्री नारायण आंदोलन
- 3.3.5 आत्मसम्मान आंदोलन

3.4 राष्ट्रवाद के सामाजिक आधार

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

3.6 सारांश

3.7 मुख्य शब्दावली

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

सृष्टि की स्थापना के साथ ही मनुष्य को अदृश्य सत्ता ने प्रभावित किया है। वैदिक आर्यों ने इस प्रकृति की शक्ति से रोमांचित एवं भयभीत होकर उसे उपासना का स्वरूप देकर उसका मानवीकरण कर दिया और इसी आस्था, विश्वास, भक्ति ने धर्म का रूप ले लिया। अपनी आत्मिक शांति एवं ईश्वर के प्रति अपनी भावनाओं को प्रकट करने के लिए पूजा–पाठ, यज्ञ, कर्मकांड एवं पुरोहितों के महत्व की शुरुआत हुई।

क्रमशः सामाजिक परंपराओं का विकास हुआ तथा धर्म समाज एवं राज्य का महत्वपूर्ण अंग बन गया। मनुष्य में नैतिकता एवं वह समाज के नियमों का सही ढंग से पालन कर सके इसलिए धार्मिक क्रियाकलापों का समावेश किया गया।

समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न न हो इसके लिए वर्ण व्यवस्था की परिकल्पना की गई। समाज के विभिन्न वर्गों के बीच उनकी योग्यता के अनुसार व्यवसायों को बांट दिया गया परंतु कालान्तर में यह व्यवस्था जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गई।

परिवार में नारी की भूमिका सदियों से महत्वपूर्ण रही है। वह परिवार की धुरी रही है और सदैव रहेगी।

टिप्पणी

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक विचारों के अंतर्गत धर्मतंत्र की संरचना एवं न्यायसंगत व्याख्या, वर्ण, जाति, परिवार व नारी व्यवस्था, औपनिवेशिक भारत में जाति विरोधी आंदोलन, सत्यशोधक समाज तथा राष्ट्रवाद के सामाजिक आधार आदि तथ्यों का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्राचीन भारतीय विचारधारा से परिचित हो पाएंगे;
- प्राचीन भारत में धर्मतंत्र के विस्तार से अवगत हो पाएंगे;
- वर्ण व्यवस्था का अध्ययन कर पाएंगे;
- जाति व्यवस्था प्रणाली को समझ पाएंगे;
- प्राचीन भारत में परिवार की स्थिति पर विचार कर पाएंगे;
- प्राचीन भारत में 'नारी' की स्थिति का अध्ययन कर पाएंगे।

3.2 धर्मतंत्र की प्रारंभिक संरचना एवं न्यायसंगत व्याख्या : वर्ण, जाति, परिवार और नारी

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से 'मन्' प्रत्यय लगाने से बना है जिसका अर्थ है– धारण करना या ग्रहण करना। अर्थात् जो लोक को धारण करे या जिसमें लोक धारण किया जाए वही धर्म है। 'धर्म' एक परंपरा के मानने वालों का समूह है। धर्म का व्यावहारिक रूप में अर्थ है– "कर्तव्य अर्थात् जीवन भर अपने कर्तव्यों का पालन निष्ठा के साथ करना ही धर्म है।" मनुष्य रूप में जो भी कार्य हमारे समक्ष प्रस्तुत हो उसके साथ पूर्ण ईमानदारी का निर्वहन करना।

धर्मतंत्र की प्रारंभिक संरचना

धर्म व अध्यात्म भारतीय संस्कृति व जीवन के सदैव प्रमुख अंग रहे हैं और प्रत्येक काल में मानव ने उन्हें किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। धार्मिक आस्था के अभाव में समाज तत्वों का समूह मात्र रह जाएगा क्योंकि ईश्वर के मध्य से ही व्यक्ति धर्म की ओर आकर्षित होता है और यह विचार करता है कि सद्कर्म ही उसे आवागमन के बंधन से मुक्ति दिला कर मोक्ष के मार्ग की ओर प्रशस्त करते हैं। कुछ विद्वानों की यह धारणा भी है कि व्यक्ति का ईश्वर के प्रति झुकाव और धर्म में आस्था का मूल कारण भय, आकर्षण और स्वार्थ है।

भारत में धार्मिक अवधारणा सिंधु घाटी सभ्यता से मिलती लगती है जहां 'मातृदेवी' की उपासना के साक्ष्य मिलते हैं। वहीं सिंधु घाटी सभ्यता से जैन धर्म के अस्तित्व की भी जानकारी मिलती है। ऋग्वेद के अध्ययन से भी स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म बहुदेववाद पर आधारित था। वैदिक काल में मनुष्य ने प्रकृति के मानवीकरण के द्वारा अपने देवताओं को प्रतिष्ठित कर लिया था। प्रकृति के वे तत्व जो उसे अपनी ओर आकर्षित करते थे।

टिप्पणी

कालान्तर में कर्म और भक्ति को भी मोक्ष के साधन के रूप में मान्यता प्रदान की गई एवं तप, मोक्ष और पुनर्जन्म को भी महत्व दिया जाने लगा। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'हिंदू सभ्यता' में लिखा है– "उत्तर वैदिक काल में हिंदुत्व के प्रमुख सिद्धांत कर्म, माया और मुक्ति अर्थात् ब्रह्मा में लीन होना आदि का प्रतिपादन हो गया था।" धर्म में सत्य भाषण, भक्ति और पवित्रता को महत्व दिया गया।

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ई.पू. का काल धार्मिक क्रांति का काल था। जैन धर्म बौद्ध धर्म ने धर्म के स्वरूप की नवीन व्याख्या की। उन्होंने कर्मकांड एवं धार्मिक आडंबरों का विरोध कर धर्म के द्वार प्रत्येक मनुष्य के लिए खोल दिए।

इस प्रकार विभिन्न धर्मों ने अपने अपने ढंग से धर्म की अवधारणा को व्यक्त किया है। मोनियर विलियम्स ने लिखा है– "हिंदू संस्कृति का मुख्य वाहक संस्कृत भाषा है, यद्यपि भारत में पांच सौ से अधिक बोलियां हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है, जिसे हिंदू धर्म के सभी अनुयायी चाहे वे जाति–पांति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से कितने भिन्न हों, मानते हैं, श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत है। वह साहित्य संस्कृत साहित्य है। वही वेद विश्वजनीन ज्ञान का एक मात्र कोश है। हिंदू धर्म दर्शन, व्यवहार शास्त्र और गाथा शास्त्र का एक मात्र साधन वही है। केवल वही एक ऐसा दर्पण है जिसमें हिंदुओं के सभी मत मतांतर रीति–रिवाज और प्रथाएं ठीक–ठीक प्रतिबिंबित हुई हैं।"

धर्म की न्यायसंगत व्याख्या– भारतीय परंपरा में धर्म को सर्वोच्च माना गया है। प्राचीन ग्रंथों में इसकी विभिन्न व्याख्याएं की गई हैं। उपनिषद में इसके 10 स्वरूप धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध उल्लेखित हैं।

"जप, व्रत, हवन, यज्ञ आदि धार्मिक कर्मों के सर्वांग स्वरूप को धर्म कहा गया है।" ऐतरेय ब्राह्मण महर्षि वाल्मीकि के अनुसार – "धर्म से अर्थ प्राप्त होता है, धर्म से सुख का उदय होता है, धर्म से ही मनुष्य सब कुछ पाता है, इस संसार में धर्म ही सार है।"

धर्म एक शाश्वत परंपरा रही है, यह अध्यात्म एवं मन का स्वरूप है। धर्म और मनुष्य का एक दूसरे से गहरा नाता है जो हमें जन्मजात पारिवारिक संस्कारों के रूप में मिलता है। ईश्वर के प्रति आस्था और भक्ति ही हमारे जीवन को संपूर्ण बनाती है। इसे पूर्णता देने हेतु मनुष्य अनेक कर्मकांड, मंदिर और मूर्तियों के रूप में स्थापित भगवान का सहारा लेते हैं। यही मनुष्य की आस्था का सबसे बड़ा केंद्र होते हैं।

धर्म व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक चिंतकों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है, जिसका आधार सदैव 'अध्यात्म' रहा, धार्मिक आस्थाएं रहीं। मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर चिंतन और विचार कर धर्म के क्षेत्र में सदैव सृजन करता रहा। धर्म की व्याख्या हमारे अंदर रोमांच और भय के साथ होती है। कहीं न कहीं हमारे अंदर का भय भी धर्म की ओर मनुष्य को अग्रेसित करता रहा है इसलिए हर काल में इसकी नवीन व्याख्या का निरूपण होता है। धर्म रहस्य का भी विषय है। ईश्वर की व्याख्या को प्रत्येक युग में विभिन्न धर्मों के महापुरुषों के द्वारा अपने ढंग से प्रस्तुत किया गया है और मनुष्य उन महापुरुषों के मार्ग की खोज करते हैं। सभी धर्मों के रास्तों एवं मतों में अंतर हो सकता है। परंतु सभी इस सृष्टि के सृजनकर्ता की खोज में ही लगे हुए हैं।

टिप्पणी

समसामयिक संदर्भ में भी चिंतन करें तो यह दृष्टिगत होता है कि धर्म मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। देवी, देवता, अवतार स्वरूपों की पूजा अर्चना होती है। धार्मिक आस्थाओं का स्वरूप बदला जरूर है परंतु मूल में वही सदियों से चली आ रही परंपरा है। भारतीय धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह आज भी अपने मूल स्वरूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और यही हमारी संस्कृति का आधार है जो हमारे अंतस मन में आज भी विद्यमान है।

मनुष्य जब धर्म को धारण करता है तब वह 'कर्तव्यनिष्ठ' हो जाता है। वह अपने कर्तव्यों के पालन को ही अपना धर्म समझता है। वह अध्यात्म के मार्ग से भक्ति भाव से बुद्धिसंगत विचार करते हुए विवेचन करते हुए अपने जीवन की गति को आगे बढ़ाता है।

धर्म के समक्ष सभी नतमस्तक होते हैं। कर्म योग के माध्यम से वह सांसारिकता पूर्ण कष्टों से दूर रहकर सुख शांति चाहता है। जो उसे अध्यात्म चिंतन ही प्रदान करता है। प्रत्येक धर्म विश्वासपूर्वक इन्हीं अवधारणाओं से आगे बढ़ता है। जहां मानवतावाद, सद्भाव, समरसतायुक्त, समाज होता है। वस्तुतः धर्म सांसारिक जीवन का आईना होता है। जिसमें व्यक्ति अध्यात्मस्वरूप भक्तिमात्र को विचारानुरूप देखता है।

धर्म, सुख, शांति एवं भय की मिली–जुली प्रकृति है। प्रत्येक मनुष्य इसकी प्रकृति में इनको तलाशता है।

3.2.1 वर्ण व्यवस्था

वर्ण शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से निकलता है। जिसका शाब्दिक अर्थ वरण करना या चुनना है। अतः इसका तात्पर्य वृत्ति या व्यवसाय के चयन से है। वर्ण शब्द का प्रारंभ ऋग्वैदिक काल में हुआ। प्राचीन साहित्य में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। वर्ण व्यवस्था को दैवी व्यवस्था मानने का सिद्धांत ऋग्वेद, महाभारत, गीता आदि में मिलता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में 'पुरुष सूक्त' में सर्वप्रथम शूद्र शब्द का उल्लेख मिला है। पुरुष सूक्त में चारों वर्णों को विराट पुरुष के चारों अंगों से उत्पन्न कहा है–

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु राजन्यः कृतः।

उरुतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।।"

अर्थात् विराट पुरुष (ईश्वर) के मुखारबिंद से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई है। ऋग्वैदिक सिद्धांत में संपूर्ण सामाजिक संगठन को एक शरीर के रूप में कल्पित किया गया है।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

1. **दैवी सिद्धांत**– इस सिद्धांत की उत्पत्ति का वर्णन ऋग्वेद, महाभारत, गीता, मनुस्मृति, विष्णु, मत्स्य, ब्राह्मण तथा वायु पुराण में मिलता है। महाभारत के शांति पर्व में इसका उल्लेख मिलता है। ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति की जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लोहित, पीत, काला था। रंग का यह सिद्धांत व्यक्ति के गुण एवं कर्म से भी संबद्ध किया गया। मनु स्मृति ने वर्ण व्यवस्था का संबंध कर्म से जोड़ा है। मनु ने ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च माना है

टिप्पणी

एवं शूद्र का स्थान सबसे नीचा मानते हुए अन्य सभी वर्णों को ऊपर की ओर निर्धारित किया है।

2. **गुण का सिद्धांत**– इस सिद्धांत के आधार पर वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति गुण के आधार पर हुई है। सांख्य दर्शन में लिखा है कि समस्त प्रकृति में सत्, रज तथा तम, तीन तत्व होते हैं। मानव का विभाजन भी इन तीन गुणों के आधार पर किया जा सकता है। किस व्यक्ति में किस गुण की प्रधानता होगी, यह उसके स्वभाव पर निर्भर करता है।
3. **कर्म का सिद्धांत**– समाज में प्रत्येक वर्ण का कार्य सामाजिक जीवन के लिए उतना ही महत्वपूर्ण था, जितना व्यक्ति के जीवन के लिए प्रत्येक अंग का कार्य होता है। उपनिषदों में तो यह दिया हुआ है कि मनुष्य जो जीवन जीता है वह पूर्व जन्म में किए कर्मों का ही प्रतिफल है। अतः अच्छे कर्म करने वालों का जन्म उच्च वर्ण में होता है एवं बुरे कर्म करने वाले का निम्न वर्ण में।
4. **जन्म का सिद्धांत**– कुछ विद्वान वर्णों की उत्पत्ति जन्म के आधार पर मानते हैं। जन्म से व्यक्ति स्वाभाविक रूप में जन्मजात प्रवृत्तियों से युक्त होता है। इसमें वंशानुगत गुण प्रमुख होते हैं। वंशानुगत रूप में प्राप्त जन्मजात प्रवृत्तियों की सीमाओं का कोई भी व्यक्ति उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि, वे उसके स्वभाव तथा आचरण में निहित होते हैं।

वर्ण व्यवस्था का विकास– ऋग्वैदिक कालीन इतिहास में अस्तित्व में आई वर्ण व्यवस्था इतिहास की गति के साथ–साथ ही विकसित होती गई। ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का मूल आधार कर्म था। इस समय विभिन्न वर्णों के व्यवसाय खान–पान एवं विवाह आदि में कोई प्रतिबंध दिखाई नहीं देता है। ऋग्वेद में वर्णित एक ऋषि का कथन है कि "मैं कवि हूं मेरी मां अन्न पीसने का कार्य करती है एवं मेरे पिता वैद्य हैं।" इस प्रकार वर्ण व्यवस्था में ऋग्वैदिक काल में जटिलता का अभाव था।

उत्तरवैदिक काल में ही सर्वप्रथम विभिन्न वर्णों के मध्य भेदभाव के लक्षण दिखने लगने लगते हैं। सूत्र काल में वर्ण व्यवस्था में आंशिक कठोरता की भावना दृष्टिगोचर होती है। इस काल में प्रत्येक वर्ण का कर्तव्य निर्धारित कर दिया गया। वर्ण व्यवस्था इस काल में कर्म के स्थान पर जन्म के आधार पर निर्धारित की गई।

बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म को न मानकर कर्म को माना है। महाकाव्यकालीन वर्ण व्यवस्था उदार थी। महाभारत में विदुर, मतंग जन्म से शूद्र थे परन्तु अपने कार्यों से प्रतिष्ठित थे।

मौर्यकाल, गुप्तकाल तक अनेक संकर जातियों का उद्भव प्रारंभ हो गया। मेधातिधि, कुल्लुक, विश्व रूप एवं अपरार्क आदि ने इन परिस्थितियों में वर्ण व्यवस्था को नवीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में जीवन्तता प्रदान की। पूर्व मध्यकाल में अर्थात् राजपूत युग में परंपरागत वर्ण विभिन्न जातियों एवं उपजातियों में विभिक्त हो गए। धीरे–धीरे यह व्यवस्था अत्यधिक जटिल हो गई।

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था ने समाज को व्यवस्थित आधार प्रदान किया। अपने कार्य और योग्यता के अनुसार व्यक्ति किसी भी वर्ण को अपना सकता था परंतु बाह्य आक्रमणकारियों के कारण इसमें जटिलता उत्पन्न हो गई।

टिप्पणी

विभिन्न वर्णों की स्थिति

1. **ब्राह्मण**– वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च स्थान पर था। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक और आर्थिक क्षेत्र में ब्राह्मण विशेषाधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मणों का कार्य वेद पढ़ना, यज्ञ करना और करवाना, दान देना तथा लेना था। ब्राह्मण से त्याग, कर्तव्यपरायणता, साधन और बौद्धिक श्रेष्ठता की अपेक्षा की जाती थी। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा पराक्रमी ब्राह्मण थे।

2. **क्षत्रिय**– ब्राह्मण के पश्चात क्षत्रिय वर्ण का दूसरा स्थान था। ऋग्वेद में इसे 'क्षत्र' कहा गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'क्षत' अर्थात् 'शनि' से रक्षा करने वाला होता है। गीता में कृष्ण ने क्षत्रिय वर्ग के स्वाभाविक कर्मों के बारे में कहा है–

"शौर्यं तेजो धृतिदक्षियं, युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।"

गीता 18/43

"अर्थात शौर्य, तेज, धैर्य चातुर्य, युद्ध क्षेत्र से न भागना, दान देना तथा ईश्वर भक्ति आदि क्षत्रिय वर्ण के स्वाभाविक कर्म हैं।"

3. **वैश्य**– वैश्य वर्ण का समाज में तृतीय स्थान था जिस प्रकार शरीर में उदर भोजन पचाकर जो रस आदि बनाने में सहायक होता है उसी प्रकार वैश्य द्वारा उत्पन्न गोरस आदि समाज के अन्य वर्गों के लिए भी होता था। उनका कार्य कृषि करना, पशुपालन, धार्मिक कार्य व व्यापार आदि था।

4. **शूद्र**– समाज में निम्न वर्ण शूद्र था। उसे शरीर में पैरों की संज्ञा दी गई थी। वह अधिकार विहीन था। अन्य सभी वर्णों की सेवा करना उसका धर्म होता था। उसकी अपनी कोई संपत्ति नहीं होती थी।

वर्ण व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं

1. वर्ण–व्यवस्था परंपरागत हो गई।
2. वर्ण–व्यवस्था को व्यवसाय और जन्म पर आधारित बना दिया गया।
3. शूद्रों की गणना आर्य वर्ण में की जाने लगी।
4. वर्णगत नियमों को तोड़ना कठिन था।
5. अनुलोम प्रकार का विवाह प्रमुख था।
6. समाज में एक ही प्रकार का विवाह प्रचलित था।
7. व्यक्तिगत संबंध भी वर्ण के आधार पर निर्धारित थे।
8. संकर जातियों का आविर्भाव हुआ।

वर्ण व्यवस्था के गुण व दोष

1. वर्ण व्यवस्था एकता की स्थापना में सहायक बनी।
2. अपने–अपने कर्म में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त थी तथा उन्हें अपने विकास करने के भी समान अवसर दिए गए थे।

टिप्पणी

3. भारतीय हिंदू धर्म और संस्कृति की रक्षा में भी वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान था।
4. ब्राह्मण वर्ण धनोपार्जन और सुरक्षा की चिंता से मुक्त होने के कारण सदैव आध्यात्मिक चिंतन के द्वारा समाज के कल्याण में संलग्न रहता था।
5. वर्ण व्यवस्था के कारण ही प्रत्येक वर्ण के लोग अपने–अपने कार्य में अत्यंत दक्ष हो गए थे। वंशानुगत रूप से एक ही कार्य में संलग्न रहने के कारण व्यक्ति की कार्यकुशलता में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी।

अतः वर्ण व्यवस्था भारत के लोगों के लिए हितकर सिद्ध हुई परंतु इसका तात्पर्य यह कदाचित् नहीं है कि इसमें दोष नहीं था।

दोष

1. जन्म पर आधारित होने के कारण वर्ण व्यवस्था अनैतिक है।
2. यदि कोई व्यक्ति शूद्र परिवार में पैदा हो जाता है तब उसे सदैव के लिए निम्न कोटि का मानना असंगत है।
3. वर्णों के मध्य संकीर्णता की भावना के कारण परस्पर एकता समाप्त हो गई और अनेकता का प्रादुर्भाव हुआ।
4. वर्ण व्यवस्था के कारण विदेशियों और भारतीयों के मध्य परस्पर संबंध स्थापित नहीं हो सके।
5. वर्ण व्यवस्था के कारण राष्ट्रीय भावना के उदय में बाधा उत्पन्न हुई।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व था। परंतु वास्तव में जैसाकि कुछ विद्वानों का मत है कि यह वर्ण व्यवस्था प्रारंभ में एक सिद्धांत के रूप में थी, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में इस व्यवस्था को न तो अक्षरशः लागू किया जा सकता था और न ही किया गया। श्री एस. नटराजन के अनुसार, "भारतवर्ष में हिंदुओं के हृदय में यह भावना रही है कि वर्ण व्यवस्था होनी चाहिए पर वास्तव में वह हुई कभी नहीं।"

3.2.2 जाति व्यवस्था

"जाति परिवारों के समूह को कहते हैं। जो धार्मिक संस्कारों और विशेषकर भोजन और विवाह संबंधी रीतियों की पवित्रता के लिए एकत्र होते हैं।"

डॉ. वी.ए. स्मिथ

उत्पत्ति– हिंदुओं में वर्ण व्यवस्था की तरह जाति व्यवस्था भी एक सामाजिक संस्था है। Caste शब्द पुर्तगाली शब्द 'Casta' से निकला है इसका अर्थ प्रजाति अथवा नस्ल है। इस शब्द का लैटिन शब्द 'Castus' से भी निकट संबंध स्वीकार किया जाता है जिसका तात्पर्य 'अमिश्रित' अथवा 'जाति' से है। वास्तव में जाति से तात्पर्य एक विशिष्ट आनुवंशिक जातीय समूह से है जो विभिन्न सामाजिक प्रथाओं पर आधारित है।

परिभाषा

1. चार्ल्स कूले के अनुसार, "जब कोई एक वर्ग पूर्णरूप से आनुवंशिक होता है तो हम उसे एक जाति कह सकते हैं।"

टिप्पणी

2. क्रोबर के अनुसार, "एक जाति मनुष्य की इकाई का अन्तर्विवाह वाला और वंशानुगत वह छोटा भाग है जिसकी मर्यादा ऊंची या नीची है अथवा जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा दूसरे छोटे हिस्सों के मुकाबले में ऊंची या नीची है।"
3. श्री मदन और मजूमदार के अनुसार, "जाति एक बंद व्यवस्था है।"

जाति की उत्पत्ति के सिद्धांत

जाति की उत्पत्ति के निम्न सिद्धांत हैं–

1. **प्रजातीय उत्पत्ति का सिद्धांत**– आधुनिक समाजशास्त्रियों के अनुसार जाति प्रथा के विकास में प्रजातीय तत्वों की अहम भूमिका रही है। प्रजाति से तात्पर्य ऐसे मानवों के समूह से है, जिन्हें प्राणी विज्ञान के कुछ सामान्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर दूसरों से पृथक किया जाता है। ये समूह अलग–अलग स्थानों पर बिखरे होने के बावजूद भी एक ही प्रजाति का निर्माण करते हैं।
2. **व्यावसायिक उत्पत्ति का सिद्धांत**– प्राचीन भारत में बहुत–सी जातियां व्यावसायिक थीं। कुंभकार, स्वर्णकार, लुहार आदि। इन्हीं व्यावसायिक श्रेणियों ने जाति का रूप ले लिया।
3. **ब्राह्मण उत्पत्ति का सिद्धांत**– डुबायसन इबेटसन एवं घुरिए इत्यादि ने जाति प्रथा की उत्पत्ति को निहित स्वार्थों को साधने के लिए ब्राह्मण वर्ग के मस्तिष्क की उपज बताया है। जिन्होंने समाज में अपनी उच्चता एवं श्रेष्ठता को कायम रखने के लिए जाति प्रथा का ताना बाना बुना। विभिन्न जातियों के व्यवसाय को सुनिश्चित कर उस पर अपनी शास्त्रीय मान्यता की मुहर लगा दी ताकि उनके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना सभी जातियों के लिए अनिवार्य हो।
4. **भौगोलिक उत्पत्ति का सिद्धांत**– भौगोलिक उत्पत्ति के सिद्धांत के समर्थकों में गिल्बर्ट का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इनके अनुसार विभिन्न भौगोलिक परिवेश में रहने वालों की उनके परिवेश के अनुसार ही जातियां बन गईं।

भारतीय जाति की विशेषताएं

भारतीय इतिहास की प्रमुख विषयवस्तु जाति व्यवस्था की विशेषताओं पर 'एन.के. दत्त' महोदय ने जानकारी दी है। उनका मानना है कि हर समाज और समूह अपनी कुछ विशिष्टताएं लिए होता है।

1. एक जाति का सदस्य अपनी जाति के बाहर दूसरी जाति में विवाह नहीं कर सकता है।
2. विभिन्न जातियां अन्य जातियों के साथ खान–पान पर प्रतिबंध रखती हैं।
3. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं।
4. जातियों में ऊंच–नीच की भावना व्याप्त रहती है एवं इन जातियों में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च है।
5. मनुष्य की जाति का निर्धारण उसके जन्म से होता है, उसे अपनी जाति के नियमों का पालन करना होता है।

6. एक जाति से दूसरी जाति में संक्रमण संभव नहीं।

डॉ. घुरिए के अनुसार जाति व्यवस्था की विशेषता

1. समाज का खण्डनात्मक विभाजन
2. संस्तरण
3. भोजन और सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध
4. विभिन्न जातियों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताएं तथा विशेषाधिकार।
5. पेशों के अप्रतिबंधित चुनाव का अभाव।
6. विवाह संबंधी प्रतिबंध।

टिप्पणी

जाति व्यवस्था का विकास– प्राचीन काल में व्यवस्था प्रथा आसानी से बदली जा सकती थी। कोई भी व्यक्ति एक से दूसरे वर्ण में जा सकता था। प्रसिद्ध परशुराम जन्म से ब्राह्मण किंतु कर्म से क्षत्रिय थे। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय किंतु कर्म से ब्रह्मर्षि बन गए। 'वशिष्ठ' वेश्या की संतान थे। महाभारत के प्रसिद्ध मूल लेखक व्यास धीवरी के पुत्र थे। पराशर ऋषि चंडाल के पुत्र थे। ऋग्वेद के एक स्त्रोत के रचयिता का कथन है– "मैं स्त्रोतों का रचयिता हूं, मेरा पिता वैद्य है और मां चक्की पीसती है।" हम सभी विभिन्न कार्यों में लगे हैं। समय के साथ–साथ जाति कठोर होती गई। कालान्तर में जातियां कर्मगत न होकर जन्मगत हो गईं।

जाति का यह बंधन बाद के वैदिक समाज में भी आ गया। समय के साथ–साथ जाति प्रथा का विस्तार होता गया। बौद्ध और जैन का एक अलग वर्ग बन गया। जब यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया तो आर्यों ने उनके साथ मिलना स्वीकार न किया और उन्हें यवन कह कर पुकारा किंतु बाद में जब इण्डो–बैक्ट्रियन और इंडो–पार्थियन भारत में बस गए और हिंदू समाज में घुल–मिल गए तो निवास की पारस्परिक विशेषताओं के कारण अलग ही उपजातियां बन गईं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास के अंतिम दौर में अनेकानेक जातियों का उद्‌भव हुआ। मध्यकालीन भारतीय इतिहास में भारत में मुस्लिम शासन काल में हिंदुओं की अनेकानेक जातियों में मुस्लिमों की अनेक जातियां सम्मिलित हो गईं। आधुनिक भारतीय इतिहास में हम देखते हैं कि अंग्रेजों ने हिंदू–मुस्लिम जातियों के वैमनस्य को अपने हितों में भुनाया। 'फूट डालो एवं राज करो' की नीति का अनुसरण कर न केवल भारत में अपनी जड़ें मजबूत कीं अपितु हिंदू एवं मुस्लिम जातियों के बीच की खाई को और अधिक चौड़ा किया।

जाति व्यवस्था के गुण

1. श्रम विभाजन और कार्य विभाजन के सिद्धांत पर जाति प्रथा आधारित थी।
2. जाति व्यवस्था ने प्राचीन युगों में व्यापार और विभिन्न प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों में प्रतिस्पर्धा के दुर्गुणों को कम कर दिया।
3. किसी भी जाति में जन्म लेने पर उस व्यक्ति का धंधा और सामाजिक स्थिति व मर्यादा निश्चित हो जाती थी।

टिप्पणी

4. जातियों के वैवाहिक संबंध और विभिन्न जातियों में परस्पर सहयोग ऊंच–नीच की भावनाओं के कारण निषिद्ध होते थे।
5. जाति व्यवस्था ने धर्म और संस्कृति को स्थिरता प्रदान की।
6. जातीय संगठन, प्रगति और बंधुत्व की भावना से प्रेरित लोगों ने समाज कल्याण और परोपकार के कई कार्य किए।
7. बंधुत्व और सहअस्तित्व की भावना की प्रेरणा दी।
8. प्रत्येक जाति के नियमों का वर्गीकरण।
9. समानता का सिद्धांत लोकतंत्र की भावना से प्रेरित था।
10. मसानी का विचार है कि "भारत की जाति प्रथा अत्यंत संगठित है।"

जाति व्यवस्था के दोष–

1. सर हेनरी मेन ने इसे "अत्यंत भयंकर और मानव परिवार के लिए हानिकारक बताया है।"
2. जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था ठीक नहीं। गीता के अनुसार "सामाजिक विभाजन कर्म और गुण को आधार मान कर होना चाहिए न कि जन्म को।"
3. हिंदू समाज का अनेक संकीर्ण समूहों में विभाजन हो गया।
4. छुआछूत व्यवस्था की शुरुआत हुई।
5. जाति व्यवस्था समान अधिकारों और प्रजातंत्र के सिद्धांतों को पूरा नहीं करती है।
6. श्रम के विभाजन से व्यक्ति अपनी योग्यता अनुसार व्यवसाय का चयन नहीं कर सकता था।
7. जाति व्यवस्था की कठोरता ने भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को खत्म कर दिया।
8. सिर्फ क्षत्रियों पर ही राष्ट्र की सुरक्षा का दायित्व था बाकी वर्ग उदासीन था।
9. आर्थिक एवं बौद्धिक प्रगति कम हो गई।
10. इस प्रथा ने हिंदू समाज के संगठन को समाप्त कर दिया। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को छीन लिया।

हिंदू समाज में जाति व्यवस्था तीन हजार वर्ष से अधिक समय से विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि इतिहास के विभिन्न कालों में हिंदू समाज को इससे अवश्य ही लाभ हुए होंगे। निश्चय ही इस जाति व्यवस्था ने आज तक हिंदू धर्म तथा उसकी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखा है। जाति प्रथा की पृथक रहने की भावना ने ही हिंदुओं को विदेशियों के साथ घुलने–मिलने से बचाए रखा और दूसरी संस्कृतियां भारतीय सभ्यता संस्कृति, परंपराओं को प्रभावित नहीं कर सकी, अतः भारतीय संस्कृति आज भी उसी स्वरूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

3.2.3 परिवार और नारी

टिप्पणी

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं में सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि परिवार ही हमारे सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई है अतः सामाजिक संगठन का मूल आधार परिवार है। परिवार या कुटुम्ब मानव की प्रथम पाठशाला होती थी। मानव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार द्वारा ही होती थी। एलमर ने फैमिली शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द Famulus से मानी है। Famulus से ऐसे समूह का ज्ञान होता है जिसमें माता–पिता, बच्चे, दास–दासियां व नौकर भी आते हैं, स्पष्ट है कि Famulus से Family की रूपरेखा स्पष्ट होती है।

बर्गेस तथा लॉक के अनुसार– परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो विवाह, रक्त या गोद लेने के संबंधों से निर्मित होता है। इसमें एक ऐसी गृहस्थी का निर्माण होता है। जिसमें पति–पत्नी तथा भाई–बहिन एक–दूसरे को प्रभावित करते हुए एवं पारस्परिक संपर्क रखते हुए एक सामान्य संस्कृति की रचना करते हैं तथा अपनी इस संस्कृति को सुरक्षित बनाए रखते हैं।

नारी की स्थिति– "नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास–रजत–नग पगतल में पीयूष–स्रोत सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में।"

भारतीय सामाजिक संरचना में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और इसके विकास में नारी वर्ग का योगदान अविस्मरणीय रहा है। मानव के आविर्भाव काल से लेकर अद्यतन नारी ने परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए जो कुछ भी किया वह पुरुष वर्ग के साथ उसकी सहभागिता को दर्शाने के लिए पर्याप्त है।

प्राचीन भारत में नारी की स्थिति प्रत्येक काल में महत्वपूर्ण रही है। सिंधु घाटी सभ्यता में नारी प्रतिमाएं अत्यधिक मिलने से ऐसी जानकारी प्राप्त होती है कि सिंधु सभ्यता मातृसत्तात्मक थी। प्रागैतिहासिक काल में भी नारी की स्थिति इसी प्रकार प्रतीत होती है।

ऋग्वैदिक काल में नारी की स्थिति सम्माननीय थी। ऋग्वेद में 'जायेदस्तम्' अर्थात् 'पत्नी ही घर है' कहकर नारी के महत्व को दर्शाया है तथा लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, शाश्वती, इंद्राणी, मैत्रेयी, गार्गी, प्राचिशेयी अनेक विदुषी महिलाएं, जो हर कार्य में अपने स्वामी की सहभागिनी थीं, उनका उल्लेख है। महिलाओं को शिक्षा का अधिकार प्राप्त था। महिला शिक्षार्थियों के दो वर्ग थे। प्रथम– ब्रह्मवादिनी, जो आजीवन धर्म एवं दर्शन की अध्येता रहती थीं एवं द्वितीय, सद्योद्वाहा जो मात्र विवाह पूर्व तक ही अध्ययन करती थीं। इस काल में सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह नहीं था, पुनर्विवाह भी होते थे। विधवा स्त्री अपने देवर या अन्य पुरुष से विवाह कर सकती थी। 'शतपथ ब्राह्मण' में पत्नी को 'अर्द्धांगिनी' कहा गया है। पुत्री का 'उपनयन संस्कार' किया जाता था। स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार था।

समय के साथ उत्तर वैदिक काल में नारी की स्थिति में गिरावट आई। अब कन्याओं को गुरुकुल भेजने की जगह घर पर ही उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। वैदिक काल के पश्चात् महिलाओं की स्थिति निरंतर परिवर्तित होती रही परंतु मनुस्मृति अभी भी स्त्री के महत्व का वर्णन कर रही थी– "यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते

तत्र देवता।" अर्थात जहां नारी पूजी जाती है वहां देवता वास करते हैं, ऐसा कहकर नारी को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है।

टिप्पणी

सूत्र एवं महाकाव्य काल में नारी की स्थिति में ह्रास के लक्षण स्पष्टतः दिखते हैं। अब न तो वह वैदिक मंत्रों का उच्चारण कर सकती थी और न ही यज्ञादि अनुष्ठान। यज्ञों में पति के साथ पत्नी की उपस्थिति औपचारिकता मात्र रह गयी थी। सूत्रों के काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर हम प्रतिबंध देखते हैं। वशिष्ट के अनुसार, "स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है।" बचपन में पिता के, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र द्वारा रक्षा की जाती है एवं साथ ही यह भी कहा है कि "पत्नी पुरुष का आधा अंग अर्थात अर्द्धांगिनी है। पत्नी ही पति का सर्वोच्च मित्र है। पत्नी ही धर्म, अर्थ और काम का मूल है। संसार सागर से तरने की इच्छा वाले पति के लिए पत्नी ही एकमात्र प्रमुख साधन है।"

महाकाव्यकाल में बहु–विवाह प्रचलित थे। स्त्रियां भी बहुविवाह कर सकती थीं। द्रौपदी द्वारा पांच पांडवों से विवाह का उल्लेख मिलता है। विधवाओं के पुनर्विवाह का निर्देश नहीं मिलता है। विवाह के विषय में स्त्रियों को अधिक स्वच्छन्दता प्राप्त न थी किंतु राजवंशों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। सीता और द्रौपदी के स्वयंवरों से इस बात की पुष्टि होती है। द्रौपदी को 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है।

बौद्ध युग में स्त्रियां प्रायः शिक्षित होती थीं। बौद्ध ग्रंथ 'थेरीगाथा' की कवयित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित भिक्षुणियां थीं। जैन साहित्य में भी हम विदुषी स्त्रियों का उल्लेख पाते हैं। चेलना, गौतमी खेमा आदि विदुषी नारियों का उल्लेख हम इस काल में पाते हैं। राजगृह के धनिक की पुत्री भद्रा कुंडल केशा भी शास्त्रार्थ कला में प्रवीण थी। हर्यक वंशीय मगध शासक बिम्बसार की पत्नी चेलना द्वारा बौद्ध गुरुओं से शास्त्रार्थ करने के प्रमाण प्राकृत ग्रंथों में मिलते हैं।

मौर्य काल में अन्तर्जातीय एवं बहुविवाह का प्रचलन था। स्त्रियों की स्थिति को बहुत उन्नत नहीं कहा जा सकता। उन्हें बाहर जाने की स्वतंत्रता न थी। वे पति की इच्छा के विरुद्ध काम नहीं कर सकती थीं। स्त्रियां प्रायः घर के अंदर रहती थीं। कौटिल्य सती प्रथा का वर्णन नहीं करता है परंतु यूनानी स्रोत इसकी जानकारी देते हैं। समाज में पर्दे की प्रथा भी प्रचलित थी। समाज में कई स्त्रियां ऐसी थीं जो बौद्धिक जीवन व्यतीत करती थीं। वे अपना समय प्रभु चिंतन में लगाती थीं। जो स्त्रियां अपना सारा जीवन धर्म–ग्रंथों के अध्ययन में लगाती थीं उन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहते थे। कई ऐसी स्त्रियां थीं जो शिक्षिका का कार्य करती थीं। मेगस्थनीज ने लिखा है– "कुछ स्त्रियां रथों पर, कुछ अश्वों पर और कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती थीं और वे प्रत्येक प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित रहती थीं। ऐसा मालूम होता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हों।" स्त्रियां पुरुषों के साथ धार्मिक एवं सामाजिक समारोहों में भाग लेती थीं।

सातवाहन काल के अधिकांश राजाओं ने अपने नाम के आगे मां का नाम लगाया। यह इस बात का प्रमाण है कि यह काल मातृप्रधान था।

गुप्तकाल एवं राजपूत काल तक आते–आते स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं रह गई। मध्यकाल में बाहरी आक्रमणों के कारण नारी की स्थिति में परिवर्तन आया।

टिप्पणी

"परिवार के संचालन में जो नारी की भूमिका होती है वह किसी अन्य सदस्य की नहीं हो सकती। कहते हैं कि नारी परिवार की धड़कन होती है। जिस प्रकार शरीर के संचालन में नाड़ी का महत्व है वही स्थान परिवार में 'नारी' का है। यदि समाज का नारी तंत्र नष्ट भ्रष्ट हो गया तो समाज अचेत हो जाता है। समाज को जीवंत बनाए रखने के लिए नारी तंत्र को बहुत ही मजबूती की जरूरत है।"

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि नारी का परिवार में महत्वपूर्ण स्थान है। महर्षि मनु परिवार में पत्नी को पति से भी अधिक महत्व देते हैं। वे पति–पत्नी को बिना किसी भेदभाव के समान रूप से एक दूसरे को संतुष्ट रखने का दायित्व सौंपते हैं। मनु का कथन है– "पत्नी के व्यवहार से पति संतुष्ट रहता है और पति के व्यवहार से पत्नी संतुष्ट रहती है, उस परिवार का निश्चय ही कल्याण होता है।"

अपनी प्रगति जांचिए

1. ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में सर्वप्रथम शूद्र शब्द का उल्लेख मिलता है। यह 'पुरुष सूक्त' किस मंडल में है–

   (क) प्रथम (ख) पंचम

   (ग) अष्टम (घ) दशम

2. भारतीय इतिहास में जाति व्यवस्था के अस्तित्व का प्रमाण कब से मिलता है?

   (क) ऋग्वेद काल (ख) अथर्ववेद काल

   (ग) पांचवीं शताब्दी ई.पू. (घ) महाभारत काल

3. पत्नी को अर्द्धांगिनी कहा गया है–

   (क) शतपथ ब्राह्मण में (ख) ऋग्वेद में

   (ग) महाभारत में (घ) रामायण में

4. 'Casta' शब्द किस भाषा का है–

   (क) हिंदी (ख) अंग्रेजी

   (ग) पुर्तगाली (घ) लैटिन

5. वर्ण व्यवस्था कितने वर्गों में विभाजित थी–

   (क) 3 (ख) 4

   (ग) 5 (घ) 2

3.3 औपनिवेशिक भारत में जाति विरोधी आंदोलन : सत्यशोधक समाज, श्री नारायण आंदोलन, आत्मसम्मान आंदोलन

प्राचीन काल में समाज को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए वर्णव्यवस्था के स्वरूप का जन्म हुआ, परंतु बाद में यह प्रणाली जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। धार्मिक

ग्रंथों की व्याख्या को उच्च वर्ण ने अपने ढंग से प्रस्तुत करना शुरू कर दिया जिसके कारण सत्ता उच्च वर्ण तक सीमित हो गई।

टिप्पणी

समाज की कुरीतियों और अंधविश्वासों को दूर करने के लिए समय–समय पर दार्शनिकों का उदय समाजसुधारकों के रूप में होता रहा है। आधुनिक युग में धर्मनिरपेक्ष शासन तथा नागरिक विवाह कानून आदि संवैधानिक व्यवस्थाओं ने जाति व्यवस्था के सामाजिक व धार्मिक बंधनों को सरल कर दिया। यहां औपनिवेशिक शासन का उद्देश्य भारतीय समाज में सुधार का नहीं था बल्कि अपने हितों की पूर्ति करना था।

परंतु जाति व्यवस्था की खाई और भी गहरी होती चली गई इसे बाहरी आक्रमणकारियों एवं औपनिवेशक शासकों ने और भी बढ़ावा दिया क्योंकि वे कभी भी भारतीय समाज की व्यवस्था को नहीं समझ सके। इसका प्रमुख कारण था वे समाज के अंतर्विरोधों को खत्म करने की जगह और बढ़ावा देना चाहते थे जिससे वे आसानी से अपने शासन को सुचारु ढंग से चलाने में समर्थ रहे।

औपनिवेशिक काल में जिस बौद्धिक चेतना का उदय हुआ उसमें निम्न वर्ग भी शामिल था। उन्होंने समाज में जागृति लाने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की और आंदोलनों की शुरुआत की।

3.3.1 भारत में जाति विरोधी आंदोलनों का इतिहास

प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था का व्यावसायिक आधार था परंतु कालान्तर में यह 'जाति व्यवस्था' में बदल गई। धीरे–धीरे समाज के उच्च वर्ग ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर निम्न वर्ग को समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया और क्रमशः वर्गभेद की स्थिति उत्पन्न हो गई।

महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध ने अपने दार्शनिक विचारों से क्रांति उत्पन्न कर दी और धर्म के रास्ते सभी के लिए खोल दिए। बुद्ध का धार्मिक दृष्टिकोण पूर्णतः नैतिक था। संस्कारों और पूजा पाठ में उन्हें विश्वास न था। उनका मानना था, "सभी प्राणियों पर दया का भाव रखो, यदि तुम झूठ नहीं बोलते, यदि तुम किसी प्राणी की हत्या नहीं करते, यदि तुम दूसरों की वस्तु को नहीं लेते फिर तुम्हें किसी पवित्र जल की आवश्यकता नहीं है स्नान के लिए।" इस प्रकार गौतम बुद्ध के द्वारा जातिगत व्यवस्था का प्रथम विरोध किया गया। इसी प्रकार के विचार महावीर स्वामी के भी थे। उनके अनुसार, शूद्र व ब्राह्मण में कोई अंतर नहीं था। उनके अनुसार, "प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह शूद्र हो अथवा ब्राह्मण हो, निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार था।"

मध्यकाल में तो भक्ति आंदोलन के माध्यम से जाति व्यवस्था के विरोध में जनक्रांति की शुरुआत हुई जिसमें सभी वर्गों के संतों ने अपने विचारों से क्रांति ला दी। रामानंद का मूल मंत्र ही था–

"जाति–पांति पूछे नहीं कोई

हरि को भजे सो हरि का होई।"

रामानंद ने जाति भावना का परित्याग करके सभी जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया। वे जाति प्रथा की आलोचना करते थे एवं उसे भक्ति मार्ग में अवरोधक

मानते थे। इसके अतिरिक्त संतों की अटूट परंपरा में कबीर, नानक, रैदास, धन्ना, नामदेव, चैतन्य, तुकाराम, रामकृष्ण परमहंस के नाम उल्लेखनीय हैं। भक्ति आंदोलन का क्षेत्र धार्मिक था परंतु इसका आधार सामाजिक था।

टिप्पणी

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा जो पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार किया गया उससे बौद्धिक चेतना का उदय हुआ। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में पाश्चात्य ज्ञान से राष्ट्रीय चेतना का विस्तार हुआ जिसका प्रभाव समाज में व्याप्त बुराइयों पर भी पड़ा जिससे पाखंड, अंधविश्वास और कर्मकांड का विरोध हुआ और दूसरी ओर इसने जात–पात व अन्य सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष की शुरुआत की।

3.3.2 औपनिवेशिक काल में जाति विरोधी आंदोलनों का विकास

मध्य युग में भारतीय धार्मिक सुधारकों के अनुयायी प्रायः निम्न जातियों से आए। इसके विपरीत उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आंदोलनों के प्रवर्तक उच्चवर्णीय हिंदू थे जिन्होंने जाति व्यवस्था का विरोध किया।

19वीं एवं 20वीं शताब्दी में निम्न जातियों में जातीय चेतना की भावना का जन्म हुआ और इसके लिए अनेक प्रयत्नों की शुरुआत हुई। दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में अलग–अलग जातीय आंदोलन शुरू हुए। अंग्रेजों द्वारा अपने हित की पूर्ति के लिए जिस पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार किया गया। वह उन्हीं के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। एक समान दंड संहिता (1861) तथा दंड प्रक्रिया संहिता (Criminal Procedure Code) 1872 के लागू होने से, रेलों के विस्तार से तथा टिकिट लेने के पश्चात सभी वर्गों के व्यक्ति एक साथ यात्रा कर सकते थे। जिसके कारण सामाजिक समानता तथा सामाजिक समतावाद का वातावरण तैयार हुआ। आधुनिक राजनीतिक चिंतकों के बीच अनेक निम्न जाति नेताओं का उदय हुआ। उन्होंने जाति विरोधी आंदोलनों का नेतृत्व किया।

दक्षिण भारत में निम्न जातीय आंदोलन मद्रास प्रांत में शुरू हुआ। निम्न जातियों के कुछ नेताओं ने यह प्रचार किया कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ थे और आर्य लोग बाहर से आए थे।

श्री पी. त्यागराय तथा डॉक्टर टी.एम. नैयर ने प्रथम इतर ब्राह्मण संस्था 1917 में गठित की जिसका नाम था "दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ" जिसे कालान्तर में प्रायः न्याय दल कहने लगे। 1937 में रामास्वामी नायकर इस न्याय दल के सभापति चुने गए। 'नायकर' सामाजिक समानता के लिए एक धर्मयोद्धा थे और उन्होंने अस्पृश्यता जैसे अन्याय के विरुद्ध अभियान चलाया और उनका मानना था– "कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिनका सुधार नहीं हो सकता, उनका केवल अंत ही करना होता है। ब्राह्मणीय हिंदू धर्म एक ऐसा ही तत्व है।" श्री सी.एन. अन्नादुरै ने इस आंदोलन को आगे बढ़ाया। 1949 में इस दल में विभाजन हो गया और अन्ना ने अपने दल का नाम 'द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम' रख लिया।

केरल में एझावा नेता श्री नारायण गुरु ने एस.एन.डी.पी. (श्री नारायण धर्म परिपालन योगम) नाम की एक संस्था तथा उसकी शाखाएं स्थापित की तथा उन्होंने एक नारा दिया। "मानव के लिए एक धर्म एक जाति तथा एक ईश्वर।" पश्चिमी भारत

में ज्योतिराव गोविंदराव फूले ने निम्न जातियों के लिए संघर्ष किया। 1873 में ज्योतिबा ने सत्यशोधक सभा (सत्य को खोजने वाला समाज) बनाई जिसका उद्देश्य समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना था।

टिप्पणी

भीमराव रामजी अंबेडकर निम्न जातियों के उत्थान के लिए एक अन्य धर्म योद्धा थे। उन्होंने 1924 में बहिष्कृत हितकारिणी सभा बनाई जिसका उद्देश्य अस्पृश्य लोगों की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करना था। उन्होंने अछूतों के लिए मताधिकार मांगा एवं उन्हें तीनों गोलमेज सभाओं में अछूतों के प्रतिनिधि के रूप में बुलाया गया। 1942 में उन्होंने अनुसूचित जातीय संघ का अखिल भारतीय दल के रूप में गठन किया। अंबेडकर को निम्न जातियों के उद्धारक के रूप में याद किया जाता है।

संक्षेप में– भारतीय गणतंत्र के नए संविधान में समस्त भारतीय नागरिकों के लिए समानता का अधिकार स्वीकार कर लिया और अस्पृश्यता पर रोक लगा दी गई तथा अस्पृश्यता अधिनियम 1955 के अनुसार, इसका उल्लंघन करने पर दंड का प्रावधान है।

औपनिवेशिक काल के जाति विरोधी आंदोलन की विशेषताएं

1. सदियों से दबी–कुचली निम्न जातियों के सम्मान के साथ अधिकारों के लिए प्रयत्न की शुरुआत हुई।
2. नव जागरण की शुरुआत हुई।
3. शिक्षा का अधिकार मिला।
4. धार्मिक ग्रंथों के साथ मंदिरों में प्रवेश मिला।
5. सामाजिक समानता की शुरुआत हुई।
6. नव जाति विरोधी आंदोलनों के पथ–प्रदर्शक बने।
7. राष्ट्रीय स्वतंत्रता में निम्न वर्ग का महत्व बढ़ा।
8. नव पथ प्रदर्शक के नेतृत्व ने भारतीय संविधान की अस्पृश्यता विरोधी पृष्ठभूमि को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

औपनिवेशिक भारत के प्रमुख जाति विरोधी आंदोलन

उन्नीसवीं सदी में कई भारतीय विचारक और सुधारक समाज में सुधार लाने के लिए आगे आए। उनके मुताबिक समाज और धर्म आपस में जुड़े हुए थे। दोनों में सकारात्मक विकास और देश के विकास को प्राप्त करने के लिए सुधार करने की जरूरत है। इसलिए हमारे सुधारकों ने भारतीय जनता को जगाने की पहल की। इन सुधारकों ने जागरूकता फैलाने के लिए कुछ संगठनों की स्थापना की।

इसी श्रृंखला में निम्न जाति सुधार आंदोलनों की पृष्ठभूमि रखी गई। उन्होंने उनके अधिकारों और समानता को स्थापित करने के लिए उच्च वर्ण की श्रेष्ठता को नकार दिया एवं जाति विरोधी आंदोलनों की शुरुआत के साथ नवीन चेतना के विस्तार की शुरुआत की।

3.3.3 सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले

जाति प्रथा, पुरोहितवाद, असमानता और अंधविश्वास के साथ समाज में व्याप्त आर्थिक–सामाजिक एवं सांस्कृतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन की जरूरत

टिप्पणी

भारत में शताब्दियों से रही है। इस लक्ष्य को लेकर आधुनिक युग में सार्थक, सशक्त और काफी हद तक सफल आंदोलन चलाने का श्रेय ज्योतिराव फुले को जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता के लिए उनके चलाए आंदोलन के कारण उन्हें आधुनिक भारत की परिकल्पना का पहला रचनाकार माना जाता है।

सत्यशोधक समाज की स्थापना

ज्योतिबा फुले महाराष्ट्र के समाज सुधारक थे, जिनका जन्म 1827 में माली परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा एक ईसाई मिशनरी स्कूल में हुई थी। अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद, उन्होंने और उनकी पत्नी ने निम्न जाति समुदायों हेतु शैक्षिक अवसरों के लिए संगठन स्थापित किया।

इसी क्रम में अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना 23 सितम्बर 1873 को पुणे में की। महाराष्ट्र के सभी समाजसेवियों की सहमति इसमें थी। ज्योतिबा फुले को संस्थापक एवं 'नारायण गोविंद' राय कडलाक को मंत्री चुना गया।

सत्यशोधक समाज के उद्देश्य

1. शूद्रों, अति शूद्रों को पुजारी, पुरोहित, सूदखोर आदि की सामाजिक, सांस्कृतिक दासता से मुक्ति दिलाना।
2. धार्मिक सांस्कृतिक कार्यों में पुरोहितों की अनिवार्यता को खत्म करना।
3. शूद्रों–अति शूद्रों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करना ताकि वे धर्म ग्रंथों को स्वयं पढ़ समझ सकें।
4. एकजुटता की स्थापना करना, शूद्रों–अति शूद्रों को धार्मिक एवं जाति आधारित उत्पीड़न से मुक्ति दिलाना।
5. पढ़े–लिखे शूद्र वर्ग के लिए प्रशासनिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उन्होंने 'गुलामगिरी' नामक पुस्तक का लेखन किया एवं शीघ्र ही अपने विचारों के माध्यम से शूद्र–अतिशूद्र समाज को संगठित करना शुरू कर दिया। ज्योतिबा ने कहा– "ब्राह्मण धर्म शास्त्रों में जो लिखा है कि शूद्रों की गुलामी दैवीय और जन्मजात है, सब झूठ है।" उन्होंने किसान तथा अन्य श्रमजीवी वर्गों में स्वाभिमान की भावना का निर्माण कर गरीबों, पुरोहितों के उत्पीड़न एवं सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने का साहस उत्पन्न किया।

वे जानते थे कि निम्न जाति सुधार आंदोलनों को समाज के उच्चवर्ण का सहयोग मिलना बहुत ही मुश्किल था। परंतु जब तक वे संगठित नहीं होंगे उन्हें राजनीतिक एवं प्रशासनिक अधिकारों की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

पुणे में अनेक स्थानों पर सत्यशोधक समाज की शाखाएं स्थापित की गईं एवं क्रांतिकारी परिवर्तन की शुरुआत हुई। शूद्रों और अतिशूद्रों का ज्योतिबा फुले पर भरोसा था। इसका प्रमुख कारण शिक्षा के क्षेत्र में किए गए उनके कार्य थे। कस्बाई और ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी शाखाएं खुलने लगीं। सभी वर्गों के लिए इनके द्वार खुले थे फिर भी मांग, महार, मातंग, कुनबी, माली जैसी अस्पृश्य एवं अति पिछड़ी जाति के लिए उनके द्वार सदैव खुले थे। लोगों ने शादी विवाह, नामकरण आदि अवसरों पर पुरोहितों

टिप्पणी

को बुलाना छोड़ दिया। इससे ब्राह्मण पुजारियों ने निचली जातियों को यह कहकर भड़काना शुरू कर दिया कि बिना पुरोहित के उनकी प्रार्थनाएं ईश्वर तक नहीं पहुंच पाएंगी। महाराष्ट्र में इससे पहले इतने क्रांतिकारी और प्रगतिशील कार्य कोई भी समाज सुधारक संस्था नहीं कर पाई थी।

पुणे में अब दलित शिक्षा के लिए सत्यशोधक समाज ने कार्य करना शुरू किया। इस समाज के प्रचारक का पहनावा धोती, पगड़ी और बदन पर 'घोदड़ी' (कंबल) तथा लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए एक ढोल उनके पास होता था। इस प्रकार पहली बार इस संस्था के द्वारा समाज के निम्न वर्ग में चेतना का संचार हुआ। उन्हें यह मालूम होने लगा कि उनका भी अस्तित्व है और वे भी पढ़–लिख कर ज्ञान प्राप्ति कर सम्मान का जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

सत्यशोधक समाज की आलोचना– ब्राह्मणों ने फुले द्वारा किए गए कार्यों का विरोध करना शुरू कर दिया क्योंकि उन्होंने ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता को नकार दिया था। ब्राह्मणों ने तर्क दिया कि फुले एक नया धर्म बनाने का प्रयास कर रहे थे और ऐसा लगता है कि इसमें किसी नैतिक या धार्मिक उद्देश्य की कमी है। उन्होंने जोर देकर कहा कि फुले ने जो दावे किए उनमें निरंतरता का अभाव था। उनके इस तर्क के जवाब में कि ब्राह्मण आर्य आक्रमणकारी थे, जिन्होंने स्वयं को लाभान्वित करने और सत्ता में रखने के लिए एक धर्म और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की और इसे लागू किया। उन्होंने तर्क दिया कि फुले के पास इतिहास को फिर से लिखने का अधिकार नहीं था। वह रामायण और भगवदगीता के खिलाफ कैसे जा सकते थे? और उनके द्वारा बनाए गए वैकल्पिक इतिहास की सच्चाई की घोषणा वो कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार ज्योतिबा को बहुत विरोध का भी सामना करना पड़ा।

सत्यशोधक समाज ने अपने कार्यों की गति को आगे बढ़ाया। उन्होंने ब्राह्मणेत्तर छात्रों से छात्रवृत्ति के लिए प्रार्थना पत्र लेकर छात्रों को छात्रवृत्ति दी। विवाह को अब बिना पुरोहित के संपन्न कराने की शुरुआत की। इन कार्यों से उत्साहित होकर अन्य जगहों पर भी बिना पुरोहित के विवाह संपन्न कराए गए जिसमें ज्योतिबा के द्वारा रचित शपथ ही दिलवाई गई। पुरोहितों द्वारा इसका व्यापक स्तर पर विरोध किया गया परंतु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। ब्राह्मणों एवं पुरोहितों के बिना कैसे विवाह होते हैं, ये देखने के लिए भीड़ लग जाती थी। हर स्तर पर ब्राह्मणों के वर्चस्व को समाप्त करने का प्रयास किया गया और उन्हें 'कलम कसाई' कहकर संबोधित किया गया। इसका अर्थ है– "कलम से तलवार की तरह गला काटने वाले लोग।" उनके द्वारा इस प्रकार के शब्दों का कहने का तात्पर्य था– ब्राह्मण चाकू तलवार नहीं चलाते मगर काटने का कार्य अवश्य करते हैं। सवर्ण लोग हथियार से नहीं, कलम के जोर से शासन प्रशासन में अछूतों को आगे जाने से रोकते हैं। ज्योतिबा के प्रकाशनों में 'धर्मरत्न' (पुराणों का भंडाफोड) इशारा (एक चेतावनी), शिवाजी की जवानी इत्यादि सम्मिलित हैं। 1888 में लोग उन्हें महात्मा कहने लगे थे।

संक्षेप में सत्यशोधक समाज से पहले शूद्र वर्ग के लिए इतना संगठित आंदोलन कभी नहीं हुआ था। दलित अछूत वर्गों के लिए इतने बड़े स्तर पर क्रांतिकारी परिवर्तन की शुरुआत हुई। समाज के सिद्धांत ने भारत के बौद्धिक और राजनीतिक क्षेत्रों पर विशेष रूप से गैर ब्राह्मण और दलित राजनीति के संबंध में बड़ा प्रभाव छोड़ा। गैर ब्राह्मण आंदोलन सार्वभौमिक अधिकारों और समानता के सत्यशोधक सिद्धांतों और

सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर ब्राह्मण वर्चस्व के खिलाफ समाज के निम्न वर्ग द्वारा एकजुट होकर किया गया प्रयास था।

3.3.4 श्री नारायण आंदोलन

टिप्पणी

केरल में श्री नारायण गुरु ने एक आंदोलन की शुरुआत की जो नारायण गुरु आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। प्रकृति सदैव से ही परिवर्तनशील रही है। इसी प्रकार समाज में परिवर्तन लाने हेतु सुधारकों का जन्म होता रहा है जो अपने क्रांतिकारी विचारों से नवचेतना को जाग्रत करते हैं। सदियों से धर्म के नाम पर कर्मकांडीय विधान होते रहे हैं जिसके कारण समाज में विभाजन रेखा खींची गई और उच्चवर्णीय जातियों द्वारा अपने श्रेष्ठता के सिद्धांत को स्थापित करने के अंधविश्वासों और रूढ़िवादी विचारों को प्रोत्साहन दिया गया।

नारायण गुरु एक संत थे। वे मानवों की समानता के पक्षधर थे। वे इस बात से दुखी थे कि जब ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न करने में किसी भी प्रकार की विभिन्नता नहीं रखी तो फिर मनुष्यों के द्वारा इतने भेदभाव को क्यों जन्म दिया गया? धार्मिक ग्रंथों एवं मंदिर में प्रवेश का अधिकार केवल वर्ग विशेष का ही क्यों है? या फिर उन्हें पूजा स्थल में एक निश्चित दूरी के साथ क्यों खड़ा किया जाता है? इस प्रणाली से दुखी होकर उन्होंने स्वयं ही शिवलिंग स्थापना की घोषणा की और उन्होंने नदी की गहराई से पत्थर के एक टुकड़े को लाकर उसे शिवलिंग की पीठिका के रूप में स्थापित किया और पूरी विधि विधान से पूजा अर्चना की। इसका विरोध समाज के विशिष्ट वर्ग के लोगों द्वारा किया गया। तब उनका कथन था– "मैंने ऐझावा शिवलिंग की स्थापना की है।"

इस प्रकार उन्होंने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया एवं उनका यही प्रयास था कि मंदिर के पुजारी भी ऐझावा जाति से ही हो। इस प्रकार एक धार्मिक सुधार आंदोलन की शुरुआत हुई। नारायण गुरु लोकप्रिय संत बन गए। पूजा विधि विधान को कर्मकांडीय तरीकों और ब्राह्मणों, पुरोहितों से मुक्त कर उसे सरलतम रूप में प्रस्तुत किया गया। मंदिरों में जो भी दान चढ़ावा आता था उसे लोगों के कल्याण में लगाया गया। पशुबलि का विरोध किया गया।

मंदिरों की स्थापना– अरवीपुरम में शिवमंदिर, वैकाम के चिरायन किजु गणेश मंदिर, त्रिवेन्द्रम के पास कुलापुर में, शिव मूर्ति की स्थापना की। कौवलाम के निकट 'कुन्नुमपारा मंदिर की स्थापना की।' करमुक्कु मंदिर में प्रतीक के रूप में जलता हुआ एक दीपक है। 'वर्कला' नारायण गुरु का आर्थिक केंद्र था। 1912 में वैदिक स्कूल और सरस्वती मंदिर की स्थापना की गई। उन्होंने 'अलवाय' में अहैत्य आश्रम स्थापित किया। यहां पर उन्होंने सामूहिक कक्ष का निर्माण करवाया जिसमें बिना किसी भेदभाव के सभी वर्ग के लोग एक साथ ईश्वर की उपासना कर सकें एवं धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन कर सकें। उन्होंने एक संस्कृत स्कूल भी स्थापित किया। उनका एक ही संदेश था–

"एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर एक मानव का।"

नारायण गुरु ने समाज सुधार आंदोलन का नेतृत्व किया। जातिवाद का विरोध कर आध्यात्मिक स्वतंत्रता और सामाजिक समानता के नए मूल्यों को बढ़ावा दिया। जी अलोसिएस के शब्दों में हम नारायण गुरु की भूमिका को स्पष्ट कर सकते हैं– "केरल

टिप्पणी

के सबसे निर्णायक ऐतिहासिक काल में एक सक्रिय सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सुधारक के रूप में उन्होंने करीब चार दशकों तक अपनी भूमिका निभाई। किसी भी अन्य व्यक्ति की तुलना में, अपने व्यक्तित्व एवं कार्यों से एक नृजातीय समूह (मलयाली) को आधुनिक समूह में रूपान्तरित करने वाले व्यक्ति श्री नारायण गुरु स्वामी मूर्त प्रतीक हैं।"

केरल में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप अन्य क्षेत्रों की तुलना में अलग था। वहां सिर्फ ब्राह्मण एवं गैर ब्राह्मण थे और इन ब्राह्मण वर्ग के पास समस्त प्रकार के अधिकार होते थे। इसी आधार पर सारे अधिकार और कर्तव्य निर्धारित होते थे। उन्होंने केरल के पूरे समाज को एक सूत्र में जोड़ने की जमीन तैयार की और 'जातिनिर्णयम' की रचना की। आधुनिक केरल के निर्माण हेतु संगठित आंदोलन की शुरुआत 1903 में की। श्री नारायण धर्म प्रतिपालन योगम्' की स्थापना की जिसका उद्देश्य मानव जाति को एक समानता के अधिकार क्षेत्र में लाना एवं वैश्विक एकता को स्थापित करना था। जिसके लिए उन्होंने 1921 में 'भाईचारा सम्मेलन आयोजित किया और संदेश दिया "मनुष्यों में संप्रदाय, पहनावा, भाषा आदि के अंतर के बाद भी वे सब एक ही सृष्टि के हैं।"

नारायण गुरु आधुनिक केरल के नव जागरण के प्रणेता थे। उन्होंने भ्रातृत्व पर आधारित एक समान केरल की कल्पना की थी जिसमें वे सफल भी रहे हैं। आज केरल भारत के सबसे शिक्षित अग्रणी राज्यों में से एक है।

3.3.5 आत्मसम्मान आंदोलन

ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए दक्षिण भारत में अन्य पिछड़ी जातियों और अछूतों ने आत्मसम्मान आंदोलन छेड़ा। प्रारंभ में इस आंदोलन की प्रवृत्ति समाज सुधार की थी जो ब्राह्मणों के आनुष्ठानिक वर्चस्व और सांस्कृतिक महत्ता को चुनौती दे रही थी। इस आंदोलन ने तमिलनाडु के चुनिंदा ब्राह्मणों को अपने हमलों का निशाना बनाया, जो राजनीति और प्रशासन के उच्च पदों पर पदस्थ थे।

आत्मसम्मान आंदोलन के पुरोधा पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर समाज सुधारक और बुद्धिवादी विद्रोही थे। इनका जन्म दक्षिण भारत के ईरोड़ नगर के संपन्न व्यापारी परिवार में 17 सितंबर, 1879 ई. को हुआ था। इनके पिता श्री वेंकटप्पा नायकर और माता श्री चिन्ना थायम्याल, दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्तित्व थे एवं दान कार्य में सदैव अग्रसर रहते थे। ये हमेशा अपनी नानी के यहां रहे। सामाजिक असमानता, धार्मिक अंधविश्वास एवं कुरीतियों के विरुद्ध विचारों का ज्वालामुखी रामास्वामी के अंदर 8 वर्ष की अवस्था में जाग्रत हो गया था।

वे सामाजिक तौर पर मेल–मिलाप में विश्वास रखते थे। उनका मानना था एक–दूसरे से संपर्क से विचारों का आदान–प्रदान होता है जिसके कारण कुछ नए निष्कर्षों की व्याख्या होती है। इसी संदर्भ में वे लोकप्रिय होने लगे और अनेक सामाजिक संगठनों से जुड़े। तत्पश्चात कांग्रेस ने उन्हें सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया जिसे उन्होंने सहजता से स्वीकार कर लिया। उनके व्यक्तित्व एवं वाकपटुता के कारण उन्हें जनता मंत्रमुग्ध होकर सुनती थी। वे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतिभाशाली नायक थे। अदम्य उत्साही एवं निःस्वार्थ भक्ति के कारण लाखों लोगों के मन में उन्होंने जगह बनाई। अपने प्रेम लगन, विश्वास के कारण उन्हें 'पेरियार' कहा जाने लगा जिसका अर्थ है– 'पवित्र आत्मा।'

टिप्पणी

आत्मसम्मान आंदोलन का नामकरण तमिल शब्द 'स्वयंमरियाथई' के आधार पर किया गया। जिसका अर्थ है– 'आत्मसम्मान'। इसको शुरुआत में गैर ब्राह्मण आत्मसम्मान लीग, गैर–ब्राह्मण युवा आत्मसम्मान लीग नाम से जाना जाता था। परंतु बाद में इसका नाम आत्मसम्मान हो गया।

इनका नारा था "न ईश्वर न धर्म, न गांधी, न कांग्रेस और न ब्राह्मण।"

उद्देश्य

1. धर्म जाति और पुरोहितवाद के विरुद्ध समाज में लोक चेतना लाना।
2. द्रविड़ जनता की ब्राह्मणवाद से मुक्ति, उन्हें उनके प्राचीन गौरव का विश्वास दिलाना, उन्हें उन सभी धर्मग्रंथों, रीतिरिवाजों और परंपराओं से मुक्त करना जो ब्राह्मण वर्चस्व को अपरिहार्य ठहराते थे।

आत्मसम्मान आंदोलन की मांगें

1. समाज में सभी वर्गों के बीच समानता हो।
2. आर्थिक असमानता की समाप्ति हो।
3. भूमि और दूसरे संसाधनों का बंटवारा सामाजिक न्याय की भावना को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।
4. जाति, धर्म, राष्ट्र, वर्ण और ईश्वर को लेकर जो भी भ्रम समाज में व्याप्त हैं उन्हें पूरी तरह से समाप्त हो जाना चाहिए।
5. मनुष्य को उसके श्रम का पूरा लाभ मिलना चाहिए।
6. दास प्रथा का विरोध।
7. मनुष्य को अपने ज्ञान, तर्क, भावनाओं और विश्वासों के साथ जीवन जीने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

कार्य

1. अंतर–जातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया।
2. विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया।
3. मायावरम तमिलनाडु के तंजौर में 1927 में सम्मेलन बुलाया जिसमें उन्होंने जातिवाद का तीव्र विरोध किया।
4. 28 नवम्बर, 1927 को 'तिरुनेलवेलि' पेरियार की अध्यक्षता में इसकी बैठक संपन्न हुई और इस सम्मेलन में गौतमबुद्ध की परंपरा को मानने का आह्वान किया गया।
5. सिंगलपत्तु में 1929 में आत्मसम्मान आंदोलन की बैठक संपन्न हुई परंतु इस बैठक में जस्टिस पार्टी के नेताओं का बोलबाला रहा।

वे स्त्री समानता के पक्षधर थे। मंदिरों में चलने वाली देवदासी प्रथा के विरोधी थे। समाज में भेदभाव, छूआछूत और रूढ़ियों के लिए उनके पास स्थान नहीं था। उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा शूद्र वर्ग पर किए जा रहे अत्याचारों का विरोध करते हुए कहा, "अछूतों और शूद्रों के बीच आत्मसम्मान की भावना का संचार करना आवश्यक है।"

टिप्पणी

इसके लिए 'मनुस्मृति और रामायण' में लिखित बातों का विरोध किया। उनका लक्ष्य था कि उनके लिए एक ऐसा राज्य बनाना जहां वे स्वतंत्रता और सम्मान के साथ अपना जीवन निर्वहन कर सकें। उनका कहना था– "मैं सभी धर्मों का बैरी हूं, चाहता हूं कि उन्हें खत्म हो जाना चाहिए। मेरा एकमात्र लक्ष्य यह देखना था कि द्रविड़ आत्मसम्मान का जीवन जिएं इसके लिए मैं हमेशा काम करूंगा।" मंदिरों में सभी वर्गों के प्रवेश के लिए कार्य किए बिना पुरोहितों द्वारा पूजा पाठ, विवाह न करवाने का प्रावधान रखा गया। उनका उद्देश्य यह था कि शूद्र वर्ग के लोग स्वयं आत्मनिर्भर बनें। किसी भी विधि विधान के लिए उन्हें ब्राह्मण वर्ग पर निर्भरता की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने समाज के सारे मिथकों को तोड़ने और समाप्त करने का प्रयास किया और कहा कि ब्राह्मणों की सर्वोच्चता किसी भी स्थिति में उन्हें स्वीकार नहीं है। बिना उनके पूजा–विधि विधान से भी ईश्वर प्रसन्न हो सकता है।

इस प्रकार 'आत्मसम्मान' आंदोलन नव चेतना के साथ अपना विस्तार ले चुका था। सामाजिक विसंगति को दूर करने का जो प्रयास उनका था वो तात्कालीन समाज के लिए क्रांतिकारी परिवर्तन था। पेरियार ने जीवन भर लोगों के आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ी। कालान्तर में उनके कार्य को डॉ. भीमराव अंबेडकर ने आगे बढ़ाया। डॉ. अंबेडकर के शब्दों में, "संविधान तभी अच्छा रह सकता है जब उसको लागू करने वाले अच्छे हों, संविधान निर्माता का संदेश सिर्फ नेताओं के लिए नहीं, सामान्य नागरिकों के लिए भी है। लोग संविधान के मूल तत्वों समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के साथ साथ अस्मिताबोध को भी समझेंगे, तभी वे अपने अधिकारों की रक्षा कर पाएंगे।"

अपनी प्रगति जांचिए

6. सत्यशोधक समाज की स्थापना किसने की?

   (क) ज्योतिबा फुले (ख) महात्मा गांधी

   (ग) महादेव गोविंद रानाडे (घ) ईश्वर चंद्र विद्यासागर

7. 'आत्मसम्मान' आंदोलन किसने चलाया–

   (क) सावित्री फुले (ख) ई.वी. रामास्वामी

   (ग) भीमराव अंबेडकर (घ) राजा राममोहनराय

8. श्री नारायण गुरु कहां के थे–

   (क) महाराष्ट्र (ख) मध्य प्रदेश

   (ग) आंध्र प्रदेश (घ) केरल

9. 'गुलामगिरी' पुस्तक की रचना किसने की?

   (क) ज्योतिबा फुले (ख) महात्मा गांधी

   (ग) विवेकानंद (घ) रानाडे

10. एस.एन.डी.पी. क्या है?

   (क) पुस्तक (ख) नगर

   (ग) मंदिर (घ) संस्था

3.4 राष्ट्रवाद के सामाजिक आधार

टिप्पणी

भारतीय और विदेशी दोनों विद्वानों द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद के कई विशिष्ट वैचारिक सूत्र प्रतिपादित किए गए हैं। एक प्रमुख दृष्टिकोण इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों का है, जो ब्रिटिश उपनिवेशवाद के संदर्भ में राष्ट्रवाद के उदय और हमारे समाज की सामाजिक संरचना और विचारधारा में पैदा हुई विकृतियों को देखते हैं। ये विकृतियां राष्ट्रवादी नेतृत्व के वर्ग चरित्र और उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक नीतियों को दर्शाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन औपनिवेशिक विकृतियों ने सांप्रदायिकता के उदय, देश के विभाजन और स्वतंत्रता के बाद भी सांप्रदायिक राजनीति की निरंतरता में योगदान दिया।

भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि

औपनिवेशिक संपर्क ने हालांकि विध्वंसक सामाजिक और आर्थिक ताकतों को जन्म दिया जिसने हमारे समाज में राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आंदोलन को जन्म दिया। इस दृष्टिकोण से सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक विचारधारा के बीच संबंधों का अध्ययन अपेक्षाकृत कमजोर कड़ी बनाता है। यह मैक्रो–ऐतिहासिक प्रक्रियाओं, उनके जटिल आंदोलनों और समाज में पैटर्न पर केंद्रित है। कुछ इतिहासकार और सामाजिक वैज्ञानिक लिंकेज की समस्या के प्रति संवेदनशीलता दिखाते हैं। वे भारत में राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आंदोलन के वृहद–विश्लेषण को उदार या मार्क्सवादी किस्म के अभिजात्यवाद का प्रभुत्व पाते हैं। भारतीय राष्ट्रवाद का ऐसा इतिहासलेखन उनके अनुसार उपनिवेशवादी–अभिजात्यवाद या बुर्जुआ राष्ट्रवादी अभिजात्यवाद से ग्रस्त है जो भारत में ब्रिटिश शासन का एक वैचारिक उत्पाद है। वे राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद को समझने के लिए एक वैकल्पिक मॉडल का सुझाव देते हैं जो संरचनावादी सिद्धांत से अपनी प्रेरणा प्राप्त करता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद की विचारधारा को भारत में क्षैतिज रेखाओं पर जन लामबंदी और अभिजात्य राष्ट्रवादी नेतृत्व द्वारा इसकी ऊर्ध्वाधर लामबंदी के बीच संरचनात्मक दरारों का सामना करना पड़ा। जन आंदोलन जाति, वर्ग और क्षेत्र के सिद्धांतों पर आधारित था; यह शोषण के खिलाफ सामाजिक प्रतिरोध करने और संबद्ध करने में सहज था। इसकी लामबंदी औपचारिक, वैचारिक या कानूनी रणनीति पर आधारित नहीं थी और यह बीच में कभी भी परिवर्तित हो सकती थी। संभ्रांत नेताओं के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन ने इस तरह की सबाल्टर्न लामबंदी का चुनिंदा उपयोग किया। सबाल्टर्न अपने आप में राष्ट्रीय आंदोलन नहीं बना सका। फिर भी कुलीन नेतृत्व ने इन आंदोलनों को अपनी वर्गीय विचारधारा के कारण सामाजिक लामबंदी के लिए एक संयुक्त मोर्चा बनाने में मदद नहीं की। राष्ट्रवाद सामाजिक शक्तियों के ऐतिहासिक संयोग का एक उत्पाद है जिसके माध्यम से न केवल संबंध स्थापित या विस्तारित होते हैं बल्कि गुणात्मक रूप से मजबूत भी होते हैं। इसलिए राष्ट्रवाद एक तैयार उत्पाद नहीं है और न ही एक औपचारिक संरचना या नियामक मॉडल है बल्कि एक जैविक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सभ्य समाज अपने आप को भीतर से गुणात्मक भेदभाव और एक क्षेत्रीय सीमा के भीतर अपने

बेहतर एकीकरण से मजबूत करते हैं। लुई ड्यूमॉन्ट के अनुसार राष्ट्रवाद राष्ट्र को उसके अस्तित्व से प्रेरित, प्रवृत्ति या राष्ट्र के निर्माण की आकांक्षा के रूप में संदर्भित करता है।

टिप्पणी

नवीन सामाजिक वर्गों का उदय

मध्यकालीन शासन व्यवस्था के पश्चात भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना हुई। औपनिवेशिक शासन की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उनके जो भी कार्य थे वे स्वार्थ से भरे हुए थे। उनका हर दृष्टिकोण इस बात के लिए था कि किस प्रकार अपनी शासन प्रणाली को भारतीयों के ऊपर थोपकर अपने प्रशासन को शक्तिशाली बनाए।

प्राचीन तंत्र पर इस प्रकार से प्रहार किए कि नवीन सामाजिक वर्गों का उदय हुआ जो भारतीय समाज के लिए नई प्रेरणा रहे हैं। अंग्रेजों की विजय ने भारतीयों को एक नए परिवेश से परिचय कराया। इस व्यवस्था से भारतीय रोमांचित और भयभीत दोनों थे। कुछ भारतीय नया सीखने का प्रयास कर रहे थे, तो कुछ अपनी संस्कृति के मूल तत्वों को नष्ट होने से बचाने की कोशिश में लगे थे। इन सभी तत्वों ने नवीन वर्गों के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

नवीन भू–राजस्व व्यवस्था ने हमारी पारंपरिक अर्थव्यवस्था को चोट पहुंचाई। इससे नवीन वर्गों का उदय, खेतिहर किसान, भूमिहीन किसान, कृषि मजदूर, सूदखोरों, महाजनों, जमींदारों के रूप में हुआ। औद्योगिक प्रणाली ने पूंजीपति वर्ग, व्यापारी वर्ग, मिल मालिकों को जन्म दिया। पाश्चात्य शिक्षा से अंग्रेज भले ही अपने समर्थक भारतीयों का वर्ग तैयार करना चाहते थे परंतु इस शिक्षा ने बुद्धिजीवी मध्यवर्ग का उत्थान किया जो अपने ज्ञान से चेतना का नया संचार भारतीय जनमानस के भीतर भर देना चाहते थे। इस वर्ग में डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, पत्रकार और समाज सुधारक शामिल थे। नवीन प्रशासनिक व्यवस्था ने राजा–महाराजाओं के अधिकारों को लगभग समाप्त कर दिया। ये अंग्रेजों की सर्वोच्चता और उनकी अधीनस्थता स्वीकार करने को विवश होते चले गए।

कालान्तर में अंग्रेजों की नीतियों से परेशान होकर इन वर्गों ने राष्ट्रीय आंदोलन में सहयोग कर भारत की स्वतंत्रता के प्रयास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

बौद्धिक या मध्यम वर्ग– मध्यम वर्ग का उदय जब–जब विश्व में हुआ है तब–तब परिवर्तन के युग की शुरुआत हुई है। मध्यम वर्ग ने अपने विचारों से पुरातन पंथी विचारों की कटु आलोचना कर नये युग का सूत्रपात किया है।

मध्यम वर्ग तीसरे वर्ग या बुद्धिजीवी वर्ग के नाम से जाना जाता है "जो अपनी योग्यता एवं कार्यों से समाज में अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है।" इस वर्ग में वकील, चिकित्सक, अध्यापक, लेखक, व्यापारी, उत्पादक, साहूकार आदि आते थे। यह वर्ग शिक्षा–दीक्षा और अपने व्यवहार–शिष्टाचार में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। यह वर्ग परिवर्तन चाहता था। वे सुशिक्षित थे और उनके मस्तिष्क उस युग के नवीन विचारों से ओत–प्रोत थे। वे सामाजिक समता चाहते थे। एबे सेज ने मध्यम वर्ग की परिभाषा कुछ इस प्रकार व्यक्त की है– "तीसरा वर्ग क्या? सब कुछ। राजनीति में अब तक उसका स्थान क्या रहा है? कुछ नहीं। उसकी इच्छा क्या है? वह सब कुछ होना चाहता है।"

टिप्पणी

भारतीय मध्यम वर्ग की अपनी विशेषता है। परंपरागत मध्यम वर्ग पाश्चात्य ज्ञान प्राप्त कर बुद्धिजीवी वर्ग में शामिल हो गया जो भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासों एवं कुरीतियों में बदलाव कर भारत को स्वतंत्रता के मार्ग पर प्रशस्त करना चाहता था।

मध्यम वर्ग के उदय के कारण

1. **आर्थिक कारण**– औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्रांति का प्रभाव भारत में भी दिखाई दिया। यहां अनेक व्यापारिक केंद्र स्थापित हुए। जिससे वहां कार्य करने वाले मजदूरों की स्थिति में परिवर्तन आया।
2. **अंग्रेजी शिक्षा**– अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति को लागू किया जिससे दीक्षित होकर भारतीय समाज में एक नए वर्ग 'मध्यम वर्ग' का उदय हुआ जिसने समाज सुधार द्वारा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सरकार को सहयोग दिया। मैकाले और लॉर्ड हार्डिंग्स की शिक्षा नीति के फलस्वरूप भारतीय समाज में नवीन वर्ग का उदय हुआ जो सुधारों में विश्वास करता था।

   नए बुद्धिजीवी वर्ग जो इंग्लैण्ड से भी विद्या ग्रहण कर चुके थे उन्होंने यहां आकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया।
3. **पश्चिमीकरण की प्रक्रिया**– ब्रिटिश शासकों के संपर्क तथा उनकी संपन्नता से प्रभावित होकर मध्यम वर्ग पाश्चात्य सभ्यता, रीतिरिवाज, भाषा, साहित्य तथा मूल्यों की ओर आकृष्ट हुआ और उन्हें अपनाकर स्वयं को सम्मानित अनुभव करने लगा।
4. **नगरीकरण**– ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों के परम्परागत भारतीय समाज में मध्यम वर्ग का उदय पहले हुआ। औद्योगीकरण तथा वाणिज्य व व्यवसाय की वृद्धि के साथ नए नगरों का निर्माण हुआ और पुराने नगरों का विकास हुआ। उद्योग धंधों में नौकरी के आकर्षक अवसरों के कारण नगरों के मध्यम वर्ग की संख्या तीव्र गति से बढ़ने लगी।
5. **अंग्रेजों की भू–राजस्व भूमिका**– मध्यम वर्ग के लोग ग्रामीण क्षेत्रों में भूस्वामी बनकर अथवा कृषि कार्य में संलग्न होकर कृषि उत्पादन की वृद्धि में सहायक हुए। ग्रामों में अंग्रेजों की स्थायी भू–राजस्व नीति तथा रैयतवाड़ी प्रथा के कारण परम्परागत भू–स्वामियों के स्थान पर कृषकों को भूमि का स्वामित्व मिला, जिसके कारण नवीन मध्यम वर्ग का वर्चस्व बढ़ा। अंग्रेजों की समानता की नीति से समाज के सभी वर्गों को व्यापार एवं वाणिज्य द्वारा जीवन यापन करने का समान अधिकार मिला।

राष्ट्रवाद के उदय में मध्यम वर्ग की भूमिका

पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार यद्यपि प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए किया गया था, परंतु इससे नवशिक्षित वर्ग के लिए पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा के द्वार खुल गए थे– मिल्टन, शैली, बेंथम, मिल, स्पेनार, रूसो तथा वाल्टेयर ने भारतीय बुद्धिजीवियों में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वशासन की भावनाएं जगा दीं और उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य का विरोधाभास अखरने लगा।

टिप्पणी

नए बुद्धिजीवी लोग प्रायः कनिष्ठ प्रशासक, वकील, डॉक्टर, अध्यापक इत्यादि ही थे। इनमें से कुछ लोग इंग्लैण्ड में भी विद्या ग्रहण कर चुके थे। उन्होंने वहां अपनी आंखों से इन राजनीतिक संस्थाओं का प्रचलन भी देखा था। यहां लौटने पर उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनके मौलिक अधिकार शून्य के बराबर हैं और वातावरण में दासता ही दासता है। ये विलायत पास लोग जिनमें पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त दिन–प्रतिदिन बढ़ती हुई संख्या सम्मिलित हो रही थी, भारत का मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग था और यह अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग था।

अंग्रेजों के प्रशासनिक तथा आर्थिक क्षेत्र की नवीन प्रक्रिया से नगरों में नवीन मध्यवर्गीय नागरिकों की एक श्रेणी उत्पन्न हुई। इस नवीन श्रेणी ने तत्परता से अंग्रेजी भाषा सीख ली क्योंकि इससे नियुक्तियां प्राप्त करने में सुविधा हो जाती थी और दूसरों से सम्मान, भी मिलता था। यह नवीन श्रेणी अपनी शिक्षा, समाज में उच्च स्थान तथा प्रशासक वर्ग के समीप होने के कारण आगे आ गई। पी. स्पीयर महोदय लिखते हैं– "यह नवीन मध्यम वर्ग एक संगठित अखिल भारतीय वर्ग था जिसकी पृष्ठभूमि तो अलग–अलग थी परंतु जिसकी ज्ञान, विचार तथा मूल्यों की अग्रभूमि समान थी.....यह भारतीय समाज का एक छोटा सा अंग था, परंतु एक गतिशील अंग था। इसमें उद्देश्य की एकता तथा आशा की भावना थी।"

यह मध्यम वर्ग आधुनिक भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा पीछे इसने समस्त भारत में अपनी इस शक्ति का संचार कर दिया। इसी वर्ग ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को इसके विकास के सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया।

19वीं शताब्दी में बुद्धिजीवी वर्ग ने पाश्चात्य दर्शन तथा विज्ञान के प्रकाश में जो ज्ञान प्राप्त किया था, अपने धार्मिक विश्वासों, रीति रिवाजों तथा सामाजिक प्रथाओं का पुनः परीक्षण करना आरंभ कर दिया। इसके फलस्वरूप, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाएटी तथा रामकृष्ण मिशन आदि अस्तित्व में आए। ये सभी आंदोलन उन्नतिशील थे और चाहते थे कि समाज का गठन प्रजातंत्र, सामाजिक तथा व्यक्तिगत समानता तर्क, बुद्धिवाद तथा उदारवाद आदि आधारों पर किया जाए।

भारत के इस बुद्धिजीवी वर्ग ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध आवाज उठाकर भारत के समस्त क्षेत्रों की दुर्दशा का विवरण जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करने में अहम् भूमिका का निर्वहन किया। किस प्रकार अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के लिए किस प्रकार नीतियों का निर्धारण कर भारतीयों का शोषण किया। उन्होंने भारतीय समाज में प्रगतिशील तत्वों का नेतृत्व कर सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का सूत्रधार बना। भारतीयों में हर क्षेत्र में चेतना जाग्रत कर राष्ट्रीयता की भावना का संचार करने में मध्यमवर्ग की अहम् भूमिका रही।

कृषक वर्ग : साम्राज्यवादी अंग्रेजी शासन के अधीन भारतीय कृषि व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए। भू–राजस्व की नवीन पद्धतियों के द्वारा अधिक से अधिक भू राजस्व वसूल किया गया जिससे कृषकों में भारी असंतोष फैला। अंग्रेजों द्वारा भारत की 19% भूमि पर स्थायी बंदोबस्त (जमींदारी पद्धति) लागू किया गया। इसमें बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि सम्मिलित थे। यू.पी. मध्यप्रांत एवं पंजाब में 30% भूमि पर महालवाड़ी

प्रणाली लागू की गई। रैयतवाड़ी बंदोबस्त बंबई, मद्रास आदि में 51% भूमि पर लागू किया गया।

टिप्पणी

स्थायी बंदोबस्त अथवा जमींदारी पद्धति के तहत जमींदार को भूमि का स्वामी मान लिया गया जो भूमि को बेच सकता था अथवा दान दे सकता था। भूमि कर की दर निश्चित हो गई। बंगाल में यह दर 89% थी। अतः जमींदार के पास मात्र 11% शेष बचना था। इस कारण जमींदारों ने अधिक से अधिक लाभ उठाने हेतु कृषकों से अधिक से अधिक कर वसूल करने का प्रयास किया। महालवाड़ी एवं रैयतवाड़ी बंदोबस्त से भी कृषकों को हानि उठानी पड़ी। सरकारी कर तथा जमींदारों का भाग अत्यधिक होने के कारण कृषक निरंतर साहूकारों एवं व्यापारियों के मकड़जाल में उलझते चले गए। इस प्रकार कृषक मात्र विदेशी ही नहीं देशी शोषक वर्ग के शोषण का भी शिकार हुआ।

जमींदारों का शोषण एवं ब्रिटिश सरकार की नीतियां किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि बनीं। ये वर्ष 1858 और वर्ष 1914 के बाद के आंदोलनों के विपरीत स्थानीयकृत, असंबद्ध और विशेष शिकायतों तक सीमित थीं। बिहार प्रांतीय किसान सभा की वर्ष 1929 में और अखिल भारतीय किसान सभा (AIKS) की 1936 में स्थापना हुई। 1936 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में सहजानंद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय किसान सभा का गठन किया गया था। बाद में इसने एक किसान घोषणापत्र जारी किया जिसमें सभी काश्तकारों के लिए जमींदारी और अधियोग अधिकारों को समाप्त करने की मांग की गई थी।

किसान आंदोलन एवं राष्ट्रवाद– राष्ट्रवाद की विचारधारा अनेक किसान आंदोलनों के माध्यम से उभरकर सामने आई, जिसमें सिद्धु एवं कान्हू के नेतृत्व में 1855–56 में संथाल विद्रोह हुआ, जिसका क्रूरतापूर्वक दमन कर दिया गया। 1857 ई. की क्रांति में भी कृषकों ने अहम् भूमिका निभाई। बंगाल में 1859–62 में नील आंदोलन हुआ जिसमें अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए यूरोपीय बागान मालिकों ने किसानों को खाद्य फसलों की बजाय नील की खेती करने के लिए बाध्य किया जिससे वहां के किसानों ने आंदोलन कर दिया। बंगाली पत्रकार हरीशचंद्र मुखर्जी ने अपने अखबार 'द हिंदू पैट्रियट' में बंगाल के किसानों की दुर्दशा का वर्णन किया। 'बंगाली लेखक और नाटककार' दीनबंधु मित्रा ने अपने नाटक 'नील दर्पण' में भी इसका वर्णन किया है।

1860 ई. में पाबना एवं नदिया जिले के कृषकों द्वारा भारतीय इतिहास की सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण कृषक हड़ताल हुई। 1875 ई. में मारवाड़ी एवं गुजराती साहूकारों के विरुद्ध मराठा कृषक विद्रोह किया गया था। महात्मा गांधी ने भी कृषकों की विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु चंपारण एवं खेड़ा सत्याग्रह में भाग लिया।

1920 के दशक में बंगाल, पंजाब, यूपी आदि में किसान सभाओं का गठन किया गया। 11 अप्रैल, 1936 ई. को अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ। इसके गठन ने किसानों के अंदर नई प्रेरणा स्रोत का संचार किया। अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया। किसान सभा ने नए कार्यक्रमों के तहत जमींदारी प्रथा समाप्त करने की मांग रखी। इस प्रकार प्रथम बार किसानों ने एकजुट होकर आंदोलन के प्रति एवं अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए।

टिप्पणी

किसान संघर्ष एवं आंदोलनों को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ने का श्रेय मुख्य रूप से महात्मा गांधी को जाता है। उनके नेतृत्व में ही भारतीय जनमानस अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की ओर अग्रसर हुआ। गांधी जी के नेतृत्व में दो प्रारंभिक सफल किसान आंदोलनों ने गांधी को राष्ट्रीय मंच के केंद्र में ला दिया। भारत में गांधी जी के नेतृत्व में किया गया प्रथम किसान सत्याग्रह चंपारन सत्याग्रह था। गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों ने सरकार के विरुद्ध बढ़ी हुई लगान के खिलाफ गांधी जी के नेतृत्व में आंदोलन किया। 17 अक्टूबर, 1920 को बाबा रामचंद्र के प्रयास से अवध किसान सभा का गठन किया गया। 1928 में बल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में बारदोली का सफल किसान आंदोलन संपन्न हुआ। गांधी जी ने आंदोलन की सफलता पर कहा कि "बारदोली संघर्ष चाहे जो कुछ भी हो, यह स्वाराज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष नहीं है। लेकिन इस तरह का हर संघर्ष, हर प्रयास हमें स्वाराज्य के करीब पहुंचा रहा है।"

इन विद्रोहों का उद्देश्य भारत से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकना नहीं था, लेकिन उन्होंने भारतीयों में जागरूकता पैदा की। उन्होंने शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ संगठित होने तथा लड़ने की आवश्यकता महसूस की। किसानों में गैर–भेदभाव और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की सर्वव्यापी प्रकृति के कारण किसान आंदोलन भूमिहीन मजदूरों एवं सामंतवाद विरोधी किसानों के सभी वर्गों को एकजुट करने में सक्षम रहा। इस आंदोलन ने राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया।

जमींदार वर्ग– औपनिवेशिक सत्ता की प्रमुख देन जमींदार वर्ग रहा है। भू–राजस्व व्यवस्था के सही ढंग से क्रियान्वयन हेतु अंग्रेजों को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो पूर्णरूप से उनके प्रति समर्पित होकर उनका सहयोग कर सके। ब्रिटिश राज द्वारा सृजित एवं पोषित यह पूर्णतः राजभक्त वर्ग था। जमींदार वर्ग ने आंदोलनों के समय ब्रिटिश सत्ता के लिए रक्षा दीवार की तरह कवच के रूप में कार्य किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा जमींदारों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई गई। 1857 में तो कैनिंग द्वारा राजाओं और जमींदारों को "आंधी में तरंगरोधक" की संज्ञा दी गई थी। 1881 में मैसूर हिंदू राजाओं को लौटा दिया गया। डफरिन के काल में 'इम्पीरियल सर्विस कोर' की स्थापना हुई और अजमेर के मेयो कॉलेज में राजकुमारों तथा कालिवन कॉलेजों में अवध के ताल्लुकेदारों को पब्लिक स्कूलों जैसी शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। वास्तविक रूप से इन पर ब्रिटिश शासन की सर्वोच्चता बनी हुई थी जिनके द्वारा आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग किया जाता था। इस व्यवस्था में भारत के एक–तिहाई भाग में जो कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत था, ब्रिटिश शासकों द्वारा जमींदार वर्ग व निरंकुशता को बढ़ावा दिया जा रहा था। ब्रिटिश शासन की भारत में सच्चा आधुनिकीकरण करने की रुचि कभी नहीं रही अपितु जमींदार वर्ग को बढ़ावा देकर उसके माध्यम से वह अपना कार्य निकाल रही थी। इस तरह कुछ राज्यों द्वारा अपने–अपने प्रशासन को ब्रिटिश प्रशासन के समकक्ष बना लिया गया था। इन राज्यों में मैसूर तथा बड़ौदा की रियासतें तो सामाजिक सुधार कार्य में अग्रणी थीं। बड़ौदा राज्य तो विवाह संबंधी कानून के क्षेत्र में स्वाधीनता मिलने तक ब्रिटिश भारत से आगे रहा। ट्रावनकोर राज्य में तो साक्षरता की दर अप्रत्साहित रूप में ऊंची थी तथा बड़ौदा राज्य द्वारा तो समय–समय पर नौरोजी, आर.सी. दत्त और अरविंद घोष जैसे लोगों से उन्हें नौकरी देकर अपना संपर्क बनाए रखा गया। जहां तक जमींदारों का सवाल है। कलकत्ता की 'ब्रिटिश इंडियन

टिप्पणी

एसोसिएशन' जैसी भू–स्वामियों के प्रभुत्व वाली संस्थाएं 1850 के दशक में तथा बाद में नरम दलीय कांग्रेस द्वारा की जाने वाली मांगों में से अनेक को उठा चुकी थी। किंतु 1870 के दशक के बाद मध्यमवर्गीय समितियों के उदय के बाद से तो जमींदारों की संस्थाएं तेजी से अंग्रेजों की बातों में आने लगीं और उनकी मित्र बनने लगीं।

महिलाओं में वर्गीय चेतना– भारतीय महिला समाज व देश से संबद्ध किसी भी कार्य में पीछे नहीं रही। अपितु उन्होंने विभिन्न कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेकर अपनी प्रतिबद्धता को सिद्ध किया। उन्होंने देश के स्वाधीनता आंदोलन में गांधी जी को पूर्ण सहयोग व समर्थन प्रदान किया और विभिन्न क्रांतिकारी कार्यक्रमों में भाग लिया। इस संदर्भ में ए.ओ. ह्यूम ने एक बार कहा था कि जब तक देश के उत्थान के लिए महिलाएं अपनी भागीदारी को सिद्ध नहीं करेंगी, उनके मताधिकार के प्रयास लगभग असफल रहेंगे।

प्राचीन काल में भारतीय महिलाओं की स्थिति सम्मानपूर्ण व आदरणीय थी। इस अवधि में आर्य अपने समस्त धार्मिक एवं पवित्र कर्म महिलाओं के सहयोग से ही संपादित करते थे। स्त्री को अर्धांगिनी और अर्द्धस्वामिनी के नाम से पुकारा जाता था, परंतु कालान्तर में समय के साथ समाज में महिलाओं के आदर व सम्मान में गिरावट आने लगी।

औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। महिलाओं की उपेक्षा किए जाने के कारण पर्याप्त समय तक देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहा। अंग्रेजों ने भारत को कमाई का जरिया बनाया। उन्होंने महिलाओं की स्थिति सुधारने का प्रयास नहीं किया। 1854 ई. के वुड्स डिस्पेच में महिलाओं की उच्च शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया। जिससे देश में एकता का संचार हुआ और राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। अंग्रेजी सरकार द्वारा शिक्षा के प्रसार और कानूनों के बनाए जाने से महिलाओं की वैधानिक स्थिति में अधिक परिपक्वता दिखाई देने लगी। इस काल में नारी आंदोलन का सूत्रपात हुआ।

1857 ई. के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से कुछ समय पहले ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा कई कन्या पाठशालाओं की स्थापना की गई। मुख्यतः ये वे कन्याएं थी जिनके माता–पिता ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके थे। इस समय सामाजिक, धार्मिक आंदोलन के फलस्वरूप ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल समाज आदि कई उन्नतिशील संस्थाएं शिक्षा के विकास में संलग्न थीं।

दक्षिणी शिक्षा समिति तथा सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी भी शिक्षा के कार्य में महत्वपूर्ण योगदान कर रही थी। 1890 ई. में आर्य समाज ने पंजाब में सर्व शिक्षा के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। 1907 ई. में 'भारतीय स्त्री समाज' की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। जिसने भारतीय महिलाओं में चेतना जाग्रत करने का प्रत्येक संभव प्रयास किया। 'रमा बाई रानाडे' ने 'पूना सेवा सदन' की स्थापना की। 1917 में अखिल भारतीय महिला संगठन के एक प्रतिनिधि मंडल ने मोंटेस्क्यू से मिलकर महिला मताधिकारों की मांग की। 1920 के पश्चात् महात्मा गांधी की प्रेरणा से भारतीय महिलाओं ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेना प्रारंभ किया। 1926 में महिलाओं

ने अखिल भारतीय संगठन खड़ा किया जिसका प्रथम अधिवेशन पूना में आयोजित किया गया।

टिप्पणी

भारतीय महिला संगठनों ने शिक्षा के प्रसार व प्रचार, पर्दा निषेध और दहेज प्रथा का विरोध आदि कार्यक्रमों को जारी रखा। अनेक महिलाओं ने देश के भिन्न–भिन्न भागों से जाकर इन कार्यक्रमों की सफलता में अपना योगदान प्रदान किया।

भारतवर्ष की विदुषी और उत्साही महिलाएं पहले भी 1905 ई. बंगाल विभाजन के अवसर पर अंग्रेजी सरकार के विरोध में आंदोलन का संचालन कर चुकी थीं और अपने विभिन्न कार्यक्रमों के आयोजन द्वारा बंगाल में एकता स्थापित करने की शपथ उठा चुकी थीं। 1920–22 ई. में जब गांधी जी ने अंग्रेजी सरकार के विरोध में असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया तब भी महिलाओं ने बहुत बड़ी संख्या में इस आंदोलन से जुड़कर उन्हें अपना सहयोग व समर्थन प्रदान किया। 1930 ई. में सविनय अवज्ञा आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी से एक नवीन चरण का सूत्रपात हुआ। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में मोहनी सहगल, चंद्रप्रभा, सैफानी, राजकुमारी अमृत कौर, पुष्पा रजनी घोष ने योगदान दिया। इस आंदोलन की घटना ने भारतीय नारी में छिपी अद्‌भुत क्षमता और उसकी शक्ति को विश्व के सम्मुख रखा।

इस प्रकार अनेक संदर्भों में नारी प्रगति की ओर अग्रसर हुई और इससे सभी क्षेत्रों में वर्गीय चेतना का आरंभ हुआ। प्रारंभिक अवस्था में उनमें शिक्षा के प्रति जागरूकता का विकास हुआ। उनमें अपने अधिकारों के प्रति सजगता आई। वे अपने अंदर के सामर्थ्य और क्षमता को पहचानने में सफल हुईं। अब ऐसा प्रतीत होने लगा है कि शायद वह दिन अब अधिक दूर नहीं है जब महिलाएं स्वयं प्रगति पथ पर अपनी राह को आसान बनाने में सफल हो जाएंगी और भारतीय संस्कृति को विश्व में एक नया स्थान दिलाने में सफलता प्राप्त करेंगी।

दलितों में वर्गीय चेतना– उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण का प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप दलित जातियों में भी सुधार आंदोलन आरंभ हो गए। जाति प्रथा एक पुरातन व्यवस्था है। इस प्रथा ने समाज को कई वर्गों में विभाजित कर दिया और हिंदू समाज की एकता को समाप्त कर दिया। परंतु औपनिवेशिक शासन काल में समाज के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ। जिससे निम्न जाति वर्ग में भी नवीन चेतना का विस्तार हुआ। नवीन व्यापारिक प्रणाली ने, नगरीकरण को बढ़ावा दिया तथा यातायात के साधनों का विस्तार किया जिससे कानून की समानता, आवागमन के साधनों में यात्रा की समानता, शिक्षा की समानता ने जाति प्रणाली को कमजोर कर दिया।

भारतीयों में समानता, स्वतंत्रता के साथ प्रजातंत्रीय संस्थाओं के विचार उत्पन्न हुए उनमें राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। ऐसा राष्ट्रवाद जिसमें सभी नागरिक समान तथा स्वतंत्र होंगे। इस प्रकार निम्न जातियां राष्ट्रीय आंदोलन का अंग बन गईं।

निम्न जातियों ने उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले संगठनों का निर्माण किया 1917 ई. में पी. त्यागराय तथा टी.एम. नैय्यर द्वारा गैर–ब्राह्मण संस्था का गठन किया था और इसका नाम दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ रखा जो बाद में 'जस्टिस पार्टी' के नाम से जानी गई। उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध आंदोलन चलाया और उन्हें संगठित करने का प्रयास किया। केरल में 'नारायण

टिप्पणी

गुरु' ने अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन का आरंभ किया। वे 'एझावा' जाति के थे जिसे अस्पृश्य माना जाता था। उन्होंने 'एस.एन.डी.पी.' पार्टी की स्थापना की। इस पार्टी ने एझावा जाति के उत्थान के लिए कार्य किए। 'ज्योतिराव गोविन्दराव फुले' को महाराष्ट्र में अस्पृश्यता के विरुद्ध आंदोलन का आरंभ करने का श्रेय प्रदान किया जाता है। 1873 में ज्योतिबा ने निम्न वर्गों को सामाजिक न्याय दिलाने हेतु 'सत्य शोधक सभा' की स्थापना की। उन्होंने अनेक पाठशालाओं की स्थापना कर निम्न जाति को शिक्षित करने का प्रयास किया। इस क्षेत्र में भीमराव अंबेडकर का भी प्रमुख योगदान रहा। 1924 में उन्होंने अस्पृश्य जातियों के उत्थान के लिए 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। उन्होंने नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए आंदोलन करने की नीति का सहारा लिया। जिससे निम्न जातियां अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकें। 1942 में अंबेडकर ने 'अनुसूचित जाति परिसंघ बनाया। उन्होंने भारतीय संविधान का निर्माण किया तथा अछूतों को समान अधिकार तथा संरक्षण देने की नीति शुरू की।

महात्मा गांधी ने भी अछूतों के उद्धार का प्रयास किया। 'हरिजन पत्रिका' का प्रकाशन किया। 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। गांधी जी ने अस्पृश्यता का विरोध किया।

इस प्रकार जाति विरोधी आंदोलनों ने भी राष्ट्रीय आंदोलन को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया।

देशी नरेशों में वर्गीय आधार– अंग्रेजों ने भारत विजय के दौरान देशी रियासतों के साथ अपनी नीतियों को प्राथमिकता के साथ तय किया। भारत में अंग्रेजी सर्वोच्चता स्थापित होने के पश्चात् अंग्रेजों ने देशी रियासतों एवं उनके राजाओं के साथ दोहरी नीति का निर्धारण किया। वे इन रियासतों के संरक्षक बन गए। जिससे वे अंग्रेजों को स्थायित्व प्रदान करने में सहायता प्रदान कर सकें। राष्ट्रीय आंदोलन की जन चेतना को निचले स्तर पर ही समाप्त करने में उनकी मदद कर सकें। देशी नरेशों पर आंतरिक एवं बाह्य दोनों नियंत्रण स्थापित कर दिए गए।

सहायक संधियों, हड़प नीति एवं अंग्रेजी प्रशासन से मुक्त होने का प्रयास 1857 में देशी रियासतों द्वारा वृहद स्तर पर किया गया। परंतु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। 1858 में महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र ने देशी नरेशों के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण को बदल दिया। इस घोषणा के अनुसार देशी राजाओं के भी ब्रिटिश ताज से संबंध स्थापित हुए पहले जो साम्राज्य विस्तार की नीति लार्ड डलहौजी ने अपनाई थी उसका अंत हुआ और भारतीय राजाओं को विश्वास दिलाया गया कि ब्रिटिश सरकार उनके प्रदेशों को नहीं हड़पेगी इससे देशी नरेशों के ह्रदय में ब्रिटिश सरकार के प्रति घृणा के स्थान पर सद्भावना उत्पन्न हुई।

8 फरवरी, 1921 में 'भारतीय नरेश मंडल' का गठन हुआ जिसका प्रयोग नरेशों ने अपने वर्गीय हितों की रक्षा के लिए किया। इसका प्रयोग नरेशों ने अपने प्रति अंग्रेजों की सुरक्षात्मक नीति के रूप में किया। अंग्रेजों ने उन्हें प्रशासन में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जिससे भारत में उभरते हुए राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति को कमजोर किया जा सके। औपनिवेशिक सत्ता को मजबूत करने के लिए अंग्रेजों ने इनका भरपूर सहयोग लिया। परंतु यह सब जन सामान्य वर्ग में राष्ट्र के प्रति देशप्रेम की भावना को

कमजोर नहीं कर सका बल्कि स्वतंत्रता के पश्चात इन देशी रियासतों का विलय निश्चित कर दिया। सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रयासों से भारत एकता के सूत्र में पुनः बंधने में कामयाब रहा।

टिप्पणी

जनजातीय विद्रोह और राष्ट्रवाद– भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन को गति प्रदान करने में आदिवासी आंदोलनों की भी प्रमुख भूमिका रही। आधुनिक सभ्यता से दूर घने जंगलों, मरुस्थलों, दुर्गम पर्वतों में निवास करने वाले इन लोगों को आदिवासियों (जनजातियों) की संज्ञा दी गई। वे सदैव से प्रकृति की गोद में निवास करते थे। वही उनकी जन्मस्थली थी और कर्मस्थली भी।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही उन्होंने इनकी सभ्यता, संस्कृति एवं जंगलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया जिससे आदिवासियों के अंदर असंतोष व्याप्त हो गया। स्टीफन फक्स के अनुसार, "जनजातियों में उन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध गहरा असंतोष था जो उन पर थोपी गई थी।" यही कारण है कि इन आंदोलनों को जनजातीय समुदाय द्वारा औपनिवेशिक व्यवस्था के विरुद्ध छेड़े गए संघर्ष के रूप में देखा जाता है।

जनजातीय विद्रोह के कारण

जनजातीय विद्रोह के निम्न कारण थे–

राजनीतिक कारण : प्राचीन काल से ही भारत की विभिन्न जनजातियां स्वच्छन्दतापूर्ण जीवन व्यतीत करती थी। ब्रिटिश शासन ने जब उनकी स्वायत्तता छीनने की कोशिश की तो उनमें आक्रोश उत्पन्न हो गया। सामरिक, व्यापारिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ब्रिटिश सत्ता ने विभिन्न जनजातीय क्षेत्रों में सड़कें बनवाईं, रेलवे लाइन डाली। पुलिस थाने एवं सैनिक छावनियां स्थापित कीं। जंगल जनजातीय आजीविका के प्रमुख साधन थे और ब्रिटिश सत्ता ने, इन जंगलों को अपने उक्त स्वार्थों हेतु साफ किया तो जनजातियां आंदोलित हो उठीं।

आर्थिक कारण : झूम खेती जनजातीय संस्कृति का प्रमुख अंग था। झूम खेती के तहत आदिवासी प्रत्येक वर्ष एक नवीन भूमि को चुनकर उस पर खेती करते थे। परंतु ब्रिटिश शासन ने उन्हें झूम खेती के स्थान पर स्थायी खेती हेतु बाध्य किया जिसके तहत आदिवासियों को भूमि के एक टुकड़े पर स्थायी रूप से खेती करने को विवश किया। प्राचीन समय से आदिवासी जंगलों पर निर्भर थे। खाद्य सामग्री उन्हें जंगलों से ही प्राप्त होती थी। अंग्रेजों ने 1870 में कानून लागू किया एवं 1875 में इसमें संशोधन किया। इस कानून के द्वारा आदिवासियों की जीविका पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जनजातियों को वनों पर नियंत्रण पसंद नहीं आया। स्थायी बंदोबस्त के द्वारा आदिवासियों को लगान देने के लिए बाध्य किया गया। इस प्रकार आदिवासियों का प्रत्येक क्षेत्र में शोषण किया गया।

सामाजिक कारण– लार्ड विलियम बैंटिक ने जो सामाजिक सुधार अधिनियम पारित किए, वे आदिवासियों को पसंद नहीं आए। मध्यकाल तक उच्चवर्गीय हिंदू एवं आदिवासी समाज के बीच निकटता देखी जा सकती थी। परंतु 18वीं शताब्दी में इनके

बीच दूरियां आ गईं। उच्चवर्गीय समाज उन्हें निम्न समझने लगा जिससे जनजातियों के मन में असंतोष उत्पन्न हो गया।

टिप्पणी

धार्मिक कारण– उच्चवर्गीय हिंदू समाज आदिवासियों को अपने से निम्न समझता था, इस बात का फायदा ईसाई धर्म प्रचारकों ने उठाया और अपने धर्म प्रचार के लिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों को चुना। उन्होंने विपत्ति के समय आदिवासियों की मदद की, उनमें शिक्षा का प्रचार किया और कई जनजातियों को ईसाई धर्म में दीक्षित भी किया परंतु उन्होंने जनजातियों की संस्कृति पर भी प्रहार किया। ईसाई धर्म प्रचारकों ने आदिवासियों के पुरोहितों, जादू, टोनों और भूत–प्रेत संबंधी पुराने विचारों पर भी प्रहार किया जिसे उन्होंने अपनी संस्कृति पर प्रहार माना और वे आंदोलित हो उठे।

प्रमुख जनजातीय विद्रोह– ब्रिटिश नीतियों के विरुद्ध अनेक जनजातीय विद्रोह हुए 1768 में बंगाल के मिदनापुर के चुआर में विद्रोह हुआ। 1858 में छोटा नागपुर क्षेत्र में पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले संथालों ने विद्रोह किया जिसका नेतृत्व सिद्धु एवं कान्हू ने किया। इसके अतिरिक्त अहोम विद्रोह (1828) खासी विद्रोह (1829–32) मुंडा विद्रोह (1899–1900) बिहार में रांची के दक्षिणी क्षेत्र में हुआ जिसका नेता बिरसा मुंडा था। भील, कोल, रमोसी, रम्पा आदि जनजातियों ने अपने अधिकारों के लिए औपनिवेशिक प्रशासन के विरुद्ध विद्रोह किया।

आधुनिक भारत में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध होने वाले आदिवासी आंदोलनों ने असीम शौर्य एवं बलिदान का परिचय दिया। यह अपनी अस्मिता एवं जीविका के साधनों को बचाने के लिए एक ऐसा जुझारू संघर्ष था जिसमें आदिवासियों ने अपनी एकजुटता एवं साहस का परिचय दिया।

विपिन चंद्र के अनुसार, "ब्रिटिश सेना और आदिवासियों के बीच सशस्त्र संघर्ष पूरी तरह दो गैर बराबर पक्षों के बीच संघर्ष था। एक तरफ तो आधुनिकतम हथियारों से लैस फौज और दूसरी तरफ पत्थर, आरी, भाले और तीर–धनुष लिए जूझते बहादुर आदिवासी पुरुष और औरतें, जिन्हें यह विश्वास था कि उनके नेता के पास ईश्वरीय ताकत है। गैर बराबरी के युद्ध में यह आंदोलन असफल रहे। फिर भी आदिवासियों ने इन आंदोलनों द्वारा असीम शौर्य, साहस, एकजुटता एवं जुझारूता की मिसाल कायम की।"

अपनी प्रगति जांचिए

11. भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने वाली प्रमुख महिला थी?

(क) राधिका देवी (ख) रत्नमाला

(ग) फुलेश्वरी (घ) उपर्युक्त सभी

12. "मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक" कविता लिखी है–

(क) सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (ख) जयशंकर प्रसाद

(ग) महादेवी वर्मा (घ) माखनलाल चतुर्वेदी

टिप्पणी

13. मुंडा विद्रोह के नेता थे–

(क) सिद्धु (ख) कान्हू

(ग) बिरसा (घ) भगत

14. अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना किस सन् में हुई?

(क) 1935 (ख) 1937

(ग) 1936 (घ) 1938

15. बंगाल विभाजन कब हुआ–

(क) 1905 (ख) 1907

(ग) 1911 (घ) 1920

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ग)
3. (क)
4. (ग)
5. (ख)
6. (क)
7. (ख)
8. (घ)
9. (क)
10. (घ)
11. (घ)
12. (घ)
13. (ग)
14. (ग)
15. (क)

3.6 सारांश

हिंदू संस्कृति का मुख्य वाहक संस्कृत भाषा है। यद्यपि भारत में पांच सौ से अधिक बोलियां हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है, जिसे हिंदू धर्म के सभी अनुयायी चाहे वे जाति–पांति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से कितने भिन्न हों, मानते हैं, श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत है। वह साहित्य

टिप्पणी

संस्कृत साहित्य है। वही वेद विश्वजनीन ज्ञान का एक मात्र कोश है। हिंदू धर्म दर्शन, व्यवहार शास्त्र और गाथा शास्त्र का एक मात्र साधन वही है। केवल वही एक ऐसा दर्पण है जिसमें हिंदुओं के सभी मत–मतांतर रीति–रिवाज और प्रथाएं ठीक–ठीक प्रतिबिंबित हुई हैं।

धर्म व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक चिंतकों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है, जिसका आधार सदैव 'अध्यात्म' रहा, धार्मिक आस्थाएं रहीं। मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर चिंतन और विचार कर धर्म के क्षेत्र में सदैव सृजन करता रहा। धर्म की व्याख्या हमारे अंदर रोमांच और भय के साथ होती है। कहीं न कहीं हमारे अंदर का भय भी धर्म की ओर मनुष्य को अग्रेसित करता रहा है इसलिए हर काल में इसकी नवीन व्याख्या का निरूपण होता है। धर्म रहस्य का भी विषय है। ईश्वर की व्याख्या को प्रत्येक युग में विभिन्न धर्मों के महापुरुषों के द्वारा अपने ढंग से प्रस्तुत किया गया है और मनुष्य उन महापुरुषों के मार्ग की खोज करते हैं। सभी धर्मों का रास्ता एवं मतों में अंतर हो सकता है। परंतु सभी इस सृष्टि के सृजनकर्ता की खोज में ही लगे हुए हैं।

वर्ण शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से निकलता है जिसका शाब्दिक अर्थ वरण करना या चुनना है। अतः इसका तात्पर्य वृत्ति या व्यवसाय के चयन से है। वर्ण शब्द का प्रारंभ ऋग्वैदिक काल में हुआ। प्राचीन साहित्य में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। वर्ण व्यवस्था को दैवी व्यवस्था मानने का सिद्धांत ऋग्वेद, महाभारत, गीता आदि में मिलता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में 'पुरुष सूक्त' में सर्वप्रथम शूद्र शब्द का उल्लेख मिला है। पुरुष सूक्त में चारों वर्णों को विराट पुरुष के चारों अंगों से उत्पन्न कहा है।

ऋग्वैदिक कालीन इतिहास में अस्तित्व में आई वर्ण व्यवस्था इतिहास की गति के साथ–साथ ही विकसित होती गई। ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का मूल आधार कर्म था। इस समय विभिन्न वर्णों के व्यवसाय खान–पान एवं विवाह आदि में कोई प्रतिबंध दिखाई नहीं देता है। ऋग्वेद में वर्णित एक ऋषि का कथन है कि "मैं कवि हूं मेरी मां अन्न पीसने का कार्य करती है एवं मेरे पिता वैद्य हैं।" इस प्रकार वर्ण व्यवस्था में ऋग्वैदिक काल में जटिलता का अभाव था।

उत्तरवैदिक काल में ही सर्वप्रथम विभिन्न वर्णों के मध्य भेदभाव के लक्षण दिखने लगने लगते हैं। सूत्र काल में वर्ण व्यवस्था में आंशिक कठोरता की भावना दृष्टिगोचर होती है। इस काल में प्रत्येक वर्ण का कर्तव्य निर्धारित कर दिया गया। वर्ण व्यवस्था इस काल में कर्म के स्थान पर जन्म के आधार पर निर्धारित की गई।

बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म को न मानकर कर्म को माना है। महाकाव्यकालीन वर्ण व्यवस्था उदार थी। महाभारत में विदुर, मतंग जन्म से शूद्र थे परन्तु अपने कार्यों से प्रतिष्ठित थे।

मौर्यकाल, गुप्तकाल तक अनेक संकर जातियों का उद्‌भव प्रारंभ हो गया। मेधातिधि, कुल्लुक, विश्व रूप एवं अपरार्क आदि ने इन परिस्थितियों में वर्ण व्यवस्था को नवीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में जीवन्तता प्रदान की। पूर्व मध्यकाल में अर्थात् राजपूत युग

टिप्पणी

में परंपरागत वर्ण विभिन्न जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गए। धीरे–धीरे यह व्यवस्था अत्यधिक जटिल हो गई।

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था ने समाज को व्यवस्थित आधार प्रदान किया। अपने कार्य और योग्यता के अनुसार व्यक्ति किसी भी वर्ण को अपना सकता था परंतु बाह्य आक्रमणकारियों के कारण इसमें जटिलता उत्पन्न हो गई।

जाति परिवारों के समूह को कहते हैं। जो धार्मिक संस्कारों और विशेषकर भोजन और विवाह संबंधी रीतियों की पवित्रता के लिए एकत्र होते हैं। हिंदुओं में वर्ण व्यवस्था की तरह जाति व्यवस्था भी एक सामाजिक संस्था है। Caste शब्द पुर्तगाली शब्द 'Casta' से निकला है इसका अर्थ प्रजाति अथवा नस्ल है। इस शब्द का लैटिन शब्द 'Castus' से भी निकट संबंध स्वीकार किया जाता है जिसका तात्पर्य 'अमिश्रित' अथवा 'जाति' से है। वास्तव में जाति से तात्पर्य एक विशिष्ट आनुवंशिक जातीय समूह से है जो विभिन्न सामाजिक प्रथाओं पर आधारित है।

प्राचीन काल में जाति प्रथा आसानी से बदली जा सकती थी। कोई भी व्यक्ति एक से दूसरे वर्ण में जा सकता था। प्रसिद्ध परशुराम जन्म से ब्राह्मण किंतु कर्म से क्षत्रिय थे। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय किंतु कर्म से ब्रह्मर्षि बन गए। 'वशिष्ठ' वेश्या की संतान थे। महाभारत के प्रसिद्ध मूल लेखक व्यास धीवरी के पुत्र थे। पराशर ऋषि चंडाल के पुत्र थे। ऋग्वेद के एक स्त्रोत के रचयिता का कथन है– "मैं स्त्रोतों का रचयिता हूं, मेरा पिता वैद्य है और मां चक्की पीसती है।" हम सभी विभिन्न कार्यों में लगे हैं। समय के साथ साथ जाति कठोर होती गई। कालान्तर में जातियां कर्मगत न होकर जन्मगत हो गईं।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं में सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि परिवार ही हमारे सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई है अतः सामाजिक संगठन का मूल आधार परिवार है। परिवार या कुटुम्ब मानव की प्रथम पाठशाला होती थी। मानव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार द्वारा ही होती थी। एलमर ने फैमिली शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द Famulus से मानी है। Famulus से ऐसे समूह का ज्ञान होता है जिसमें माता–पिता, बच्चे, दास–दासियां व नौकर भी आते हैं, स्पष्ट है कि Famulus से Family की रूपरेखा स्पष्ट होती है।

परिवार के संचालन में जो नारी की भूमिका होती है वह किसी अन्य सदस्य की नहीं हो सकती। कहते हैं कि नारी परिवार की धड़कन होती है। जिस प्रकार शरीर के संचालन में नाड़ी का महत्व है वही स्थान परिवार में 'नारी' का है। यदि समाज का नारी तंत्र नष्ट भ्रष्ट हो गया तो समाज अचेत हो जाता है। समाज को जीवंत बनाए रखने के लिए नारी तंत्र को बहुत ही मजबूती की जरूरत है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि नारी का परिवार में महत्वपूर्ण स्थान है। महर्षि मनु परिवार में पत्नी को पति से भी अधिक महत्व देते हैं। वे पति–पत्नी को बिना किसी भेदभाव के समान रूप से एक दूसरे को संतुष्ट रखने का दायित्व सौंपते हैं। मनु का कथन है– "पत्नी के व्यवहार से पति संतुष्ट रहता है और पति के व्यवहार से पत्नी संतुष्ट रहती है, उस परिवार का निश्चय ही कल्याण होता है।"

टिप्पणी

समाज की कुरीतियों और अंधविश्वासों को दूर करने के लिए समय–समय पर दार्शनिकों का उदय समाजसुधारकों के रूप में होता रहा है। आधुनिक युग में धर्मनिरपेक्ष शासन तथा नागरिक विवाह कानून आदि संवैधानिक व्यवस्थाओं ने जाति व्यवस्था के सामाजिक धार्मिक बंधनों को सरल कर दिया। यहां औपनिवेशिक शासन का उद्देश्य भारतीय समाज में सुधार का नहीं था बल्कि अपने हितों की पूर्ति करना था।

परंतु जाति व्यवस्था की खाई और भी गहरी होती चली गई। इसे बाहरी आक्रमणकारियों एवं औपनिवेशक शासकों ने और भी बढ़ावा दिया क्योंकि वे कभी भी भारतीय समाज की व्यवस्था को नहीं समझ सके। इसका प्रमुख कारण था वे समाज के अंतर्विरोधों को खत्म करने की जगह और बढ़ावा देना चाहते थे जिससे वे आसानी से अपने शासन को सुचारु ढंग से चलाने में समर्थ रहे।

औपनिवेशिक काल में जिस बौद्धिक चेतना का उदय हुआ उसमें निम्न वर्ग भी शामिल था। उन्होंने समाज में जागृति लाने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की और आंदोलनों की शुरुआत की।

उन्नीसवीं सदी में कई भारतीय विचारक और सुधारक समाज में सुधार लाने के लिए आगे आए। उनके मुताबिक समाज और धर्म आपस में जुड़े हुए थे। दोनों में सकारात्मक विकास और देश के विकास को प्राप्त करने के लिए सुधार करने की जरूरत है। इसलिए हमारे सुधारकों ने भारतीय जनता को जगाने की पहल की। इन सुधारकों ने जागरूकता फैलाने के लिए कुछ संगठनों की स्थापना की।

भारतीय और विदेशी दोनों विद्वानों द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद के कई विशिष्ट वैचारिक सूत्र प्रतिपादित किए गए हैं। एक प्रमुख दृष्टिकोण इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों का है, जो ब्रिटिश उपनिवेशवाद के संदर्भ में राष्ट्रवाद के उदय और हमारे समाज की सामाजिक संरचना और विचारधारा में पैदा हुई विकृतियों को देखते हैं। ये विकृतियां राष्ट्रवादी नेतृत्व के वर्ग चरित्र और उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक नीतियों को दर्शाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन औपनिवेशिक विकृतियों ने सांप्रदायिकता के उदय, देश के विभाजन और स्वतंत्रता के बाद भी सांप्रदायिक राजनीति की निरंतरता में योगदान दिया।

नए बुद्धिजीवी लोग प्रायः कनिष्ठ प्रशासक, वकील, डॉक्टर, अध्यापक इत्यादि ही थे। इनमें से कुछ लोग इंग्लैण्ड में भी विद्या ग्रहण कर चुके थे। उन्होंने वहां अपनी आंखों से इन राजनीतिक संस्थाओं का प्रचलन भी देखा था। यहां लौटने पर उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनके मौलिक अधिकार शून्य के बराबर हैं और वातावरण में दासता ही दासता है। ये विलायत पास लोग जिनमें पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त दिन–प्रतिदिन बढ़ती हुई संख्या सम्मिलित हो रही थी, भारत का मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग था और यह अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग था।

औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। महिलाओं की उपेक्षा किए जाने के कारण पर्याप्त समय तक देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहा। अंग्रेजों ने भारत को कमाई का जरिया बनाया। उन्होंने महिलाओं की स्थिति सुधारने का प्रयास नहीं किया। 1854 ई. के वुड्स डिस्पेच में महिलाओं की उच्च शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया। जिससे देश में एकता का संचार हुआ और राष्ट्रीयता की

भावना का विकास हुआ। अंग्रेजी सरकार द्वारा शिक्षा के प्रसार और कानूनों के बनाए जाने से महिलाओं की वैधानिक स्थिति में अधिक परिपक्वता दिखाई देने लगी। इस काल में नारी आंदोलन का सूत्रपात हुआ।

टिप्पणी

अनेक संदर्भों में नारी प्रगति की ओर अग्रसर हुई और इससे सभी क्षेत्रों में वर्गीय चेतना का आरंभ हुआ। प्रारंभिक अवस्था में उनमें शिक्षा के प्रति जागरूकता का विकास हुआ। उनमें अपने अधिकारों के प्रति सजगता आई। वे अपने अंदर के सामर्थ्य और क्षमता को पहचानने में सफल हुईं। अब ऐसा प्रतीत होने लगा है कि शायद वह दिन अब अधिक दूर नहीं है जब महिलाएं स्वयं प्रगति पथ पर अपनी राह को आसान बनाने में सफल हो जाएंगी और भारतीय संस्कृति को विश्व में एक नया स्थान दिलाने में सफलता प्राप्त करेंगी।

उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण का प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप दलित जातियों में भी सुधार आंदोलन आरंभ हो गए। जाति प्रथा एक पुरातन व्यवस्था है। इस प्रथा ने समाज को कई वर्गों में विभाजित कर दिया और हिंदू समाज की एकता को समाप्त कर दिया। परंतु औपनिवेशिक शासन काल में समाज के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ। जिससे निम्न जाति वर्ग में भी नवीन चेतना का विस्तार हुआ। नवीन व्यापारिक प्रणाली ने, नगरीकरण को बढ़ावा दिया तथा यातायात के साधनों का विस्तार किया जिससे कानून की समानता, आवागमन के साधनों में यात्रा की समानता, शिक्षा की समानता ने जाति प्रणाली को कमजोर कर दिया।

भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन को गति प्रदान करने में आदिवासी आंदोलनों की भी प्रमुख भूमिका रही। आधुनिक सभ्यता से दूर घने जंगलों, मरुस्थलों, दुर्गम पर्वतों में निवास करने वाले इन लोगों को आदिवासियों (जनजातियों) की संज्ञा दी गई। वे सदैव से प्रकृति की गोद में निवास करते थे। वही उनकी जन्मस्थली थी और कर्मस्थली भी।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही उन्होंने इनकी सभ्यता, संस्कृति एवं जंगलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया जिससे आदिवासियों के अंदर असंतोष व्याप्त हो गया। स्टीफन फक्स के अनुसार, "जनजातियों में उन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध गहरा असंतोष था जो उन पर थोपी गई थी।" यही कारण है कि इन आंदोलनों को जनजातीय समुदाय द्वारा औपनिवेशिक व्यवस्था के विरुद्ध छेड़े गए संघर्ष के रूप में देखा जाता है।

ब्रिटिश सेना और आदिवासियों के बीच सशस्त्र संघर्ष पूरी तरह दो गैर बराबर पक्षों के बीच संघर्ष था। एक तरफ तो आधुनिकतम हथियारों से लैस फौज और दूसरी तरफ पत्थर, आरी, भाले और तीर–धनुष लिए जूझते बहादुर आदिवासी पुरुष और औरतें, जिन्हें यह विश्वास था कि उनके नेता के पास ईश्वरीय ताकत है। गैर बराबरी के युद्ध में यह आंदोलन असफल रहे। फिर भी आदिवासियों ने इन आंदोलनों द्वारा असीम शौर्य, साहस, एकजुटता एवं जुझारूता की मिसाल कायम की।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **कालान्तर** : कुछ समय बाद।
- **उत्तरवैदिक** : वैदिक युग के बाद।

- **आनुवंशिक** : पीढ़ियों पर आधारित।
- **अधिवेशन** : सम्मेलन।
- **सत्याग्रह** : सत्य के लिए आग्रह।

टिप्पणी

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. विभिन्न वर्णों की स्थिति का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
2. वर्ण व्यवस्था के गुण–दोष बताइए।
3. जाति प्रथा की उत्पत्ति और अर्थ समझाइए।
4. परिवार का अर्थ क्या है? समझाइए।
5. नारी के महत्व का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
6. राष्ट्रवाद का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए।
7. महात्मा गांधी के राष्ट्रवाद का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन भारत में धर्मतंत्र के विकास का विवेचन कीजिए।
2. प्राचीन भारतीय संदर्भ में वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के उद्‌भव एवं विकास की व्याख्या कीजिए।
3. औपनिवेशिक काल में जाति विरोधी आंदोलनों की पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिए।
4. महात्मा ज्योतिबा फुले एवं सत्यशोधक समाज का विस्तृत वर्णन करिए।
5. आत्म सम्मान आंदोलन का वर्णन कीजिए।
6. औपनिवेशिक काल में जाति विरोधी आंदोलनों का विश्लेषण कीजिए।
7. भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन कीजिए।
8. जातिवादी आंदोलनों की व्याख्या कीजिए।

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
2. शर्मा हरिश्चंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
3. विद्यालंकार सत्केतु, प्राचीन भारत की शामन पद्धति और राजशास्त्र, नई दिल्ली।
4. वी.सी. पांडे, प्राचीन भारत का इतिहास।
5. एस.एल. शाह, भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था, कब क्यों और कैसे, सरिता बुक हाउस, दिल्ली।

टिप्पणी

6. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, एस चंद्र एंड कंपनी प्रा. लि., दिल्ली।
7. डॉ. के.एल. खुराना, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
8. डॉ. के.एल. खुराना, आर.के. बंसल, इतिहास लेखन धारणाएं तथा पद्धतियां, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
9. वी.डी. महाजन, मध्यकालीन भारत, एम चंद्र एंड कंपनी प्रा.लि., दिल्ली।
10. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – 1707 से वर्तमान तक, एस. चंद्र एंड कंपनी लि., दिल्ली।
11. डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, विचारों का इतिहास, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस।
12. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.
13. रविंदर कुमार, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 1997.
14. डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्मदर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1996.
15. डॉ. ए.के. चतुर्वेदी, यूनीफाइड इतिहास, बी.ए. तृतीय वर्ष, एम.बी.पी.डी. पब्लिकेशन।

इकाई 4 धार्मिक एवं दार्शनिक विचार

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 प्रारंभिक भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का निर्माण
  4.2.1 वेद
  4.2.2 उपनिषद
  4.2.3 वेदांग
  4.2.4 भारतीय दर्शन के छह संप्रदाय
  4.2.5 जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म
4.3 नास्तिक विचारक तथा संप्रदाय
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

भारत का धर्म एवं अध्यात्म से संबंध शाश्वत है। यह भूमि अनेक धर्मों की जन्मस्थली रही है। अनेक धार्मिक प्रवर्तकों के माध्यम से एवं उनके आध्यात्मिक विचारों से यहां की धार्मिक परंपराएं विकसित होती रही हैं।

भारतीय आध्यात्मिकता की जड़ें इस देश की प्राचीन दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं में गहरी जमी हुई हैं। भारत में दर्शन का जन्म जीवन के रहस्यों और अस्तित्व की खोज से हुआ है। प्राचीन मनीषियों ने जाना कि मनुष्य वास्तव में शरीर मात्र नहीं है, न ही केवल मन है, जो परिवर्तन है और नाशवान है बल्कि वास्तविक वह तत्व है जो अमर है, शाश्वत है और पवित्र चेतना है। इसको उन्होंने आत्मा कहा है। आत्मा ही वस्तुतः मानवीय ज्ञान, प्रसन्नता और शक्ति का स्रोत है। यही दर्शन उन्होंने भारतीय धर्म एवं अध्यात्म में रेखांकित किया है।

दर्शन हमें सत्य का शुद्ध स्वरूप दिखाता है और धर्म जीवन की सही दृष्टि देता है तथा उसकी प्राप्ति भी कराता है। दर्शन सिद्धांत है और धर्म अभ्यास है।

प्रस्तुत इकाई में प्रारंभिक भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के निर्माण का तथा नास्तिक संप्रदायों के विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय धर्म एवं दर्शन संबंधी विचारों से अवगत हो पाएंगे;
- प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में निहित दार्शनिक विचारों से परिचित हो पाएंगे;

- वेदों की उपयोगिता एवं महत्व को समझ पाएंगे;
- उपनिषदों में निहित दार्शनिक तत्वों को गहनता से समझ पाएंगे;
- षड् दर्शन की व्याख्या सहित समीक्षा कर पाएंगे।

टिप्पणी

4.2 प्रारंभिक भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का निर्माण

"भारत में प्रत्येक दर्शन सत्य की खोज है, जो एक ही है और जो सदा और सर्वदा एक सा रहता है, खोजने के रास्ते अलग–अलग हैं, तर्क अलग है, लेकिन उद्देश्य एक ही है– सत्य तक पहुंचने का प्रयत्न।"

विवेकानंद

दर्शन शब्द 'दृश' धातु से बनता है जिसका अर्थ है देखना, अवलोकन करना। "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए और क्या देखा जाए?

देखना दर्शन का साधारण अर्थ है। दर्शनशास्त्र में दर्शन का एक विशेष अर्थ है– 'तत्व के प्रकृत स्वरूप का अवलोकन करना।'

भारतीय इतिहास की परंपरा की शुरुआत सिंधु सभ्यता से होती है। उस समय के लिखित साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण हम तत्कालीन दर्शन को समझने में असमर्थ हैं। वास्तविक रूप में वैदिक आर्यो ने भारतीय दर्शन के स्वरूप को प्रतिपादित किया है और प्रकृति के विभिन्न रूपों का दैवीयकरण किया। देवताओं को 'प्रकाश' की संज्ञा मानकर उन्हें पूजना शुरू किया। प्रकृति के रहस्य को जानकर जहां वे भयभीत थे वहीं रोमांचित भी थे। उन्होंने कहा आकाश प्रकाशमान है, पृथ्वी स्थित है और स्वर्ग प्रतिष्ठित है।

ऋग्वैदिक युग में 'ऋत' एवं 'सत्य' का अन्वेषण तथा इसी क्रम में संपूर्ण जागतिक सत्ता एवं इसके नियमन की प्रतिक्रियाओं का तात्विक विचार, ब्रह्माण्डीय शक्तियों का सूक्ष्मतम विचार एवं बाद में जगत के कल्याणकारी भाव के साथ जीव के तादात्म्य की चिंतन भूमि पर भारतीय वैदिक मनीषियों ने गतिशील सांस्कृतिक परम्पराओं की नींव रखी जो वैदिक युगीन चिंतन की महत्वपूर्ण विशेषता है। 'ऋत' 'सत्य' 'तप' और 'बल' के आधार पर विश्व और राष्ट्र को सांस्कृतिक आधार प्रदान किया गया।

धार्मिक एवं दार्शनिक विचार निम्नलिखित हैं–

1. भारतीय मनीषियों द्वारा सृष्टि सृजन पर चिंतन किया गया जिसका उल्लेख 'ऋग्वेद' के 'नासदीयसूक्त' में मिलता है। प्रारंभ में न 'सत्' था न ही 'असत्' जहां कुछ नहीं था वहीं से सृष्टि का निर्माण हुआ।
2. पुनर्जन्म के सिद्धांत को प्रतिपादित किया और कहा सांसारिक जीवन तुच्छ है इसमें मुक्ति के लिए ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है।
3. छांदोग्य उपनिषद एवं बृहदारण्यक उपनिषद में आत्मा का विस्तृत वर्णन किया है। इस काल में आत्मा के नए स्वरूप का रहस्योद्घाटन हुआ।

टिप्पणी

4. उपनिषदों में ऋग्वैदिक काल के बहुदेववाद और यज्ञ तथा बलि की निरर्थकता को स्पष्ट करके आत्मन् तथा ब्रह्मन् की एकता और उसके द्वारा समस्त जीवन की एकता पर बल दिया गया। आत्मा एवं परमात्मा का दृष्टिकोण एक हो गया। उसका मानना था कि हमारे अंतस में उस परमात्मा का ही अंश है। ब्रह्म का आनंद परम है। ब्रह्म ही सत् और आनंद है।
5. मोक्ष मृत्यु के पश्चात की परिकल्पना है जिसको प्राप्त करने में सांसारिक बंधनों से मुक्ति प्राप्त होती है।
6. कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत उपनिषदों में प्राप्त होता है। कर्म के आधार पर फल प्राप्ति का सिद्धांत है। मनुष्य अपने सुख–दुख का कर्ता स्वयं है। उपनिषदों में कहा गया है कि सकाम मनुष्य अपने कर्मों द्वारा पुनर्जन्म पा सकता है। जो निष्काम है, इच्छाओं से परे है, जिसकी इच्छाएं पूरी हो चुकी हैं अथवा जो केवल आत्मा विषयक है वह ब्रह्म बन जाता है।
7. भारतीय दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखता है जो शरीर से पृथक है, अजर, अमर है।
8. भारतीय दर्शन 'मुक्ति' में न केवल सभी प्रकार के दुख, भय, संदेह आदि से मुक्ति की बात करता है वरन् उस आनंद की प्राप्ति की आशा दिलाता है जो असीम है अपरिमित है, नित्य है।
9. अविद्या अनादि होते हुए भी अनंत नहीं है। विद्या अथवा ज्ञान के द्वारा इसका अंत हो सकता है।
10. ज्ञान का अर्थ कोरा ज्ञान अथवा शाब्दिक ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक दर्शन मुक्ति की प्राप्ति हेतु व्यापारिक मार्ग भी बताता है। यह पूर्णतः नैतिक है।
11. उपनिषद काल में दार्शनिक प्रणालियों में तर्क का आश्रय लेते हुए वाद–विवाद का समर्थन किया गया है। विद्वानजन तर्क के द्वारा ही अपनी दार्शनिक मान्यताओं को असत्य सिद्ध करते थे और तर्क के द्वारा ही अपने दार्शनिक सत्यों को अपने शिष्यों के लिए सरल बनाते थे।

अतः युगों–युगों से भारत का संबंध धर्म और दर्शन से रहा है। प्राचीन ऋषि मुनियो ने इस संबंध को अपने ज्ञान से और अधिक रेखांकित किया है। अपने अध्यात्म के चिंतन से धर्म के अनेक पहलुओं का रहस्योद्घाटन किया है। भारत में दर्शन का उदय सत्य की खोज से प्रारंभ हुआ। सत्य न केवल लक्ष्य के रूप में है, बल्कि व्यक्तित्व के विकास से जुड़ा है, जिससे अंत में सर्वोच्च स्वतंत्रता, आनंद और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके लिए न केवल अनुशासित दार्शनिक तर्क की आवश्यकता होती है बल्कि इसके साथ चारित्रिक अनुशासन और भावनाओं एवं संवेगों पर भी नियंत्रण आवश्यक है। गंभीर दार्शनिक विश्लेषण और उन्नत आध्यात्मिक अनुशासन भारतीय दर्शन की सर्वमान्य विशेषता है।

धर्म संबंधी विचारों का निर्माण

धर्म आंतरिक विषय रहा है, वैदिक विचारधारा इसी सिद्धांत में कार्यरत थी। इसलिए ऋग्वेद से लेकर अन्य साहित्य में धर्म के अनेक पक्षों को गहनता के साथ प्रस्तुत किया

टिप्पणी

गया है। जिससे चतुर्दिक सभी चिंतन धाराएं प्रवाहित होती हैं। भारतीय चिंतन में विचारों के ऐतिहासिक विचारक्रम को सम्यक् रूपेण, व्यवस्थापित और विश्लेषित करने में धर्म, दर्शन वैचारिकी का महत्वपूर्ण योगदान है। भारतीय संस्कृति की पहचान उसके धर्म चिंतन से होती है। इसी क्रम में भारतीय प्राचीन साहित्य के अध्ययन से इस तथ्य को खोजने का प्रयास करेंगे।

4.2.1 वेद

'वेद शब्द संस्कृत भाषा की 'विद्' धातु से बना है। इसका अर्थ है 'ज्ञान होना'। हिंदू वेदों को अपौरुषेय या ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं, उनकी दृष्टि में ये शाश्वत हैं। यह कहा जाता है कि इनकी रचना ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर ऋषियों ने की। हमें इतना तो स्वीकार करना होगा कि इन मंत्रों की रचना प्राचीन ऋषियों द्वारा ही हुई थी। वेदों को श्रुति भी कहा जाता है।

वेदों की तिथि– जैकोबी ने कहा है कि 4500 से 2500 ईसवी पूर्व का समय वैदिक सभ्यता का युग है। विण्टरनिट्स का कथन है कि "प्राप्त प्रमाणों से इतना ही पता चलता है कि वैदिक युग किसी अज्ञात काल से 500 ई.पू. तक रहा है। यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन–सा काल सत्य के अधिक निकट है। चारों वेदों का समय काल 1500 ई.पू. से 600 ई.पू. के मध्य माना गया है। कौटिल्य ने लिखा है– "ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को त्रिवेद कहा गया। अब अथर्ववेद और इतिहासवेद को इनमें मिला दिया गया और इन सबको वेद कहा गया।" वेदों के द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। ये वैदिक युग की सांस्कृतिक दशा के ज्ञान के एक मात्र स्रोत हैं।

1. ऋग्वेद– इसकी रचना हम 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू. के बीच मानते हैं। ऋक् का अर्थ है छंदों एवं चरणों से युक्त मंत्र। यह एक ऐसा ज्ञान है जो ऋचाओं में बद्ध है एवं ऋग्वेद कहलाता है। ऋग्वेद में कुल दस मंडल एवं 1028 सूक्त हैं। ऋग्वेद के मंत्रों को यज्ञों के अवसर पर देवताओं की स्तुति हेतु 'होतृ' ऋषियों द्वारा उच्चारित किया जाता था। ऋग्वेद में पहला एवं दसवां मंडल सबसे अंत में जोड़ा गया।

2. यजुर्वेद– यजु का अर्थ है– यज्ञ। इसमें यज्ञों के नियमों एवं विधि–विधानों का संकलन मिलता है। यजुर्वेद के मंत्रों का उच्चारण करने वाला पुरोहित 'अध्वर्यु' कहलाता है। इसके दो भाग 'शुक्ल यजुर्वेद' एवं कृष्ण यजुर्वेद हैं। यजुर्वेद कर्मकांड प्रधान है। यह पांच शाखाओं में विभक्त है। यह वेद गद्य एवं पद्य दोनों में लिखा गया है।

3. सामवेद– 'साम' का शाब्दिक अर्थ है– 'गान'। इसमें मुख्यतः यज्ञों के अवसर पर गाए जाने वाले मंत्रों का संग्रह है। इसे भारतीय संगीत का मूल कहा जाता है। इस वेद में मुख्यतः सूर्य–स्तुति के मंत्र हैं। इसके मंत्रों को गाने वाले को 'उद्गाता' कहा जाता था।

4. अथर्ववेद– इसकी रचना सबसे अंत में हुई। इसमें 731 सूक्त, 20 अध्याय तथा 6000 मंत्र हैं। इसमें आर्य एवं अनार्य विचार–धाराओं का समन्वय मिलता है। इस वेद में 'परीक्षित' को गुरुओं का राजा कहा गया है। उत्तर वैदिक काल में इस वेद का विशेष महत्व है। इसमें ब्रह्मज्ञान, धर्म, समाजनिष्ठा, औषधि प्रयोग, रोग–निवारण मंत्र, जादू–टोना आदि अनेक विषयों का वर्णन है।

ऋग्वैदिक आर्यों का धर्म बहुत सरल था। प्रकृति के रूप में वे कई देवताओं की पूजा करते थे। आर्य देवताओं की उपासना उस समय करते थे जब उन्हें वरदान या आशीर्वाद की आवश्यकता थी। धर्म के प्रारंभिक स्वरूप का वर्णन वैदिक साहित्य में रेखांकित किया गया है।

टिप्पणी

4.2.2 उपनिषद

उपनिषद का शाब्दिक अर्थ है– निकट बैठना। इसका वास्तविक अर्थ है कि जिज्ञासु शिष्य अपने गुरु के पास बैठता है और रहस्य सिद्धांत पर विचार विनिमय करता है, वह ब्रह्म और जीव के संबंध पर विचार करता है। यह रहस्यमय ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को नहीं दिया जाता था, अपितु केवल सुयोग्य पात्रों को दिया जाता था। ये वैदिक साहित्य के अंतिम भाग हैं जिन्हें 'वेदांत' भी कहा जाता है। उपनिषद मुख्यतः ज्ञानमार्गी रचनाएं हैं जिनमें वैदिक चिंतन की चरम परिणति है।

शाब्दिक अर्थ– उप = समीप + नि = निष्ठापूर्वक + सद् = बैठना

उपनिषदों की संख्या के विषय में मतभेद है। 'मुक्तिकोपनिषद में 108 उपनिषदों का उल्लेख मिलता है। शंकराचार्य ने केवल दस उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है। वे ही प्राचीनतम तथा प्रमाणिक माने जाते हैं। ये प्रमुख उपनिषद हैं–(1) ईश (2) केन (3) कठ (4) प्रश्न (5) मुंडक (6) माण्डूक्य (7) तैत्तिरीय (8) ऐतरेय (9) छांदोग्य (10) बृहदारण्यक।

इनके अतिरिक्त कौषीतकि, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी उपनिषद भी प्राचीन हैं। इनका काल भिन्न–भिन्न है। इन्हें तीन वर्गों में बांटा गया है–

1. प्रथम वर्ग में ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छांदोग्य तथा केन उपनिषद हैं। इनकी रचना बुद्ध के पूर्व की गयी थी। ये ब्राह्मणों के अंश हैं।
2. द्वितीय वर्ग में कठ, श्वेताश्वतर, ईश, मुंडक तथा प्रश्न उपनिषद हैं। इनका समय, प्रथम वर्ग के बाद किंतु बुद्ध के पूर्व का ही है। इनके स्वतंत्र ग्रंथ मिलते हैं।
3. तृतीय वर्ग के उपनिषद बुद्ध के बाद के हैं, इनमें मैत्रायणी तथा माण्डूक्य उपनिषद के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त कुछ उपनिषद ऐसे भी हैं जिनका संबंध वेदों की अपेक्षा पुराणों तथा तंत्रों से अधिक है। कुछ में विष्णु तथा शिव को परम देवता माना गया है जबकि कुछ अन्य संप्रदायों से संबंधित हैं।

उपनिषदों के संदर्भ में विद्वानों के विचार– उपनिषदों के संदर्भ में अध्ययन करने के पश्चात अनेक विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किए हैं। 'शॉपेनहॉवर' का कथन है कि "संसार में उपनिषदों की भांति लाभदायक और ऊंचा उठाने वाला कोई और साहित्य नहीं है। यह साहित्य मेरे जीवन का सहारा रहा है–यह मेरी मृत्यु की सान्त्वना बनेगा।" बिल ड्यूरेन्ट का मत है, "हमारे आधुनिक युग तक जो महत्व ईसाइयों के लिए न्यू टेस्टमैण्ट का रहा है वही महत्व भारत के उपनिषदों का है। वह एक श्रेष्ठ धर्म प्रणाली है। जिसका आचरण चाहे कम किया जाता है लेकिन सर्वपूज्य है।" विण्टरनिट्ज "उपनिषदों का सत्य के निकट पहुंचने का प्रयत्न दैवीय न होकर पूर्णतया मानवीय है।"

स्टाइको, नवीन प्लेटोवादियों, सिकंदर कालीन ईसाइयों तथा हार्ट, टॉलर आदि ईसाई संतों पर इनकी छाप दिखाई पड़ती है।

उपनिषदों की विशेषताएं

टिप्पणी

उपनिषदों की निम्न विशेषताएं हैं–

1. **ब्रह्म का महत्व**– उपनिषदों का उद्देश्य बहुदेववाद के स्थान पर परब्रह्म की प्रतिष्ठा करना है। यज्ञीय कर्मकांडों तथा पशुबलि की निंदा इनमें मिलती है और उनके स्थान पर ज्ञानयज्ञ का प्रतिपादन हुआ है। छांदोग्य उपनिषद में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात ब्रह्म ही सब कुछ है, यह कहकर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गई है। सृष्टि का सारभूत तत्व 'ब्रह्मन्' तथा व्यक्ति के शरीर का सारभूत तत्व 'आत्मन्' है। आत्मा ही ब्रह्म है, वह तुम्ही हो, जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्म या ब्रह्म साक्षात्कार है। इसे प्राप्त करने का माध्यम उपनिषदों में बताया गया है।
2. **पुनर्जन्म का सिद्धांत**– मनुष्य जन्मबंधन से छूटने का प्रयत्न करता है। राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पुनर्जन्म से बचने का उपाय पूछा तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह व्यक्तिगत इच्छाओं के निरोध तथा ब्रह्म के साथ विलय द्वारा ही संभव है। "जिस प्रकार बहती नदियां अपना नाम और आकार छोड़ कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य भी संज्ञा तथा आकार से मुक्त होकर ईश्वरीय अस्तित्व की ओर जाता है। जो सबकी पहुंच से दूर है।" इस ज्ञानातीत विश्व का रहस्य ही उपनिषदों का विषय है।
3. **सुख–दुख की कल्पना**– उपनिषद वेदों की यज्ञ विधि को नहीं मानते हैं उनका मानना है कि इससे केवल भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। स्वर्ग नरक की कल्पना जीव के पुण्य कर्मों पर निर्धारित होती है।
4. **मोक्ष की परिकल्पना**– उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का अंतिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति कर जन्म–मरण के बंधन से मुक्ति है। मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म न लेना पड़े क्योंकि जन्म लेने से ही जीव को दुख भोगने पड़ते हैं।
5. **ज्ञानपूर्ण कथाएं तथा वार्तालाप**– उपनिषदों में ज्ञानपूर्ण कथाएं तथा वार्तालाप वर्णित हैं। कठोपनिषद में नचिकेता की कहानी दी गई है। युवक नचिकेता ने अपने पिता को कुछ भिक्षुओं को दान देते हुए प्रश्न किया और प्रश्नोत्तर में पिता ने उसे बताया कि वह उसे यम को भेंट करेगा। नचिकेता ने यम की खोज की और भेंट होने पर उसने उनसे मृत्यु का रहस्य पूछा। बहुत टाल–मटोल के पश्चात यम ने आत्मा के अमरत्व की पुष्टि की।

'याज्ञवल्क्य' और उनकी पत्नी का वार्तालाप भी उल्लेखनीय है। याज्ञवल्क्य ने गृह त्याग कर जंगलों में रहने की इच्छा की। इस अवसर पर उनकी पत्नी मैत्रेयी ने उनसे विद्वतापूर्ण प्रश्नोत्तर किया जिसका सार यह था कि धन सम्पत्ति से मनुष्य अमर नहीं हो सकता। आत्म मनन और आत्म चिंतन से ही आत्म–ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और उसी से संपूर्ण ज्ञान मिलता है।

उपनिषदों का प्रभाव– वेदों में आत्मा व परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफल के विषय में जो कल्पना की गई है उसका उपनिषदों में अत्यधिक विस्तार हुआ है। आत्मा का कल्याण केवल यज्ञ और पशुबलि से नहीं बल्कि आत्म मनन एवं चिंतन से हो सकता है। सारी सृष्टि ब्रह्म में निहित है और मनुष्य उसी का अंश है। आत्मा की मुक्ति के

लिए उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया। अतएव पहले जहां लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिए परिश्रम करते थे और उसी को आनंद मानते थे अब उनके जीवन में विरक्ति आने लगी।

टिप्पणी

वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो परिश्रम और जीवन को उत्साह के रूप में देखता था। वह स्वर्ग, नर्क, मोक्ष की परिकल्पना से परे था। मगर उपनिषदों ने अध्यात्म के अनेक रहस्यों के द्वार खोल दिए और मनुष्य उसमें उलझ कर रह गया। यथा–यह सृष्टि क्या है? जीव का अस्तित्व क्या है? जन्म–मरण क्या है? इस प्रकार के अनेक सवालों के हल खोजने में मनुष्य सांसारिक जीवन के उत्साह को भूल गया।

इस प्रकार उपनिषदों ने अध्यात्म के नए पक्षों को मनुष्य के समक्ष रखा। हेनरी डी. रेनकोर्ट के शब्दों में, "उपनिषद काल भारत के सांस्कृतिक विकास के सर्वोच्च काल का प्रतिनिधि है।"

4.2.3 वेदांग

वैदिक साहित्य अत्यंत विशाल एवं कठिन था और इसे समझ पाना सामान्य बुद्धि की बात नहीं थी। अतः आगे चलकर वेद के अर्थ को सरलता से समझने तथा वैदिक कर्मकांडो के प्रतिपादन में सहायता देने हेतु एक नवीन साहित्य की रचना हुई जिसे 'वेदांग' कहा जाता है। इनकी संख्या छह है–

"शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च यः
ज्योतिषामयनं चैव वेदांगानि षडेव तु।।"

पाणिनि

1. **शिक्षा**– वैदिक मंत्रों के शुद्ध–उच्चारण तथा शुद्ध स्तर क्रिया की विधियों के ज्ञान के निमित्त जो साहित्य लिखा गया उसे 'शिक्षा' कहा जाता है। इसे वेद रूपी पुरुष की 'नाक' कहा गया है। प्राचीन युग में वेद मंत्रों के शुद्ध उच्चारण तथा स्वरों के ज्ञान का बड़ा महत्व था।
2. **कल्प**– वैदिक यज्ञों की व्यवस्था तथा गृहस्थाश्रम के लिए उपयोगी कर्मों के प्रतिपादन करने के निमित्त 'कल्प' नामक वेदांग का प्रणयन हुआ। छोटे–छोटे वाक्यों में सूत्र बनाकर सभी महत्वपूर्ण विधि–विधानों को प्रस्तुत किया गया। सूत्र ग्रंथों को ही 'कल्प' कहा जाता है। इनकी रचना वैदिक साहित्य के अत्यंत विस्तृत हो जाने के कारण यज्ञीय नियमों को व्यावहारिक उपयोग के लिए संक्षिप्त बनाने के उद्देश्य से की गई थी।
3. **व्याकरण**– शब्दों की मीमांसा करने वाले शास्त्र को व्याकरण कहा गया है। इसका संबंध भाषा संबंधी समस्त नियमों से है। इसे 'वेदरूपी' पुरुष का 'मुख' बताया गया है। प्राचीन शास्त्रों में व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। वैदिक साहित्य की रक्षा, नये पदों की कल्पना, साहित्य का सरलतापूर्वक अध्ययन तथा वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न संदेहों के निवारण आदि की दृष्टि से व्याकरण आवश्यक है। व्याकरण की सर्वश्रेष्ठ रचना महर्षि पणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। कात्यायन ने इस पर 'वार्तिक' लिखा है। पतंजलि ने महाभाष्य लिखा है जो व्याकरण के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

टिप्पणी

4. **निरुक्त**– वेद के कठिन शब्दों का संकलन 'निघण्टु' नामक ग्रंथ में हुआ है। इन्हीं की व्याख्या करने के लिए यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी। इसमें कुल मिलाकर चौदह अध्याय हैं। इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पति दी गई है। वेद के अर्थ को जानने के लिए निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है।

5. **छंद**– वैदिक मंत्र अधिकांशतः छंदों में बद्ध हैं। अतः उनके ठीक ढंग से उच्चारण तथा पाठ के लिए छंदों का ज्ञान आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा में छंदों को 'वेदों का पैर' बताया गया है। छंद के आधार बिना वेद चलने में असमर्थ हैं। पिंगलमुनि के 'छंदसूत्र' में वैदिक तथा लौकिक दोनों ही प्रकार के छंदों का विवेचन किया गया है।

6. **ज्योतिष**– यज्ञों से अभीष्ठ फल प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि उनका अनुष्ठान शुभ समय तथा शुभ मुहुर्त में किया जाए। ग्रहों तथा नक्षत्रों की स्थिति का अध्ययन करके यह समय ज्ञात किया जाता था। इस अध्ययन ने ज्योतिष नामक वेदांग को जन्म दिया। ज्योतिष की सर्वप्राचीन रचना 'लगधमुनि' कृत 'वेदांग ज्योतिष' है इसमें 44 श्लोक हैं। 'वेदांग ज्योतिष' ही भारतीय ज्योतिष शास्त्र का मूलाधार है।

इस प्रकार वेदांग साहित्य प्राचीन ज्ञान के अध्ययन का महत्वपूर्ण स्रोत है जिसमें वेदों को सरल रूप में समझने में सहायता मिलती है।

4.2.4 भारतीय दर्शन के छह संप्रदाय

भारतीय दर्शन की छह शाखाएं वैदिक साहित्य का आवश्यक अंग हैं। उन छह दर्शनों के नाम हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। इन दर्शनों का रचना काल छठी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर अशोक के समय तक है। दर्शनों की रचना सूत्रों के रूप में हुई। अविद्या, माया, पुरुष और जीव ये विषय सभी दर्शनों में समान रूप से पाए जाते हैं। वे बौद्धों के संदेहवाद के विरुद्ध हैं तथा शाश्वत अस्थिर प्रवाह के विपरीत पदार्थगत सत्य तथा तथ्य का मानदंड निर्धारित करते हैं।

प्रमुख दर्शन एवं उनके रचयिता

दर्शन	रचयिता
(1) न्याय	गौतम
(2) वैशेषिक	कणाद या उलूक
(3) सांख्य	कपिल
(4) योग	पतंजलि
(5) पूर्व मीमांसा	जैमिनि
(6) उत्तर मीमांसा या वेदांत	बादरायण मुनि

(1) न्याय दर्शन

न्याय दर्शन को गौतम ऋषि ने लिखा है। इसके अनुसार तर्क ही समस्त अध्ययन का आधार है। यह विज्ञानों का विज्ञान है। ज्ञान चार उपायों से पाया जा सकता है– प्रत्यक्ष

टिप्पणी

अर्थात् मौलिकता, अनुमान अर्थात् कल्पना, उपमान अर्थात तुलना तथा शब्द अर्थात मौखिक प्रमाण। अनुमान तीन तरह का होता है– पूर्ववत् शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्टम्। न्याय दर्शन संदेह के सिद्धांत की चर्चा करता है और इसका कारण स्मृति में कमी या पहचानने में भूल होना है। किसी वस्तु के वास्तविक बोध के विपरीत अवास्तविक बोध त्रुटि है। अनुभवी व्यक्तियों के सामने सत्य अपने आपको प्रकट कर देता है। आत्मा सत्य है और इच्छाएं, घृणा, संकल्प इत्यादि इसके लक्षण हैं। चेतना आत्मा से अलग नहीं रह सकती जैसे लौ की दीप्ति उससे भिन्न नहीं रह सकती। न्यायदर्शन चिदानंद ब्रह्म ईश्वर में विश्वास करता है। पुनर्जन्म का सिद्धांत उसे मान्य है और वह मानव मात्र को इससे छूटने की प्रेरणा देता है।

महर्षि गौतम का जीवन परिचय

महर्षि गौतम सप्तर्षियों में से एक हैं। वे वैदिक काल के एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। ऋग्वेद में उनके नाम से अनेक सूक्त हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार उनकी पत्नी अहिल्या थीं। अहिल्या ब्रह्मा की मानस पुत्री थी जो विश्व मे सुंदरता में अद्वितीय थी। हनुमान जी की माता अंजनी गौतम ऋषि और अहिल्या की पुत्री थी। दैत्य गुरु शुक्राचार्य ने देवताओं द्वारा तिरस्कृत होने के बाद अपनी दीक्षा गौतम ऋषि से पूर्ण की थी। ऋषियों के ईर्ष्या वश गोहत्या का झूठा आरोप लगाने के बाद बारह ज्योतिर्लिंगों में महत्वपूर्ण त्रयम्बकेश्वर महादेव नासिक भी गौतम ऋषि की कठोर तपस्या का फल है जहाँ गंगा माता गौतमी अथवा गोदावरी नाम से प्रकट हुईं।

राजस्थान के प्रतापगढ़ जिले में स्थित गौतमेश्वर महादेव तीर्थ में स्थित मंदाकिनी गंगा कुंड के बारे में भी मान्यता है कि इसी कुंड में स्नान करने के पश्चात महर्षि गौतम को गौ हत्या के दोष से मुक्ति मिली थी। इसके पश्चात महर्षि गौतम ने यहाँ महादेव की आराधना करके एक स्वयंभू शिवलिंग प्रकट किया था जो आज भी उन्हीं के नाम पर गौतमेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है।

महर्षि गौतम

अक्षपाद अर्थात महर्षि गौतम को न्यायसूत्र के रचयिता माना जाता है। प्रख्यात न्यायसूत्रों के निर्माता का नाम पद्मपुराण, स्कंदपुराण तथा विश्वनाथ की न्यायवृत्ति में

टिप्पणी

महर्षि गौतम ठहराया गया है। इसके विपरीत न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका तथा न्यायमंजरी आदि प्रसिद्ध न्यायशास्त्रीय ग्रंथों में अक्षपाद इन सूत्रों के लेखक माने गए हैं। महाकवि भास के अनुसार न्यायशास्त्र के रचयिता का नाम मेधातिथि है (प्रतिमानाटक, पंचम अंक)। इन विभिन्न मतों की एक वाक्यता सिद्ध की जा सकती है। महाभारत (शांति पर्व, अ. 265) के अनुसार गौतम मेधातिथि दो विभिन्न व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति हैं (मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः)।

नैयायिक आचार्य गौतम के बारे में अनेक विद्वानों ने लिखा है। महामहोपाध्याय पं. हरिप्रसाद शास्त्री का कहना है कि चीनी भाषा में निबद्ध प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुवाद के आधार पर महर्षि गौतम, महात्मा बुद्ध के पहले हुए थे किंतु उनके नाम पर प्रचलित न्यायसूत्र ईसा की दूसरी शताब्दी की रचना है। सतीशचंद्र विद्याभूषण का मत है कि गौतम धर्मसूत्र तथा न्यायसूत्र के कर्ता एक ही गौतम रहे होंगे। ये बुद्ध के समकालीन रहे होंगे तथा इनका समय छठी शताब्दी ईसा पूर्व हो सकता है। प्रो. याकोबी के अनुसार न्यायसूत्र शून्यवाद के नागार्जुन (200 ई.) द्वारा प्रतिष्ठापित हो जाने के बाद और विज्ञानवाद (500 ई.) के विकास के पहले लिखा गया होगा क्योंकि इसमें शून्यवाद का तो खंडन मिलता है पर विज्ञानवाद का खंडन नहीं मिलता। शबरस्वामी ने मीमांसासूत्र भाष्य में उपवर्ष से उद्धरण दिया है जिससे ऐसा लगता है कि उपवर्ष न्याय से परिचित थे। यदि यह उपवर्ष महापद्म नंद के मंत्री ही हैं तो गौतम को 400 ई.पू. का मानना ही पड़ेगा। प्रो. सुआली के अनुसार ये सूत्र 300–350 ई. के काल के हैं। रिचर्ड गार्वे के अनुसार आस्तिक दर्शनों में न्याय सबसे बाद का है क्योंकि ईस्वी सन् के आरंभ के पहले इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः ये सूत्र 100–300 ई. के बीच लिखे गए होंगे। इन मतों में कौन–सा मत सही है यह कहना असंभव है।

न्यायसूत्रों की रचना तथा महर्षि गौतम का काल इन दो प्रश्नों पर अलग–अलग विचार किया जाना चाहिए। जहाँ तक न्यायसूत्रों का प्रश्न है, निश्चय ही ये सूत्र बौद्धदर्शन का विकास हो जाने पर लिखे गए हैं। इस न्यायसूत्र में समय–समय पर संशोधन तथा परिवर्धन होते रहे हैं। परतु गौतम का नाम इन सूत्रों से इसलिये संबंधित नहीं है क्योंकि ये सभी सूत्र अपने वर्तमान रूप में गौतम द्वारा ही विरचित हैं। गौतम को हम सिर्फ न्यायशास्त्र का प्रवर्तक कह सकते हैं, सूत्रों का रचयिता नहीं। हो सकता है, गौतम ने कुछ सूत्र लिखे हों, परंतु वे सूत्र अन्य सूत्रों में इतने घुलमिल गए हैं कि उनको अलग करना हमारे लिये असंभव है।

गौतम को अक्षपाद भी कहते हैं। विद्याभूषण गौतम को अक्षपाद से पृथक् मानते हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार तथा अन्य व्याख्याताओं ने अक्षपाद और गौतम को एक माना है। 'अक्षपाद' शब्द का अर्थ होता है 'जिसके पैरों में आँखें हों'।

न्यायसूत्र में पाँच अध्याय हैं और ये ही न्याय दर्शन या आन्वीक्षिकी के मूल आधार हैं। इनकी समीक्षा से पता चलता है कि न्यायदर्शन आरंभ में अध्यात्म प्रधान था अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। यह तर्क तथा युक्ति का सहारा अवश्य लेता था, परंतु आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिचय इन साधनों के द्वारा कराना ही इसका मुख्य तात्पर्य था। उस युग का सिद्धांत था कि जो

प्रक्रिया आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करा सकती है वही उचित तथा मान्य है। उससे वितरीप मान्य नहीं होती।

टिप्पणी

परंतु आगे चलकर न्याय दर्शन में उस तर्क प्रणाली की विशेषतः उद्‌भावना की गई जिसके द्वारा अनात्मा से आत्मा का पृथक् रूप भली–भाँति समझा जा सकता है और जिसमें निर्णय; वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति आदि साधनों का प्रयोग होता है। इन तर्कप्रधान न्यायसूत्रों के रचयिता अक्षपाद प्रतीत होते हैं। वर्तमान न्यायसूत्रों में दोनों युगों के चिंतनों की उपलब्धि का स्पष्ट निर्देश है। न्यायदर्शन के मूल रचयिता गौतम मेधातिथि हैं और उसके प्रति संस्कृत–नवीन विषयों का समावेश कर मूल ग्रंथ के संशोधक अक्षपाद हैं।

इस संप्रदाय का मूल ग्रंथ न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभाजित है। सूत्रों की संख्या ५३० है। पहले अध्याय में सामान्यतः उन १६ विषयों का वर्णन किया गया है जिनका विस्तृत प्रतिपादन बाद के चार अध्यायों में हुआ है। दूसरे अध्याय में संशय तथा प्रमाणों का विवेचन है। तीसरे अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं आत्मा, शरीर, इंद्रिय, इंद्रियों के विषय, ज्ञान तथा मन। चौथा अध्याय इच्छा, दुःख, क्लेश और मोक्ष के स्वरूप का विवेचन करते हुए भ्रम के स्वरूप तथा अवयव एवं अवयवी के संबंध पर भी प्रकाश डालता है। पाँचवें अध्याय में जाति (असत् तर्क) और निग्रहस्थान (प्रतिवादी के तर्क को निगृहीत करना) का विवेचन किया गया है।

(2) वैशेषिक दर्शन

इसके लेखक 'कणाद' ऋषि थे। यह दर्शन पदार्थों से संबंधित है। पदार्थों को छः भागों में विभक्त किया गया है : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य नौ हैं : पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, काल, दिशा, आत्मा तथा मनस्। ठोस पदार्थ अणुओं से बनते हैं। अणु नाशवान नहीं है। उनके विभिन्न रूप धारण करने से ही सब कुछ बनता है। गुण 17 प्रकार के होते हैं। कर्म परिवर्तनशील है तथा किसी न किसी सीमा पर अवश्य समाप्त हो जाता है। 'कणाद' ने ईश्वर के विषय में स्पष्ट कुछ नहीं कहा है।

आचार्य कणाद का जीवन परिचय

महान परमाणुशास्त्री आचार्य कणाद छठी सदी ईसा पूर्व गुजरात के प्रभावी क्षेत्र द्वारका के निकट में जन्मे थे। इन्होंने वैशेषिक दर्शनशास्त्र की रचना की। दर्शनशास्त्र वह ज्ञान है जो परम सत्य और प्रकृति के सिद्धांतों तथा उनके कारणों की विवेचना करता है। माना जाता है कि परमाणु तत्व का सूक्ष्म विचार सर्वप्रथम इन्होंने किया था इसलिए इन्हीं के नाम पर परमाणु का एक नाम कण पड़ा। महर्षि कणाद का कहना था कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा इन सभी तत्वों को जानना चाहिए। इस परिधि में जड़–चेतन संपूर्ण प्रकृति व जीव आ जाते हैं।

महर्षि कणाद ने न केवल परमाणुओं को तत्वों की ऐसी लघुतम अविभाज्य इकाई माना जिनमें इस तत्व के समस्त गुण उपस्थित होते हैं अपितु उसको 'परमाणु' नाम भी उन्होंने ही दिया तथा यह भी कहा कि परमाणु कभी स्वतंत्र नहीं रह सकते।

टिप्पणी

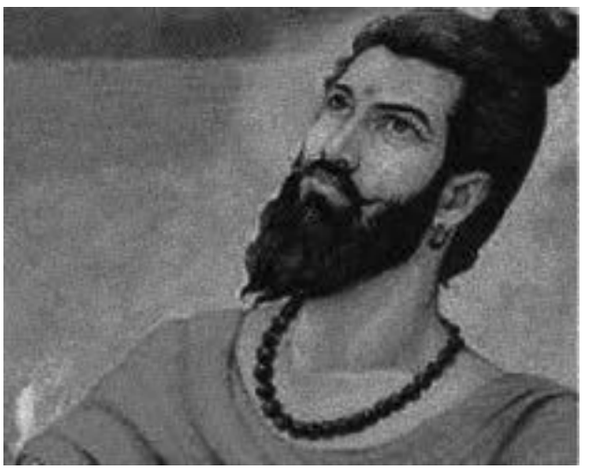

कणाद मुनि

महर्षि कणाद ने यह भी कहा कि एक प्रकार के दो परमाणु संयुक्त होकर 'द्विणुक' का निर्माण कर सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि अलग–अलग पदार्थों के परमाणु भी आपस में संयुक्त हो सकते हैं। वैशेषिक सूत्र में परमाणुओं को सतत गतिशील भी माना गया है तथा द्रव्य के संरक्षण की बात भी कही गई है।

परमाणु विज्ञान की दृष्टि से ब्रह्माण्ड का विश्लेषण सर्वप्रथम एक शास्त्र के रूप में सूत्रबद्ध ढंग से महर्षि कणाद ने आज से हजारों वर्ष पूर्व अपने वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित किया था। कुछ विषयों में महर्षि कणाद का प्रतिपादन आज के पश्चिमी विज्ञान से भी आगे जाता है। महर्षि कणाद कहते हैं कि द्रव्य को छोटा करते जाएंगे तो एक स्थिति ऐसी आएगी जहां से उसे और छोटा नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि उससे अधिक छोटा करने का प्रयत्न किया तो उसके पुराने गुणों का लोप हो जाएगा। दूसरी बात वे कहते हैं कि द्रव्य की दो स्थितियां हैं– एक आणविक और दूसरी महत्। आणविक स्थिति सूक्ष्मतम है तथा महत् यानी विशाल ब्रह्माण्ड। दूसरे, द्रव्य की स्थिति एक समान नहीं रहती है।

द्रव्य जिसमें 'द्रव्यत्व जाति' हो वही द्रव्य है। कार्य के समवायीकारण को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य गुणों का आश्रय है। पृथ्वी, जल, तेजस, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा तथा मनस् ये नौ 'द्रव्य' कहलाते हैं। इनमें से प्रथम चार द्रव्यों के नित्य और अनित्य, दो भेद हैं। नित्यरूप को 'परमाणु' तथा अनित्य रूप को 'कार्य' कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को 'परमाणु' कहते हैं जिसको पुनःद विभाजित न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वी परमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य हैं।

जिसमें गंध हो वह 'पृथ्वी' है, जिसमें शीत स्पर्श हो वह 'जल' है, जिसमें उष्ण स्पर्श हो वह 'अग्नि' है, जिसमें रूप न हो तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न न होने वाला, अनुष्ण और अशीत स्पर्श हो, वह 'वायु', तथा शब्द जिसका गुण हो अर्थात् शब्द का जो समवायीकारण हो, वह 'आकाश' है। ये 'पंचमहाभूत' भी कहलाते हैं।

उनका मत है कि परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु, दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाता है। दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु एकत्रित

होते हैं वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए 'द्वयणुक' के समवायीकारण हैं। उन दोनों का संयोग असमवायीकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा, आदि निमित्तकारण हैं। इसी प्रकार जल,अग्नि आदि को शरीर के संबंध में समझना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि सजातीय दोनों परमाणु मात्र ही से सृष्टि नहीं होती। उनके साथ एक विजातीय परमाणु, जैसे जलीय परमाणु भी रहता है। 'द्वयणुक' में अणु–परिमाण है इसलिए वह दिखता नहीं है। 'द्वयणुक' से जो कार्य उत्पन्न होगा वह भी अणुपरिमाण का ही रहेगा और वह भी दृष्टिगोचर नही होगा।

टिप्पणी

विश्व में जो वस्तु उत्पन्न होती है वह पृथ्वी के सभी जीवों के भोग के लिए ही है। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव इस संसार में जन्म लेता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश, आदि सभी होते हैं। जब वह विशेष भोग समाप्त हो जाता है, तब उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपने–अपने भोगों के समाप्त होने पर सभी जीवों की मृत्यु होती है।

महर्षि कणाद का मत है कि कारण का नाश हुए बिना कार्य का नाश नहीं हो सकता। सृष्टि उत्पत्ति की तरह संहार के लिए भी परमाणु में ही क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणु तो नित्य है, उसका नाश नहीं होता, किंतु दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और फिर उससे उत्पन्न 'द्वयणुक' रूप कार्य का तथा उसी क्रम से 'त्र्यणुक' एवं 'चतुरणुक' तथा अन्य कार्यों का भी नाश होता है।

महर्षि कणाद ने परमाणु को समझाने में ही अपना संपूर्ण जीवन दिया, इसे ही सृष्टि का मूल तत्व माना। ऐसा माना जाता है कि जीवन के अंत में उनके शिष्यों ने उनकी अंतिम अवस्था में प्रार्थना की कि कम से कम इस समय तो आप परमात्मा का नाम लें, तब कणाद ऋषि के मुख से निकला पीलवः पीलवः पीलवः अर्थात् परमाणु, परमाणु, परमाणु।

(3) सांख्य दर्शन

इस दर्शन के रचयिता कपिल ऋषि थे। इनका आधारभूत सिद्धांत पुरुष एवं प्रकृति को पृथक मानना है। तीन गुणों से प्रकृति का विकास होता है। सत्व गुण रजस् गुण तथा तमस गुण, सत्व गुण अच्छाई और आनंद का स्रोत है, रजस गुण, कर्म तथा दुःख का स्रोत है। तमस गुण अज्ञान, आलस्य तथा उदासीनता उत्पन्न करता है। यह दर्शन विरत को यथार्थ नहीं मानता क्योंकि यह शाश्वत नहीं है और कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है। केवल प्रकृति शाश्वत है। पुरुष अमर है और जीव पुनर्जन्म के बंधन में बंधे हुए हैं। सांख्य दर्शन ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता। प्रकृति और पुरुष ईश्वर पर आश्रित न होकर स्वतंत्र है।

कपिल मुनि का जीवन परिचय

कपिल मुनि प्राचीन भारत के एक प्रभावशाली ऋषि थे। इन्हें सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है जिसके मान्य अर्थों के अनुसार विश्व का उद्‌भव विकासवादी प्रक्रिया से हुआ है। कुछ लोग इन्हें अनीश्वरवादी मानते हैं लेकिन गीता में इन्हें श्रेष्ठ मुनि कहा गया है। कपिल मुनि ने सर्वप्रथम विकासवाद का प्रतिपादन किया और संसार को एक क्रम के रूप में देखा।

टिप्पणी

संसार को स्वाभाविक गति से उत्पन्न मानकर इन्होंने संसार के किसी अति प्राकृतिक कर्ता का निषेध किया। सुख–दुःख प्रकृति की देन है तथा पुरुष अज्ञान में बद्ध है। अज्ञान का नाश होने पर पुरुष और प्रकृति अपने–अपने स्थान पर स्थित हो जाते हैं। अज्ञान के नाश के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है अतः कर्मकाण्ड निरर्थक है। ज्ञानमार्ग का यह प्रवर्तन भारतीय संस्कृति को कपिल की देन है। आस्तिक दार्शनिकों में से वेदान्त और योग दर्शन स्पष्ट रूप में सांख्य के त्रिगुणवाद और विकासवाद को अपनाते हैं। इस प्रकार कपिल मुनि द्वारा प्रवर्तित सांख्य का प्रभाव प्रायः सभी दर्शनों पर पड़ा है।

तत्वसमाससूत्र के टीकाकार उसको कपिल मुनि की रचना मानते हैं। तत्वसमाससूत्र के टीकाकार भावागणेश कहते हैं कि उन्होंने टीका लिखते समय पंचशिख द्वारा लिखित टीका से सहायता ली है। रिचर्ड गार्वे के अनुसार पंचशिख का काल प्रथम शताब्दी का होना चाहिए। अतः भगवज्जुकीयम् तथा भावागणेश की टीका को यदि प्रमाण मानें तो 'तत्वसमाससूत्र' का काल ईसा की पहली शताब्दी माना जा सकता है। सांख्यप्रवचनसूत्र को भी कुछ टीकाकार कपिल की रचना मानते हैं। कौमुदीप्रभा के कर्ता 'सांख्यप्रवचनसूत्र' को पंचशिख की कृति मानते हैं और कहते हैं कि यह ग्रन्थ कपिल द्वारा निर्मित इसलिए माना गया है क्योंकि कपिल सांख्य के प्रवर्तक हैं। यही बात 'तत्वसमास सूत्र' के बारे में भी कही जा सकती है।

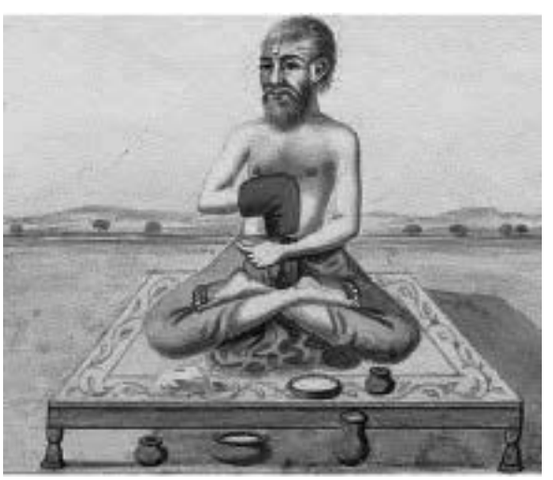

कपिल मुनि

कपिल मुनि के समय और जन्मस्थान के बारे में निश्चय नहीं किया जा सकता। पुराणों तथा महाभारत में इनका उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि प्रत्येक कल्प के आदि में कपिल जन्म लेते हैं। जन्म के साथ ही इनको सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसीलिए इनको आदिसिद्ध और आदिविद्वान् कहा जाता है। इनका शिष्य कोई आसुरि नामक वंश में उत्पन्न वर्षसहस्रयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण बताया गया है। परम्परा के अनुसार उक्त आसुरि को निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर इन्होंने तत्वज्ञान का उपदेश दिया था। निर्माणचित्त का अर्थ होता है सिद्धि के द्वारा अपने चित्त को स्वेच्छा से निर्मित कर लेना। इससे ज्ञात होता है कि, कपिल मुनि ने आसुरि के सामने साक्षात् उपस्थित होकर उपदेश ही नहीं दिया अपितु आसुरि के ज्ञान में इनके प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्फुरण हुआ, अतः

ये 'आसुरि' के गुरु कहलाए। महाभारत में ये सांख्य के वक्ता कहे गए हैं। कर्दम और देवहूति से इनकी उत्पत्ति मानी गई है। बाद में इन्होंने अपनी माता देवहूति को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया जिसका विशद वर्णन श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में मिलता है।

टिप्पणी

कपिलवस्तु, जहाँ बुद्ध पैदा हुए थे, कपिल के नाम पर बसा हुआ नगर था और सगर के पुत्र को सागर के किनारे कपिल ने शाप दिया था तथा बाद में वहीं गंगा का सागर के साथ संगम हुआ। इससे मालूम होता है कि कपिल का जन्मस्थान संभवतः कपिलवस्तु और तपस्या का क्षेत्र गंगासागर था। इससे यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि बुद्ध के पहले कपिल का नाम फैल चुका था। यदि हम कपिल के शिष्य आसुरि को शतपथ ब्राह्मण के आसुरि से अभिन्न मानें तो कह सकते हैं कि कम–से–कम ब्राह्मणकाल में कपिल की स्थिति रही होगी। इस प्रकार 700 वर्ष ई.पू. कपिल का काल माना जा सकता है।

सांख्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य तत्वज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञकर्म के द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति बताई गई है। सांख्य दर्शन में कर्मकाण्ड के विपरीत ज्ञानकाण्ड को महत्व दिया गया है। उपनिषदों में ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि अधिकांश उपनिषदों में ब्रह्म को परम सत्ता और संसार को उसी का परिणाम या विवर्त बताया गया है; तथापि कुछ उपनिषदों में, मुख्य रूप से श्वेताश्वतर उपनिषद में सांख्य के सिद्धांतों का प्रतिपादन मिलता है। परन्तु यह प्रतिपादन क्रमबद्ध रूप में नहीं है, यह केवल कुछ ऐसे सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है जिनका आगे चलकर सांख्य सिद्धान्त में समावेश हो गया। कपिल को आदिसिद्ध कहने का अर्थ यह है कि सम्भवतः कपिल ने ही सर्वप्रथम ध्यान और तपस्या का मार्ग बताया था। इनसे पूर्व कर्म ही एक मार्ग था और ज्ञान केवल चर्चा तक सीमित था। ज्ञान को साधना का रूप देकर कपिल ने त्याग, तपस्या एवं समाधि को भारतीय संस्कृति में पहली बार प्रतिष्ठित किया।

(4) योग दर्शन

पतंजलि ने लिखा है कि चित्त को एक स्थान पर केंद्रित करने तथा योग द्वारा मनुष्य जन्म–बंधन से छूट सकता है। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों का ही विकास करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सात उपाय बताए गए हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। हठ योग द्वारा शरीर को अत्यधिक कष्ट सहन करने योग्य बनाया जा सकता है। श्वास का नियमन मन को दृढ़ बनाता है। योग का अंत ध्यान तथा समाधि में होता है। जब मनुष्य समाधि की अवस्था में पहुंचता है तो वह संसार से संबंध तोड़ लेता है। ईश्वर ही चिंतन का लक्ष्य है और वही उद्देश्य–प्राप्ति में हमारी सहायता करता है।

महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय

एक किंवदन्ती के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है, कि प्रातःकाल नदी में अचानक से सूर्य को अर्घ्य देते समय कोई बालक एक ब्राह्मण की अंजलि में आ गया और उस दृष्टान्त के कारण इनका नाम पतंजलि पड़ गया। बाद में उसी ब्राह्मण के यहां इनकी शिक्षा–दीक्षा हुई। कुछ विद्वान इन्हें शुंगवंशीय महाराज पुष्यमित्र के दरबारी पण्डित के रूप में भी

बताते हैं। इस आधार पर इनका समय द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। यद्यपि इनके समय के विषय में भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती है लेकिन फिर भी अधिक से अधिक सन्दर्भ हमें यही समय बताते हैं।

टिप्पणी

महर्षि पतंजलि काशी में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में चर्चा में थे। इनका जन्म गोनारद्य (गोनिया) में हुआ था लेकिन कहते हैं कि ये काशी में नागकूप में बस गये थे। एक अन्य प्रचलित मान्यता के आधार पर इन्हें शेषनाग का अवतार माना जाता है। विद्वानों का मत है कि ये कश्मीर में रहने वाले नागू जाति के ब्राह्मणों के बीच पैदा हुए थे और उनके मुखिया थे। अद्‌भुत शास्त्रज्ञान और विभिन्न भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण इनको सहस्रजिह्वत्व (एक हजार जीभ वाला) की कल्पना में शेषनाग के अवतार के रूप में प्रसिद्धि मिल गयी होगी। इसी कारण कुछ स्थानों पर ऐसा विवरण भी मिलता है कि पतंजलि अपने शिष्यों को पर्दे के पीछे छिपकर पढ़ाते थे, और शिष्यों के लिए कड़ा निर्देश था कि पर्दे को उठाकर न देखा जाए। इस दुःसाहस का परिणाम बड़ा गंभीर हो सकता है। एक दिन अत्यन्त जिज्ञासावश एक शिष्य ने दुःसाहस कर दिया और पतंजलि ने क्रुद्ध होकर अपनी एक हजार जिह्वाओं से अग्नि फेंककर सब कुछ नष्ट कर दिया। भाग्यवश एक शिष्य वहाँ से बचकर भाग गया जिसने बाद में उनके द्वारा दिए गए उपदेशों का संग्रह किया।

यह भी माना जाता है कि वे व्याकरणाचार्य पाणिनि के शिष्य थे।

महर्षि पतंजलि

पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपनी टीका लिखी जिसे महाभाष्य कहा जाता है। इसका काल लगभग 200 ई.पू. माना जाता है। पतंजलि ने इस ग्रन्थ की रचना कर पाणिनि के व्याकरण की प्रमाणिकता पर अंतिम मोहर लगा दी थी। महाभाष्य व्याकरण का ग्रन्थ होने के साथ–साथ तत्कालीन समाज का विश्वकोश भी है।

टिप्पणी

महर्षि पतंजलि एक महान चिकित्सक थे और कुछ विद्वान उन्हें 'चरक संहिता' का प्रणेता भी मानते हैं। महर्षि पतंजलि रसायन विद्या के विशिष्ट आचार्य थे, अभ्रक, धातुयोग और लौहशास्त्र इनकी देन है। महर्षि पतंजलि संभवतः पुष्यमित्र शुंग के शासन काल में थे। राजा भोज ने इन्हें तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है। पतंजलि के योग का महत्व इसलिये अधिक है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही योग विद्या को सुव्यवस्थित रुप दिया। पतंजलि के अष्टांग योग में धर्म और दर्शन की समस्त विद्या का समावेश तो है ही साथ ही शरीर और मन के विज्ञान को भी पतंजलि ने योगसूत्र में व्यक्त किया है।

रचनाएं

भारतीय दर्शन साहित्य में पतंजलि के लिखे हुये 3 प्रमुख ग्रन्थ मिलते हैं– योगसूत्र, अष्टाध्यायी पर भाष्य और आयुर्वेद पर ग्रन्थ। विद्वानों में इन ग्रन्थों के लेखक को लेकर मतभेद है कुछ मानते हैं कि तीनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति ने लिखे, अन्य की धारणा है कि ये विभिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं। महर्षि पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार हैं, यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण शास्त्र है। इसमें योग के 195 सूत्र हैं।

1. **समाधिपाद** – इस ग्रन्थ के पहले पाद में योग के लक्षण, स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए चित्त की वृत्तियों के पांच भेद और उनके लक्षण बताये गये हैं। इस पाद में मुख्य रूप से समाधि के स्वरूप का वर्णन है, इस कारण इसे समाधिपाद कहते हैं।
2. **साधनपाद** – इस पाद में समाधि के साधनों का वर्णन है इस कारण इसे साधनपाद कहते हैं। निर्बीज समाधि वही साधक प्राप्त कर सकता है जिसका अन्तःकरण स्वभाव से ही शुद्ध हो गया है। अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक निर्बीज–समाधि प्राप्त करने के उपाय साधनापाद में बताए गए हैं।
3. **विभूतिपाद** – विभूतिपाद के पहले सूत्र में 'धारणा', दूसरे में 'ध्यान' तथा तीसरे में 'समाधि' के बारे में बताते हुऐ ऋषि ने उक्त तीनों को अन्तरंग साधन बताया है। चित्त की वृत्तियों, भूत–भविष्य की घटनाओं का ज्ञान होने, साधक को मृत्यु का पूर्व ज्ञान होने एवं साधक को प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियों का ज्ञान हो जाने के बारे में विस्तार से बताया गया है।
4. **कैवल्यपाद** – कैवल्यपाद में ऋषि ने जात्यान्तरण की बात कही है जिसमें मनुष्य की वृत्ति बदल जाती है। तमोगुण से सतोगुण वृत्ति हो जाती है। उपरोक्त तीनों पादों में समाधि के वास्तविक फल (कैवल्य) का वर्णन प्रसंगानुसार हुआ है किन्तु विवेचनापूर्ण नहीं हुआ, अतः उसका अच्छी तरह वर्णन इस पाद में किया गया है इसलिये इसका नाम 'कैवल्यपाद' रखा गया है।

(5) मीमांसा

मीमांसा का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय। वेद के दो भाग हैं– प्रथम कर्मकांड और द्वितीय ज्ञानकांड। कर्मकांड के अंतर्गत यज्ञों की विधियों और अनुष्ठानों का वर्णन है। ज्ञानकांड का विषय है– जगत, आत्मा, ईश्वर, सृष्टि आदि का निरूपण और उनका पारस्परिक संबंध प्रकट करना। पूर्व मीमांसा दर्शन पद्धति का विकास

टिप्पणी

आचार्य जैमिनि ने अपने ग्रंथ मीमांसा सूत्र में किया है। यह ग्रंथ चौथी सदी की रचना है। ईसा पूर्व पहली सदी में शबर ने मीमांसा सूत्र पर टीका लिखी। आत्मा की अमरता, कर्मफल प्राप्ति, कर्म प्रदायिका शक्ति और वेद में अटूट श्रद्धा के सिद्धांतों पर कर्मकांड या पूर्व मीमांसा या पूर्व मीमांसा का प्रसाद खड़ा है। मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानते हैं।

आचार्य जैमिनि का जीवन परिचय

आचार्य जैमिनि महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के शिष्य थे। सामवेद और महाभारत की शिक्षा जैमिनि ने वेदव्यास से ही प्राप्त की थी। ये ही पूर्व मीमांसा दर्शन के रचयिता हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'भारतसंहिता' की भी रचना की थी, जो 'जैमिनि भारत' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने द्रोणपुत्रों से मार्कण्डेय पुराण सुना था। इनके पुत्र का नाम सुमन्तु और पौत्र का नाम सत्वान था। इन तीनों ने वेद की एक–एक संहिता की रचना की है।

आचार्य जैमिनि

जैमिनि मीमांसा सूत्र के रचयिता हैं, किन्तु इन्हें मीमांसा शास्त्र का प्रवर्तक कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रों में मीमांसा दर्शन के अन्य आठ आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इनके समय के विषय में कोई निश्चित मत नहीं है। कुछ लोग इनका समय ईसवी पूर्व 300 वर्ष मानते हैं, तो कुछ लोग ईसवी की दूसरी शताब्दी। इनके जीवन चरित के विषय में भी कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। भागवत पुराण में वर्णन मिलता है कि जैमिनि ने व्यास से सामवेद का अध्ययन किया था और अपने शिष्य सुमन्तु को सामवेद पढ़ाया था। जैमिनि ने अपने सूत्रों में जिन आठ आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं– बादरायण, बादरि, कार्ष्णाजिनि, लावुकायन, कामुकायन, आत्रेय, आलेखन तथा आश्मरण्य।

मीमांसा सूत्र

जैमिनि द्वारा रचित मीमांसा सूत्र 12 अध्यायों में विभक्त है। ये बारह अध्याय बारह विषयों पर आधारित हैं। इसीलिए इसे 'द्वादश लक्षणी' भी कहा जाता है। यह भी एक मान्यता है कि उक्त बारह अध्यायों के अतिरिक्त चार अन्य अध्यायों की भी रचना जैमिनि ने की थी, जिन्हें संकर्षण काण्ड या देवता काण्ड के नाम से जाना जाता है। जैमिनि के सूत्रों

का मुख्य प्रतिपाद्य धर्म के स्वरूप की खोज, मानव के कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन तथा इनसे साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय हैं। जैमिनि ने मीमांसा सूत्र के बारह अध्यायों में निम्नलिखित बारह विषयों का विशद विवेचन किया है–

टिप्पणी

- पहले अध्याय में धर्म का लक्षण तथा धर्म के प्रमाणों का प्रतिपादन किया गया है।
- दूसरे अध्याय में कर्मभेद को बताने वाले शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण तथा प्रकरणान्तर आदि छह विषयों का वर्णन किया गया है।
- तीसरे अध्याय में शेषत्व का निरूपण किया गया है। इसमें श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या का प्रतिपादन किया गया है।
- चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य विषय प्रयोज्य–प्रयोजक–भाव है, जिसमें श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान और प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है। इन्हें बोधक प्रमाण बताया है।
- पांचवें अध्याय में 'क्रम' का वर्णन है। इसमें कर्मों के आगे पीछे होने का निर्देश किया गया है।
- छठे अध्याय का मुख्य विषय 'अधिकार' है।
- सातवें अध्याय में यज्ञों का विवेचन है।
- आठवें अध्याय में विशेषातिदेश का निरूपण किया गया है।
- नवें अध्याय में 'ऊह' की चर्चा की गई है।
- दसवें अध्याय में यज्ञों तथा यज्ञ में होने वाली क्रियाओं के निराकरण तथा समावेश के लिए आधार की चर्चा की गई है।
- ग्यारहवें अध्याय का विषय 'तन्त्र' का निरूपण है, जिसमें केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रदर्शित की गई है।
- बारहवें अध्याय में 'अवाप' का निरूपण है, जो कि विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित है।

धर्म

जैमिनि ने मुख्य रूप से धर्म के प्रतिपादन के लिए ही मीमांसा सूत्र की रचना की थी। धर्म की परिभाषा देते हुए जैमिनि ने कहा है कि धर्म वे अर्थ या कर्म हैं, जिनको करने के लिए वेदों ने आदेश दिया है तथा जिनके करने से अभिप्रेत फल की प्राप्ति होती है। इस प्रसंग में यह भली–भांति समझ लेना चाहिए कि मीमांसा में धर्म शब्द का प्रयोग न तो किसी सम्प्रदाय के अर्थ में हुआ है, न ही पुण्य–पाप के अर्थ में, जो साधारणतया धर्म शब्द समझे जाते हैं। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में वेद प्रतिपादित कर्तव्यों के लिए किया गया है। वेद के विधि वाक्य ही धर्म के ज्ञान के एकमात्र साधन हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है।

कर्म के प्रकार

यह कहा गया है कि वेद के द्वारा आदिष्ट कर्म ही कर्म है। इसलिए कर्म के स्वरूप का निर्धारण तथा कर्म का वर्गीकरण जैमिनि के दर्शन का मुख्य विषय है।

टिप्पणी

सर्वप्रथम कर्म के दो भेद किए हैं–

1. **लौकिक कर्म** – जो कर्म लोक के आदेश से किए जाते हैं, वे लौकिक कर्म कहलाते हैं।
2. **वैदिक कर्म** – जो कर्म वेद के आदेश से किए जाते हैं, वैदिक कर्म कहलाते हैं। इन्हीं वैदिक कर्मों को धार्मिक कर्म भी कहा जाता है।

आदेश के स्वरूप के आधार पर वैदिक कर्मों के तीन भेद किये गए हैं–

1. विहित कर्म
2. निषिद्ध कर्म
3. उभयात्मक कर्म

इनमें विहित कर्म तीन प्रकार के होते हैं–

1. नित्य
2. नैमित्तिक
3. काम्य

फल की उत्पादकता के आधार पर वैदिक कर्मों के दो भेद किये गए हैं–

1. **प्रधान कर्म** – जो कर्म स्वयं साक्षात् फल देने में समर्थ होता है, वह प्रधान कर्म कहलाता है।
2. **गुण कर्म** – जो प्रधान कर्म की सहायता के लिए होता है या परम्परया अपूर्व अथवा फल की उत्पत्ति में सहायक होता है, वह गुण कर्म कहलाता है।

प्रयोजन के आधार पर वैदिक कर्मों के तीन भेद किये गए हैं–

1. **ऋत्वर्थ कर्म** – वे कर्म जो किसी यज्ञ की पूर्णता के लिए किए जाते हैं।
2. **पुरुषार्थ कर्म** – यजमान या कर्ता को अभिवांछित फल देने वाले कर्म पुरुषार्थ कर्म कहलाते हैं।
3. **अनुभयात्मक कर्म** – जो कर्म न तो यज्ञ में सहायक होते हैं और न कर्ता को अभिवांछित फल देते हैं, अनुभयात्मक कर्म कहलाते हैं।

(6) उत्तर मीमांसा या वेदांत

उत्तर मीमांसा या उपनिषदों पर आश्रित मत वेदांत है। उपनिषदों में वेदांत दर्शन की समुचित प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उपनिषदों के सिद्धांतों में एक वाक्यता लाने और वेदांत का प्रमाणिक ग्रंथ लिखने हेतु बादरायण मुनि ने 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना की।

वेद का अंत या पर्यावसान ब्रह्मज्ञान है। सारा विश्व प्रपंच और नामरूप जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह वेदांत का सिद्धांत है। जगत, जीव और ब्रह्म या परमात्मा– इन तीन वस्तुओं के स्वरूप का निर्णय ही वेदांत शास्त्र का विषय है।

उत्तर–मीमांसा दर्शन के रूप में आदि शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत संप्रदाय को मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है।

आदि शंकराचार्य का जीवन परिचय

टिप्पणी

आदि शंकराचार्य (788 ई. – 820 ई.) अद्वैत वेदान्त के प्रणेता, संस्कृत के विद्वान, उपनिषद व्याख्याता और हिन्दू धर्म प्रचारक थे। हिन्दू धार्मिक मान्यता के अनुसार इनको भगवान शंकर का अवतार माना जाता है। इन्होंने लगभग संपूर्ण भारत की यात्रा की और अपने जीवन का अधिकांश भाग उत्तर भारत में व्यतीत किया। चार पीठों (मठ) की स्थापना करना इनका मुख्य रूप से उल्लेखनीय कार्य रहा, जो आज भी मौजूद हैं। शंकराचार्य को भारत के ही नहीं अपितु समस्त संसार के उच्चतम दार्शनिकों में विशेष स्थान प्राप्त है। उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु उनका दर्शन विशेष रूप से उनके तीन भाष्यों में, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता में मिलता है। गीता और ब्रह्मसूत्र पर अन्य आचार्यों के भी भाष्य हैं, परन्तु उपनिषदों पर समन्वयात्मक भाष्य जैसा शंकराचार्य का है, वैसा अन्य किसी का नहीं है।

शंकराचार्य का जन्म दक्षिण भारत के केरल में स्थित निम्बूदरीपाद ब्राह्मणों के 'कालडी ग्राम' में 788 ई. में हुआ था। उनके द्वारा स्थापित 'अद्वैत वेदांत सम्प्रदाय' 9वीं शताब्दी में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। उन्होंने प्राचीन भारतीय उपनिषदों के सिद्धान्तों को पुनर्जीवित किया। उन्होंने ईश्वर को पूर्ण वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया और इस संसार को भ्रम या माया बताया। उनके अनुसार अज्ञानी लोग ईश्वर को वास्तविक न मानकर संसार को वास्तविक मानते हैं। ज्ञानी लोगों का मुख्य उद्देश्य अपने आप को भम्र व माया से मुक्त करना एवं ईश्वर व ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करना होना चाहिए। शंकराचार्य ने संन्यासी समुदाय में सुधार के लिए उपमहाद्वीप में चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। पूर्व दिशा में जगन्नाथपुरी गोवर्धन मठ, पश्चिम में द्वारिकाशारदा मठ, उत्तर दिशा में बदरिकाश्रम में ज्योतिर्मठ और दक्षिण में श्रृंगेरी मठ।

आदि शंकराचार्य

टिप्पणी

हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार आदि शंकराचार्य ने अपनी अनन्य निष्ठा के फलस्वरूप अपने सदगुरु से केवल शास्त्रों का ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि ब्रह्मत्व का भी अनुभव किया। जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक पक्ष की सत्यता को इन्होंने जहाँ काशी में घटी दो विभिन्न घटनाओं के द्वारा जाना, वहीं मंडनमिश्र से हुए शास्त्रार्थ के बाद परकाया प्रवेश द्वारा उस यथार्थ का अनुभव भी किया, जिसे संन्यास की मर्यादा में भोगा नहीं जा सकता। यही कारण है कि कुछ विषयों में पूर्वाग्रह दिखाते हुए भी लोक संग्रह के लिए, आचार्य शंकर अध्यात्म की चरम स्थिति में किसी तरह के बंधन को स्वीकार नहीं करते। अपनी माता के जीवन के अंतिम क्षणों में पहुँचकर पुत्र होने के कर्तव्य का पालन करना इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है।

शंकराचार्य ने उपनिषदों, श्रीमद्भगवद् गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं गीता पर लिखे गये शंकराचार्य के भाष्य 'प्रस्थानत्रयी' के अन्तर्गत आते हैं। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के स्थायित्व, प्रचार–प्रसार एवं प्रगति में अपूर्व योगदान दिया। उनके व्यक्तित्व में गुरु, दार्शनिक, समाज एवं धर्म सुधारक का रूप दिखाई पड़ता है। शंकराचार्य अपने समय के उत्कृष्ट विद्वान एवं दार्शनिक थे। इतिहास में इनकी प्रसिद्धि इनके 'अद्वैत सिद्धान्त' के कारण है। गौड़पाद के शिष्य 'गोविन्द योगी' को शंकराचार्य ने अपना प्रथम गुरु बनाया। गोविन्द योगी से उन्हें 'परमहंस' की उपाधि प्राप्त हुई। कुछ विद्वान शंकराचार्य पर बौद्ध शून्यवाद का प्रभाव मानते हैं तथा उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' की संज्ञा भी देते हैं।

आचार्य शंकर जीवन में धर्म, अर्थ और काम को निरर्थक मानते हैं। वे ज्ञान को अद्वैत ज्ञान की परम साधना मानते हैं, क्योंकि ज्ञान समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है। सृष्टि का विवेचन करते समय वे इसका मूल कारण ब्रह्म को मानते हैं। उनके मतानुसार ब्रह्म अपनी 'माया' शक्ति के सहयोग से इस सृष्टि का निर्माण करता है।

अंत में षड्दर्शन पर आधारित वैदिक विचारों के कतिपय महत्वपूर्ण पक्षों के विवेचन से इस विचारधारा के महत्व तथा सांस्कृतिक विचारशीलता में उसके योगदान को समझने में सहायता मिलती है। इन तथ्यों के आलोक में, विचारों के इतिहास में षड्दर्शन विचारधारा को वैदिक युग के परिप्रेक्ष्य में महत्वाकांक्षित किया जा सकता है जिसने भारत की सांस्कृतिक गतिशीलता तथा इतिहास एवं संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

4.2.5 जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

ईसा पूर्व की छठी शताब्दी का भारत के धार्मिक इतिहास में विशिष्ट स्थान है क्योंकि इस शताब्दी में धर्म के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए, जिनका समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इस शताब्दी में हुए धार्मिक परिवर्तनों के कारण ही इस काल को बौद्धिक एवं धार्मिक क्रांति का युग कहा जाता है। ये परिवर्तन विश्व के अनेक राष्ट्रों में भी दिखाई देते हैं। चीन में कन्फ्यूशियस, यूनान में हिराक्लिट्स आदि विद्वानों ने अपने–अपने देशों में अपने नवीन विचार प्रस्तुत कर परंपरावादी विचारधारा पर कुठाराघात किया। भारत में हुई क्रांति का स्वरूप मात्र धार्मिक ही नहीं वरन् सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी था। उपनिषदों ने पूर्व में ही जटिल कर्मकांडों का विरोध करना प्रारंभ कर दिया जिसे जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ने गति प्रदान की।

वैदिक शास्त्रों, वैदिक कर्मकांडों तथा ब्राह्मण धर्म से असहमति दर्शाने वाले शास्त्र विरोधी अवैदिक विचारक भी तत्कालीन परिदृश्य में थे।

- **जैन धर्म**

टिप्पणी

जैन धर्म एक प्राचीन धर्म है। यह धर्म भारतीय संस्कृति का प्रमुख तत्व है। जैन धर्म भी अन्य समकालीन ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म की भांति भारत की संस्कृति का गौरवशाली अंग है।

जैन धर्म के संस्थापक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। जैन धर्म के अनुसार जितेन्द्रम् तथा ज्ञान प्राप्त महात्माओं की उपाधि तीर्थंकर थी। संसाररूपी समुद्र से पार कराने एवं धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं या "जो बिना गुरु की सहायता के केवल ज्ञान की प्राप्ति करता है।" जो धर्म की व्याख्या करता है। वह तीर्थंकर है।

जैन धर्म के अवशेष सिंधु सभ्यता में मिलते हैं। 'मोहनजोदड़ो' से प्राप्त योगी की आकृति को प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा माना गया है।

जैन धर्म में 24 तीर्थंकरों की जानकारी मिलती है जिनमें 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का इतिहास के दृष्टिकोण से महत्व है।

पार्श्वनाथ– 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इनका काल महावीर स्वामी से 250 वर्ष पहले का था। पार्श्वनाथ की माता का नाम वामा था एवं इनकी पत्नी 'कुशस्थल' की राजकुमारी 'प्रभावती' थी। 30 वर्ष की आयु में वैराग्य उत्पन्न होने के कारण राजकीय सुखों का मोह त्याग कर वे गृह त्यागकर संन्यासी हो गए। 83 दिनों की घोर तपस्या के उपरांत 84वें दिन सम्मेद पर्वत पर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। इनका जन्म 790 ई. में हुआ था। ज्ञान प्राप्ति के बाद इन्होंने 70 वर्षों तक धर्म प्रचार किया। इनके प्रथम अनुयायी इनकी माता व पत्नी थी। 100 वर्ष की आयु पूर्ण होने पर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

पार्श्वनाथ के अनुयायियों को 'निर्ग्रंथ' कहा जाता था। इनके काल में ग्रंथ संप्रदाय सुसंगठित था। पार्श्वनाथ ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, (चोरी न करना) अपरिग्रह (संपत्ति का संग्रह न करना) की शिक्षा दी।

महावीर स्वामी– जैन धर्म के प्रमुख संस्थापक तथा चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म 540 ई.पू. वैशाली के समीप कुंडग्राम (बिहार के वर्तमान जिले मुजफ्फरपुर) में हुआ। इनका मूल नाम वर्धमान था। महावीर स्वामी के पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक क्षत्रिय कुल के प्रधान थे। इनकी माता का नाम 'त्रिशला' था। महावीर स्वामी का विवाह यशोदा नामक राजकुमारी से हुआ। इनकी पुत्री थी जिसका नाम अणोज्या (प्रियदर्शना) था। महावीर स्वामी जब 30 वर्ष के थे। तभी इनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई। महावीर स्वामी के बड़े भाई नंदिवर्धन राजा बने। महावीर स्वामी प्रारंभ से ही चिंतनशील थे। अपने माता–पिता की मृत्युपरांत अपने बड़े भाई राजा नंदिवर्धन से आज्ञा लेकर इन्होंने 30 वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया।

टिप्पणी

महावीर स्वामी

गृह त्याग के पश्चात महावीर स्वामी निर्ग्रंथ भिक्षु का जीवन धारण कर घोर तपस्या में लीन हुए, जिसका विवरण 'कल्पसूत्र' में मिलता है। 12 वर्ष की कठोर तपस्या के उपरान्त जृम्भिकग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर महावीर स्वामी को कैवल्य (सर्वोच्च ज्ञान) प्राप्त हुआ। इसी कारण उन्हें केवलिन की उपाधि मिली। समस्त इंद्रियों पर विजय के कारण वे 'जिन' कहलाए एवं अपरिमित पराक्रम दिखाने के कारण उन्हें महावीर कहा गया। चूंकि वे ज्ञातृक राजा के पुत्र थे अतः उन्हें 'निर्ग्रंथ' ज्ञातृपुत्र भी कहते हैं। अपने 'जिन' नाम के कारण ही महावीर स्वामी के अनुयायी जैन कहलाए और उनके द्वारा चलाया गया धर्म 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात आजीवन महावीर स्वामी ने धर्म प्रचार किया। महावीर स्वामी को 72 वर्ष की आयु में पावा में 468 ई.पू. निर्वाण प्राप्त हुआ।

जैन धर्म के सिद्धांत (विचार)– महावीर जैन तीर्थंकर परंपरा के चौबीसवें व अंतिम तीर्थंकर थे। महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे किंतु उन्होंने जैन धर्म का पुनरुद्धार किया। उन्होंने जैन धर्म के सिद्धांतों को सुव्यवस्थित किया तथा जैन धर्म की स्थापना की। महावीर ने सत्य का पता लगाने में वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया तथा अर्हतों के कैवल्य ज्ञान व उनके वचनों को प्रमाणिक माना। इन्हीं वचनों से जैन धर्म का आगम तैयार हुआ जिसका वही महत्व है, जो वेदों का हिंदू धर्म में है।

महावीर स्वामी ने आत्मवादियों व नास्तिकों के एकांतवादी मतों को त्याग कर एक बीच के मार्ग को अपनाया, जिसको 'अनेकांतवाद या स्याद्वाद' कहा जाता है। इसके अनुसार सत्य के अनेक पहलू हैं तथा मनुष्य को परिस्थिति भेद से उसका आंशिक ज्ञान होता है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसका विचार सत्य है व दूसरों का असत्य।

टिप्पणी

1. **अनीश्वरवादिता** : महावीर स्वामी का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं था। उन्होंने न तो ईश्वर को संसार का रचयिता माना और न ही नियंत्रक। उनका विश्वास था कि सृष्टि तो अनादि एवं अनंत है। इसमें परिवर्तन होते रहे हैं, किंतु विनाश कभी नहीं हुआ। सृष्टि का निर्माण द्रव्यों–आकाश, काल, धर्म, अधर्म, पुद्गल जीव से हुआ है।

2. **आत्मवादिता तथा अनेकांतवादिता** : जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। जिस प्रकार ब्राह्मण धर्म में आत्मा को अमर व अनंत माना जाता है। उसी प्रकार महावीर ने भी आत्मा की अजेयता को स्वीकार किया। महावीर के अनुसार आत्मा की कोई आकृति नहीं होती, किंतु वह प्रकाश के समान अस्तित्व रखती है। सुख–दुख का अनुभव करती है। जैन धर्म न केवल मनुष्यों व जानवरों में बल्कि प्रत्येक जीव में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

3. **निवृत्ति मार्ग** : जैन धर्म में संसार को दुखमूलक माना गया है जिसका प्रमुख कारण तृष्णा है। तृष्णा के नाश हेतु निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

4. **कर्म की प्रधानता और पुनर्जन्म में विश्वास** : जैन धर्म में कर्म को प्रधानता दी गई है तथा पुनर्जन्म में विश्वास व्यक्त किया गया है। पुनर्जन्म अथवा आवागमन का सिद्धांत मनुष्यों के कर्म पर आधारित है। कर्म के आधार पर ही मनुष्य का अगला जन्म होता है। कर्मानुसार ही मनुष्य की अगले जन्म में आयु निर्धारित होती है। अतः मनुष्य को सदैव सत्कर्म करने चाहिए जिससे मोक्ष प्राप्ति हो सके।

5. **मोक्ष अथवा निर्वाण** : जैन धर्म में सांसारिक तृष्णा बंधन से मुक्ति को 'निर्वाण' कहा गया है। कर्म फल से मुक्ति पाकर ही व्यक्ति मोक्ष अथवा निर्वाण की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि पहले पूर्वजन्म के संचित कर्मों को समाप्त किया जाए और वर्तमान जीवन के कर्मफल के संग्रह से व्यक्ति विमुख हो, तभी वह निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

6. **त्रिरत्न** : 'तत्वार्थसूत्र' के अनुसार कर्म फल से छुटकारा पाने के लिए त्रिरत्न का अनुशीलन आवश्यक माना गया है। इन त्रिरत्नों का पालन करने पर मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। ये त्रिरत्न हैं–

   (i) सम्यक् ज्ञान– सच्चा एवं पूर्ण ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है।

   (ii) सम्यक् दर्शन– सत् में विश्वास एवं यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा को ही सम्यक् दर्शन कहा गया है।

   (iii) सम्यक् आचरण– सांसारिक विषयों से उत्पन्न सुख–दुख के प्रति, समभाव, सम्यक् आचरण कहलाता है।

7. **तप एवं उपवास** : जैन धर्म के अनुसार दुखों का मूल कारण दुष्कर्म एवं तृष्णा है तथा उनके विनाश का सिर्फ एक ही रास्ता है कि कठोर तप किया जाए व उपवास रखे जाएं। महावीर के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप एवं उपवास करना आवश्यक है।

टिप्पणी

8. **अहिंसा** : जैन धर्म में अहिंसा पालन पर विशेष बल दिया गया है। जैन धर्म के अनुसार जड़ तथा चेतन दोनों प्रकार की वस्तुओं में जीवन का अस्तित्व विद्यमान है। अतः मनुष्य को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिसमें जीव हिंसा हो यहां तक कि हिंसा के विषय में सोचना भी नहीं चाहिए। अहिंसा का पालन मन, वचन, कर्म से करना चाहिए।

9. **अठारह पाप कर्म** : जैन धर्म में अठारह पापों का उल्लेख है जो मनुष्य को कर्म बंधन में डालते हैं। ये पाप हैं– (1) अभिमान (2) हिंसा (3) कलह (4) क्रोध (5) झूठ (6) परिग्रह (7) राग (8) दोषारोपण (9) रति (10) माया (11) लोभ (12) चोरी (13) असंयम (14) मिथ्या दर्शन (15) छल–कपट (16) निंदा (17) चुगली (18) द्वेष।

10. **पंच महाव्रत** : महावीर स्वामी ने मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में पांच महाव्रतों का पालन करने को कहा है।

    (i) अहिंसा : जीवों की हत्या न करना।

    (ii) अस्तेय : बिना अनुमति कोई पराई वस्तु ग्रहण करना या उसकी इच्छा करना, किसी के घर में प्रवेश करना, निवास करना पूर्णतः वर्जित है।

    (iii) अपरिग्रह : भौतिक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए अर्थात धन–धान्य, वस्त्र आभूषण सभी का त्याग अपेक्षित है। चूंकि संग्रह से आसक्ति की भावना बढ़ती है। अतः भिक्षुओं के लिए किसी भी प्रकार का संग्रह करने की प्रवृत्ति वर्जित है।

    (iv) अमृषा (सत्य) : मनुष्य को सदा सत्य एवं मधुर बोलना चाहिए।

    (v) ब्रह्मचर्य : भोग वासना से परे रहकर संयमित जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसके लिए किसी भी नारी से वार्तालाप, उसे देखना एवं उसमें संसर्ग की सोचने की भी मनाही है।

11. **वेदों में अविश्वास** : जैन धर्म वेदों में विश्वास नहीं रखता तथा उन्हें अपौरुषेय नहीं मानता। जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म में व्याप्त कुरीतियों की भी आलोचना की। अहिंसात्मक नीति का पालन करने के कारण जैन धर्म पशु बलि व यज्ञों का घोर विरोधी है।

12. **समानता** : जैन धर्म वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। महावीर स्वामी के अनुसार शूद्र व ब्राह्मण में कोई अंतर नहीं है। निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार सभी को है।

13. **गुणव्रत** : जैन धर्म के अंतर्गत तीन प्रकार के गुणव्रतों का पालन करना चाहिए–

    (i) दिग्व्रत : प्रत्येक दिशा में एक निश्चित दूरी का निर्धारण जिसके आगे भ्रमण के लिए अपने जीवन काल में नहीं जाना चाहिए।

    (ii) अनर्थ देग्व्रत : पाप में वृद्धि करने वाली प्रयोजनहीन वस्तुओं का त्याग।

    (iii) देशव्रत : समय के अनुकूल भ्रमण की दूरी में और कमी करना।

14. शिक्षाव्रत

(i) अतिथि संविभाग : पूजा व दान दक्षिणा तथा अतिथियों को भोजन कराना।

(ii) सामयिक : पापों से मुक्त होकर चिंतन करना।

(iii) प्रोषोगोपवास : उपवास व्रत रखना, सप्ताह में एक बार।

(iv) भागोपभोग परिमाण व्रत : भोजन की मात्रा का निर्धारण।

टिप्पणी

15. तीर्थंकरों में विश्वास : जैन अनुयायी 24 तीर्थंकरों में अटूट विश्वास रखते हैं। वे इन्हें सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान मानते हैं। तीर्थंकरों में महावीर स्वामी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

16. दस धर्म : उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव (मृदुता), उत्तम आर्जव (सरलता), उत्तम शौच (सफाई या पवित्रता), उत्तम सत्य, संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, आकिंचन्य (ममत्व का त्याग), उत्तम ब्रह्मचर्य।

17. सल्लेखन : सत् + लेखन = अच्छाई का लेखा जोखा अर्थात् जीवन के अंत समय में उपवास के माध्यम से मृत्यु को प्राप्त होना।

जैन साहित्य : प्राचीनतम जैन ग्रंथ 'पूर्व' कहे जाते हैं। इन ग्रंथों की जानकारी केवल भद्रबाहु को थी। जब भद्रबाहु दक्षिण की ओर चले गए तब स्थूलबाहु के नेतृत्व में एक सभा आयोजित की गई। इस सभा में 14 पूर्वों का स्थान 12 अंगों ने ले लिया। इसमें महावीर द्वारा प्रचारित सिद्धांत थे। जैन साहित्य प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में मिलता है जबकि प्रारंभिक जैन साहित्य अर्द्ध–मागधी में लिखा गया था। बाद में प्राकृत भाषा को अपनाया गया। कालांतर में जैनियों ने शौरसेनी, संस्कृत और कन्नड में साहित्य लिखा।

जैन साहित्य को 'आगम' कहा जाता है जिसमें 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण 6 छेद सूत्र, 4 मूलसूत्र। नंदी सूत्र और 1 अनुयोग द्वार है। जैन ग्रंथ 'आचारांग सूत्र' में जैन भिक्षुओं के आचार नियम व विधि निषेधों का विवरण, 'भगवती सूत्र' में महावीर के जीवन, 'न्यायधम्म कहासुत्त' में महावीर की शिक्षाओं का संग्रह है। भद्रबाहु चरित्र में चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल की घटनाओं का वर्णन है।

'उवासगदसाओं' में 'हूण' शासक तोरमाण का वर्णन है। कल्पसूत्र जैन धर्म का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त कुराल परिशिष्ट पर्व पंचास्तिकायसार, समयसार, प्रवचनसार, प्रमुख ग्रंथ हैं।

जैन संगीति– समय समय पर जैन धर्म की व्याख्या हेतु जैन धर्मानुयायियों द्वारा जैन संगीतियों का आयोजन किया गया।

1. प्रथम जैन संगीति– 300 ई.पू. जब भद्रबाहु दक्षिण से वापस आए, तब मगध के जैनों ने पाटलिपुत्र में एक संगीति कराई। इसका प्रमुख उद्देश्य जैन धर्म के सिद्धांतों का संग्रह करना था, दक्षिण वाले इसमें सम्मिलित नहीं हुए और न ही इसके निर्णयों को माना। तब से ही दक्षिण वाले दिगम्बर एवं मगध वाले श्वेताम्बर कहलाए। यह प्रथम संगीति 'स्थूलभद्र' की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में संपन्न हुई। इस संगीति में बिखरे हुए एवं लुप्त प्रायः जैन ग्रंथों का संचयन एवं पुनर्प्रयण किया गया।

टिप्पणी

2. **द्वितीय जैन संगीति**– तृतीय शताब्दी ई.पू. में द्वितीय संगीति एक दो स्थानों पर हुई।

(1) मथुरा– इस संगीति के अध्यक्ष 'आर्य स्कन्दिल' थे।

(2) वल्लभी– इस संगीति के अध्यक्ष नागार्जुन सूरी थे।

3. **तृतीय जैन संगीति**– यह सभा छठी शताब्दी में 512 ई. में 'देवर्धिक्षमाश्रमण' के नेतृत्व में गुजरात के वल्लभी नामक स्थान पर संपन्न हुई। इस संगीति में धर्म ग्रंथों का अंतिम रूप संलग्न किया गया एवं उन्हें लिपिबद्ध भी किया गया।

अतः जैन दर्शन की उत्पत्ति वैदिक दर्शन के उपरांत हुई थी। अपने सिद्धांतों, चिंतन तथा वैचारिक प्रणाली में वैदिक तथा जैन दर्शन विशुद्ध रूप से भारतीय हैं। इन दोनों धर्मों का दर्शन लगभग समान है, परंतु उनकी दिशा भिन्न है। अपनी इस विशिष्टता द्वारा जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन को एक नवीन शाखा प्रदान की। जैन धर्म की प्रमुख दार्शनिक देन 'स्याद्वाद' की व्याख्या है। इसके अनुसार जैन धर्म ने सत्य के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या करते हुए सत्य ज्ञान का नया मार्ग प्रशस्त किया। इस धर्म की दूसरी दार्शनिक देन 'अनेकांतवाद' दर्शन है। यह बिल्कुल मौलिक चिंतन था। इसने भारतीय धार्मिक दर्शन को बहुत प्रभावित किया।

• बौद्ध धर्म

सर्वप्रथम यह बात करते हैं कि बौद्ध धर्म है या बौद्ध धम्म है। वास्तव में बौद्ध धम्म है क्योंकि बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने पर इसकी जानकारी मिलती है। त्रिपिटक, अंगुत्तर निकाय, मज्झिम निकाय, खुद्दक निकाय आदि में भी बौद्ध धम्म शब्द का प्रयोग किया गया है। 'धम्म' का अर्थ 'विचार' है जो 'पालि' भाषा का शब्द है जिसमें किसी धर्म की कल्पना नहीं होती है क्योंकि धर्म के अंतर्गत पूजापाठ, भगवान आदि सम्मिलित होते हैं। परंतु धम्म विचार के अंतर्गत पूजापाठ या किसी भी प्रकार का अंधविश्वास सम्मिलित नहीं होता है।

बौद्ध धम्म की जानकारी के स्रोत– बौद्ध धम्म एक ऐसा धम्म है जिसका जन्म भारत में हुआ परंतु भारत के बाहर भी इसका तीव्र विस्तार हुआ। पुरातात्विक साक्ष्य, बौद्ध साहित्य एवं विदेशी यात्रियों के वितरण से इसके बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है।

बौद्ध धम्म की शुरुआत के साक्ष्य गौतम बुद्ध से मिलते हैं परंतु ऐसा नहीं है। बुद्ध से पूर्व भी 27 बुद्ध व्यक्ति हुए हैं। जिनका वर्णन सिर्फ बौद्ध साहित्य में मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इनका उल्लेख महत्व का नहीं है।

बौद्ध धर्म में अन्तर्निहित विचार एवं गौतम बुद्ध

बुद्ध क्रांतिकारी संते थे। उन्हें तथागत महात्मा एवं आचार्य भी कहा जा सकता है। उन्होंने अपने युग को समझा, उसकी कमियों को देखा। उनके अंदर समाज में दिशा परिवर्तन के लिए जोश का उद्भव हुआ। उन्होंने पुरातन व्यवस्था का विरोध नहीं किया बल्कि उनका केवल नवीनीकरण किया। जब उनकी चेतना विकसित हुई तब सब कुछ त्यागकर उन्होंने अपने युग के धर्म का विक्रय रूप देखा जिसमें जीत, हत्या, कर्मकांड का बोलबाला था। यही सामाजिक व्यवस्था बुद्ध के जीवन का दर्शन बनी।

टिप्पणी

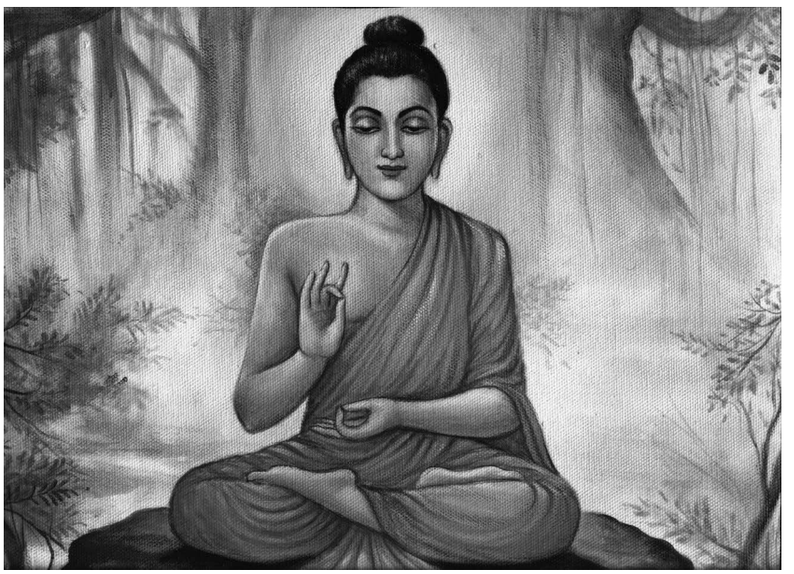

महात्मा बुद्ध

सिद्धार्थ का जन्म 563 ई.पू. पूर्वोत्तर बिहार में कपिलवस्तु के निकट लुंबिनी ग्राम के आम्रकुंज में हुआ। जन्म लेते ही वह बालक सात कदम चला और उसने सात मंत्रों का उच्चारण किया। वह कथन इस प्रकार था–"मैं अच्छाइयों का उदाहरण बनूंगा। यह मेरा अंतिम जन्म है और इसके पश्चात मैं जन्म–मरण के समुद्र को सदा के लिए पार कर जाऊँगा।"

यश, वैभव और भोगविलास भी उन्हें नहीं रोक सका और एक दिन उन्होंने सांसारिकता का त्याग कर दिया। वे बुद्धत्व (ज्ञान) की खोज में निकल पड़े। बुद्धत्व की प्राप्ति के पश्चात उन्होंने करुणा और मैत्री का नया संदेश दिया। वे मध्यमार्गी थे। उनका दर्शन भी मानवता को मध्यमार्ग अपनाने की प्रेरणा देता है। उनका विश्वास था कि तप का करना आवश्यक है। संन्यास लेना भी आवश्यक है, ध्यान भी मनुष्य को आत्मशक्ति देता है लेकिन कंदराओं में बैठकर तप नहीं बल्कि विचरण करते हुए समाज में भ्रमण करते हुए दुर्बलताओं से बचकर समाज को भी जीवन का लक्ष्य और गंतव्य दिखलाना है। गति, गतिवान होना और गंतव्य तक पहुंचना यहां मध्यमार्ग है।

शिक्षाएं– 483 ई.पू. 80 वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई। अपने प्रिय शिष्य आनंद के प्रति उनके अंतिम शब्द थे– "इसलिए हे आनंद! अपने लिए स्वयं दीपक बनो। कभी बाह्य साधनों की शरण मत लो। सच्चाई के दीपक को दृढ़ता से थामे रहो। सत्य की शरण ही वास्तविक और यथार्थ शरण है। शरण के लिए अपने आपको छोड़ कर किसी अन्य की ओर मत देखो।"

महात्मा बुद्ध ने 45 वर्ष तक वार्तालाप, भाषण और दृष्टांतों द्वारा लोगों तक अपना संदेश पहुंचाया।

चार आर्य सत्य– इन चार आर्य सत्यों में इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन दुखों का घर है और ये दुःख केवल तभी दूर हो सकते हैं जब इच्छाओं को अपने जीवन से निकाल दिया जाए।

टिप्पणी

1. प्रथम सत्य है, शोक की विद्यमानता, "संसार में सभी कुछ शोकपूर्ण, नश्वर और पीड़ा से भरा हुआ है।"
2. द्वितीय सत्य है, इस शोक का कारण, "इच्छा ही इन सबका कारण है। अतः इसे अवश्य दूर करना चाहिए।"
3. तृतीय सत्य है इस शोक की समाप्ति, "इच्छा के त्याग से ही मनुष्य इनसे छुटकारा पा सकता है। जब दुःखों का अंत हो जाता है तब परमानंद की उपलब्धि होती है। जन्म–मरण का प्रश्न ही मिट जाता है।"
4. चौथा सत्य है कि परमानंद की प्राप्ति और इच्छाओं की समाप्ति का कोई मार्ग अवश्य होना चाहिए और ऐसा अष्ट मार्ग को धारण करने से ही हो सकता है। इन चार सत्यों का बुद्ध ने इस प्रकार वर्णन किया है–
   (i) हे भिक्षुओं! दुखों का वास्तविक कारण जन्म है। रोग और वृद्धावस्था दुखों का घर है। शोक, पश्चाताप और लालसा इत्यादि भी दुःख के कारण हैं।
   (ii) हे भिक्षुओं! दुखों का कारण अवश्य होता है। केवल इच्छा लालसा के साथ मिलकर मनुष्य को पुनर्जन्म के चक्र में फेंक देती है और मनुष्य वासना तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए छटपटाने लगता है। बस यही दुखों का कारण है।
   (iii) हे भिक्षुओं! यह सत्य है कि दुख और पीड़ा से निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है। यह निवृत्ति पूरी तरह से इच्छाओं को भूलकर, त्याग कर और उनसे संबंध तोड़कर मिल सकती है।
   (iv) हे भिक्षुओं! यह भी सत्य है कि इस समस्या का समाधान केवल अष्टांग–मार्ग के पालन करने में ही निहित है। 'अष्टांग–मार्ग' है– सम्यक् विचार, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् व्यवहार, सम्यक् जीवन, सम्यक् उपाय, सम्यक् ध्यान, सम्यक् समाधि।

अष्टांगिक मार्ग– दुखों से मुक्ति प्राप्त करने अथवा निर्वाण प्राप्त करने के लिए महात्मा बुद्ध ने जो रास्ता सुझाया, उसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है–

(i) सम्यक् दृष्टि– चार आर्य सत्यों की सही परख।

(ii) सम्यक् वाणी– धर्मसम्मत एवं मृदु वाणी का प्रयोग।

(iii) सम्यक् संकल्प– भौतिक वस्तु एवं दुर्भावना का त्याग।

(iv) सम्यक् कर्म– सत् कर्म करना।

(v) सम्यक् आजीव– सदाचारी जीवन जीते हुए ईमानदारी से आजीविका कमाना।

(vi) सम्यक् व्यायाम– विवेकपूर्ण प्रयत्न एवं शुद्ध विचार ग्रहण करना।

(vii) सम्यक् स्मृति– अपने कर्मों के प्रति विवेक तथा सावधानी को सदैव स्मरण रखना अर्थात् मन, वचन, कर्म की प्रत्येक क्रिया के प्रति सचेत रहना।

(viii) सम्यक् समाधि– चित्त की समुचित एकाग्रता। बुद्ध ने बताया कि दुःखों के कारण चार महासागरों के जल से भी कहीं अधिक मात्रा में लोगों के आंसू बह चुके हैं,

नश्वरता ने मानव के सुख को कम कर दिया है। इसलिए अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

टिप्पणी

प्रतीत्यसमुत्पाद– यह दर्शन बौद्ध धर्म का मूल सिद्धांत है। महात्मा बुद्ध का विचार था कि वस्तु के विनाश के पश्चात दूसरे की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक घटना के पीछे कार्य–कारण का संबंध है। कार्य–कारण का यह सिद्धांत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। महात्मा बुद्ध का कर्म में विश्वास था। उनका कहना था कि यज्ञ पूजा, बलिदान तथा स्मृति आदि से मनुष्य अपने कर्मो के फल को नहीं मिटा सकता, अर्थात् मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसे ही फल प्राप्त करता है। उनका उद्देश्य मनुष्यता को निखारकर इतना प्राणवान बनाना था कि वह पाप और पुण्य से परे एक महामानव बन जाए।

नैतिक विचार– महात्मा बुद्ध की शिक्षाएं मार्मिक एवं व्यावहारिक हैं। ये जनसामान्य के हृदय में स्वतः प्रवेश कर जाती हैं। ये शिक्षाएं मनुष्य को समाज की वास्तविकताओं एवं स्वयं उसके विचारों से परिचित कराती हैं। यह मनुष्य का प्रारंभ से स्वभाव रहा है कि वह प्रत्येक कार्य में दूसरों के ही दोष देखता है और उसको अपने दोष का अहसास तक नहीं होता। धम्मपद में वर्णित है कि द्वेष से द्वेष कदापि दूर नहीं होता है। उनकी यह शिक्षा थी कि 'आनंदपूर्वक' रहना चाहिए। जो हमसे विरोध करे उसका विरोध नहीं करना चाहिए।

धम्मपद में महात्मा बुद्ध के नीतिपरक उपदेश एवं शिक्षाएं हैं। उसके अनुसार एक मनुष्य जब उन्हें उद्दण्डतापूर्वक गाली दे रहा था तो वे उस समय इस महान शिक्षा का प्रचार कर रहे थे कि जो मनुष्य मूर्खतापूर्वक मेरी बुराई करता है, उसकी मैं अपने अविरोधी प्रेम से रक्षा करूंगा, जितनी ही वह मेरी बुराई करेगा, उतना ही मैं उसकी भलाई करूंगा। वह मनुष्य महात्मा बुद्ध का तिरस्कार करना एवं गालियां देना छोड़कर उनका अनुयायी बन गया।

सृष्टि के संदर्भ में विचार– विश्व का आरंभ कब हुआ और इसका अंत कब होगा? आत्मा और शरीर में क्या अंतर है? आदि प्रश्नों का उत्तर देने से बुद्ध ने इंकार कर दिया था। उनकी दृष्टि में इस प्रकार के प्रश्न उलझन में डालने वाले प्रश्न थे। अतः इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने की चिंता उन्होंने कभी की ही नहीं। इन प्रश्नों के उत्तर न देने का कारण यह था कि बुद्ध जानते थे कि इस प्रकार के प्रश्न वाद–विवाद को जन्म देने वाले होते हैं। इनसे बुद्धिमत्ता और शांति की प्राप्ति नहीं होती। बुद्ध का विश्वास था कि साधुत्व और शांति की प्राप्ति संसार और भगवान संबंधी ज्ञान में न होकर निष्काम और सदाचारी परिश्रम में है। वह हँसी से कहा करते थे कि इन प्रश्नों का उत्तर तो भगवान के पास भी न होगा।

कर्मवादी विचार– महात्मा बुद्ध कर्मवादी थे। कर्मों का विभाजन करने के कारण उन्हें विभाज्यवादी भी कहा जाता है। बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म और उसका फल ये दो ही विद्यमान हैं। कर्म से फल होता है और फल से कर्म फिर कर्म से पुनर्जन्म। इस प्रकार यह संसार चल रहा है। व्यक्ति को काया, वाणी एवं मन से सदा कुशल कर्म करने चाहिए तथा अकुशल कर्म छोड़ देने चाहिए। कर्म से ही कोई ऊँच–नीच होता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण देवता होता है तो कोई निम्न होता है। मज्झिमनिकाय में उन्होंने भिक्षुओं को कर्म की महत्ता समझाते हुए कहा है कि कर्म ही प्राणियों को हीनता और

उत्तमता में विभक्त करता है। इससे कर्म के प्रति महात्मा बुद्ध का मन्तव्य स्पष्ट होता है।

टिप्पणी

निर्वाण– निर्वाण की परिकल्पना उपनिषद के मोक्ष से अलग है। सामान्यतः माना जाता है, जैसे घर का फूट जाना और फिर उसमें निहित बल या व्योम का रूप जो समाया है उसका महाव्योम में विलय हो जाना। बुद्ध देव निर्वाण का अभिप्राय अग्नि और दीपक की उपमा से दिया करते थे। उनसे बार–बार यह पूछा जाता था कि निर्वाण के बाद किस रूप में रहते हैं। वे कहते थे कि यह प्रश्न ही अव्यावहारिक है। उन्होंने कहा था कि ईंधन बिल्कुल निःशेष हो जाने पर कहां चला जाता है। कर्म संस्कारों के समाप्त हो जाने पर यह नहीं कहा जा सकता कि जीव किस अवस्था में चला गया है।

अतः "तुम लोगों के माता–पिता नहीं है। इसलिए तुम लोग एक–दूसरे के माता–पिता बनो।" यह वाक्य महात्मा बुद्ध के उच्च मानवीयता रूप को प्रदर्शित करता है। उन्होंने मानव धर्म के एक नए रूप को प्रदर्शित किया। उन्होंने अपने विचारों से मनुष्य के अंदर नए विश्वास को जन्म दिया। वे समाज के समस्त वर्गों के पथ प्रदर्शक बने।

वर्तमान संदर्भ में बुद्ध के विचार एवं दर्शन से भौतिकवाद से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण निहित है। आज मनुष्य अध्यात्म के स्थान पर भौतिकता के पीछे भाग रहा है और भौतिक सुखों की प्राप्ति न होने पर वह दुखी हो जाता है। उन्होंने कहा है कि संसार की सभी चीजें सदैव स्थायी नहीं होती है। इसलिए कोई भी न तो सदैव सुखी रह सकता है और न ही दुखी। "मैं राज्य और दासता को समान ही समझता हूं क्योंकि न तो राजा हमेशा हंसता रहता है और न ही दास हमेशा रोता रहता है।"

अतः उन्होंने अपने विचारों में गहन अध्ययन, चिंतन, मनन से विश्व को एक मौलिक मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया जो सदैव विश्व के लिए अनुकरणीय रहेगा।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वेदों की संख्या कितनी है?

   (क) 4 (ख) 6

   (ग) 3 (घ) 5

2. उपनिषदों की कुल संख्या कितनी है?

   (क) 106 (ख) 108

   (ग) 105 (घ) 110

3. योगदर्शन के लेखक हैं–

   (क) चार्वाक (ख) पतंजलि

   (ग) पाणिनी (घ) कपिल

4. वेदों की तिथि निर्धारित है–

   (क) 2000 से 1500 ई.पू. (ख) 1500 से 600 ई.पू.

   (ग) 1500 से 1000 ई.पू. (घ) 1600 से 900 ई.पू.

टिप्पणी

5. वेदों की भाषा है–

(क) पालि (ख) प्राकृत

(ग) संस्कृत (घ) हिंदी

6. 24वें तीर्थंकर थे–

(क) ऋषभदेव (ख) महावीर स्वामी

(ग) अनंत (घ) पार्श्वनाथ

7. महावीर स्वामी का जन्म हुआ था–

(क) पावा (ख) शिखर जी

(ग) कुडग्राम (घ) कुंडलपुर

8. गौतम बुद्ध का जन्म कब हुआ–

(क) 563 ई.पू. (ख) 483 ई.पू.

(ग) 580 ई.पू. (घ) 540 ई.पू.

4.3 नास्तिक विचारक तथा संप्रदाय

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। अनेक मत तथा दर्शनों के प्रादुर्भाव ने बौद्धिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया। विभिन्न मतों को मानने वाले संन्यासी घूम–घमकर अपने जीवन दर्शन का जन समुदाय में प्रचार तथा एक–दूसरे के दर्शन का खंडन करते थे। इस बौद्धिक गतिविधि का केंद्र 'मगध' था। यह आकस्मिक नहीं है कि यहां इस काल में एक और विशाल साम्राज्य की नींव पड़ रही थी और दूसरी ओर धार्मिक–बौद्धिक आंदोलन पुरातन जीवन दर्शन के विरोध में चल रहे थे।

इन धार्मिक बौद्धिक आंदोलनों ने परंपरागत धर्मों में व्याप्त कुरीतियों एवं पाखंडों तथा सामाजिक कुप्रथाओं का खंडन करते हुए जनता के समक्ष एक सरल तथा आडम्बररहित धर्म का विधान प्रस्तुत किया। अवैदिक या नास्तिक परंपरा के विचारकों में प्रमुख अजित केशकम्बली, मक्खलि गोशाल, पूर्ण काश्यप, प्रक्रुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त तथा निगंठनात पुत्र हैं।

1. **अजित केशकम्बली**– ये अवैदिक विचारधारा के आचार्य थे एवं भौतिकवादी मत के समर्थक थे। इनका मानना था कि मनुष्य चार तत्वों से मिलकर बना है। पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि। मृत्यु के पश्चात भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है परंतु ये आत्मा की अमरता का खंडन करते हैं। ये परलोक संबंधी अवधारणा को नकारते हैं। ये कर्मवाद एवं कर्मकांडीय सिद्धांतों को असत्य मानते हैं। वे स्वर्ग नरक की परंपरा को नहीं मानते थे। उनका मानना था कि जो कुछ है वह इसी जन्म में है, मृत्यु के पश्चात कुछ भी नहीं है। वे ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। वे 'उच्छेदवादी' मत के समर्थक थे। उनका मानना था कि मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है।

टिप्पणी

2. **मक्खलि गोशाल**– पहले ये महावीर के शिष्य थे किंतु बाद में मतभेद हो जाने से इन्होंने महावीर का साथ छोड़कर 'आजीवक' नामक स्वतंत्र संप्रदाय स्थापित किया। आजीवक संप्रदाय 1002 ईसवी तक बना रहा। आजीवक संप्रदाय के प्रमुख तीन आचार्य थे– नंद, वात्स्य, सांकृत्य और स्वयं मक्खलि गोशाल। ये सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।

   बुद्ध पिटक उन्हें बुद्ध के समकालीन मानते हैं। वे नियतिवाद (भाग्यवाद) या अकर्मण्यतावाद को मानते थे जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु भाग्य द्वारा पूर्व नियंत्रित एवं संचालित होती है। मनुष्य के जीवन पर उसके कर्मों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। महावीर के समान गोशाल भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे तथा जीव और पदार्थ को अलग–अलग तत्व मानते थे।

3. **पूर्ण काश्यप**– ये भी बुद्ध के समकालीन आचार्य थे। ये पाप–पुण्य की अवधारणा को नहीं मानते थे। ये अक्रियवादी मत के समर्थक थे। वे कहते हैं अच्छे या बुरे फल कुछ भी नहीं होते हैं। बुरे कार्यों को ये पाप नहीं मानते और न ही अच्छे कार्यों को पुण्य। ये कर्म के सिद्धांत का खंडन करते हैं।

4. **प्रक्रुध कात्यायन**– ये बुद्ध के समकालीन चिंतक थे। तात्कालिक समाज में लोकप्रिय संत थे। इनका मानना था कि 'कर्म' से परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। ये अकृतिवादी एवं अकर्मण्यतावाद के समर्थक थे। संसार निम्न तत्वों से मिलकर बना है– पृथ्वी, जल, अग्नि, सुख, दुख और जीवन। ये अचल हैं, शाश्वत हैं, कभी नष्ट नहीं होते हैं। संसार में न कोई मरता है, न मारा जाता है, न कोई सुनने वाला है, न सुनाने वाला। इन्होंने नैतिक सिद्धांतों का समर्थन नहीं किया है।

5. **संजय वेलट्ठिपुत्त**– उनकी विचारधारा 'अनिश्चयतावाद पर आधारित थी। इनका दर्शन 'अनेकांतवाद' पर आधारित था। वे संसार की प्रत्येक चीज के लिए संदेहवादी थे। वे परलोक, देवता, कर्मफल, स्वर्ग–नरक इन सभी चीजों के प्रति एक मत नहीं थे। इसलिए इन्हें 'संदेहवादी' कहा गया है।

6. **निगंठनात पुत्र**– ये महावीर स्वामी थे जिनका विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार ये मत बुद्ध के समकालीन थे परंतु कालांतर में ये अवसान की स्थिति में पहुंच गए और समय के साथ समाप्त हो गए।

अपनी प्रगति जांचिए

9. 'उच्छेदवाद' किसके मत को कहा है–

   (क) पूर्ण काश्यप (ख) मक्खलि गौशाल

   (ग) अजित केशकम्बली (घ) निगंठनातपुत्त

10. आजीवक संप्रदाय किसने स्थापित किया था?

   (क) अजित केशकम्बली (ख) मक्खलि गोशाल

   (ग) प्रक्रुध कात्यायन (घ) पूर्ण काश्यप

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (क)
2. (ख)
3. (ख)
4. (ख)
5. (ग)
6. (ख)
7. (ग)
8. (क)
9. (ग)
10. (ख)

4.5 सारांश

भारतीय इतिहास की परंपरा की शुरुआत सिंधु सभ्यता से होती है। उस समय के लिखित साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण हम तत्कालीन दर्शन को समझने में असमर्थ हैं। वास्तविक रूप में वैदिक आर्यों ने भारतीय दर्शन के स्वरूप को प्रतिपादित किया है और प्रकृति के विभिन्न रूपों का दैवीयकरण किया। देवताओं को 'प्रकाश' की संज्ञा मानकर उन्हें पूजना शुरू किया। प्रकृति के रहस्य को जानकर जहां वे भयभीत थे वहीं रोमांचित भी थे। उन्होंने कहा आकाश प्रकाशमान है, पृथ्वी स्थित है और स्वर्ग प्रतिष्ठित है।

ऋग्वैदिक युग में 'ऋत' एवं 'सत्य' का अन्वेषण तथा इसी क्रम में संपूर्ण जागतिक सत्ता एवं इसके नियमन की प्रतिक्रियाओं का तात्विक विचार, ब्रह्माण्डीय शक्तियों का सूक्ष्मतम विचार एवं बाद में जगत के कल्याणकारी भाव के साथ जीव के तादात्म्य की चिंतन भूमि पर भारतीय वैदिक मनीषियों ने गतिशील सांस्कृतिक परम्पराओं की नींव रखी जो वैदिक युगीन चिंतन की महत्वपूर्ण विशेषता है। 'ऋत' 'सत्य' 'तप' और 'बल' के आधार पर विश्व और राष्ट्र को सांस्कृतिक आधार प्रदान किया गया।

युगों–युगों से भारत का संबंध धर्म और दर्शन से रहा है। प्राचीन ऋषि मुनियो ने इस संबंध को अपने ज्ञान से और अधिक रेखांकित किया है। अपने अध्यात्म के चिंतन से धर्म के अनेक पहलुओं का रहस्योद्घाटन किया है। भारत में दर्शन का उदय सत्य की खोज से प्रारंभ हुआ। सत्य न केवल लक्ष्य के रूप में है, बल्कि व्यक्तित्व के विकास से जुड़ा है, जिससे अंत में सर्वोच्च स्वतंत्रता, आनंद और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके लिए न केवल अनुशासित दार्शनिक तर्क की आवश्यकता होती है बल्कि इसके साथ चारित्रिक अनुशासन और भावनाओं एवं संवेगों पर भी नियंत्रण आवश्यक है।

टिप्पणी

वेद शब्द संस्कृत भाषा की 'विद्' धातु से बना है। इसका अर्थ है 'ज्ञान होना'। हिंदू वेदों को अपौरुषेय या ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं, उनकी दृष्टि में ये शाश्वत हैं यह कहा जाता है कि इनकी रचना ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर ऋषियों ने की। हमें इतना तो स्वीकार करना होगा कि इन मंत्रों की रचना प्राचीन ऋषियों द्वारा ही हुई थी। वेदो को श्रुति भी कहा जाता है।

भारतीय दर्शन की छह शाखाएं वैदिक साहित्य का आवश्यक अंग हैं। उन छह दर्शनों के नाम हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। इन दर्शनों का रचना काल छठी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर अशोक के समय तक है। दर्शनों की रचना सूत्रों के रूप में हुई। अविद्या, माया, पुरुष और जीव ये विषय सभी दर्शनों में समान रूप से पाए जाते हैं। वे बौद्धों के संदेहवाद के विरुद्ध हैं तथा शाश्वत अस्थिर प्रवाह के विपरीत पदार्थगत सत्य तथा तथ्य का मानदंड निर्धारित करते हैं।

ईसा पूर्व की छठी शताब्दी का भारत के धार्मिक इतिहास में विशिष्ट स्थान है क्योंकि इस शताब्दी में धर्म के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए, जिनका समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इस शताब्दी में हुए धार्मिक परिवर्तनों के कारण ही इस काल को बौद्धिक एवं धार्मिक क्रांति का युग कहा जाता है। ये परिवर्तन विश्व के अनेक राष्ट्रों में भी दिखाई देते हैं। चीन में कन्फ्यूशियस, यूनान में हिराक्लिट्स आदि विद्वानों ने अपने–अपने देशों में अपने नवीन विचार प्रस्तुत कर परंपरावादी विचारधारा पर कुठाराघात किया। भारत में हुई क्रांति का स्वरूप मात्र धार्मिक ही नहीं वरन् सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी था। उपनिषदों ने पूर्व में ही जटिल कर्मकांडों का विरोध करना प्रारंभ कर दिया था जिसे जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ने गति प्रदान की।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। अनेक मत तथा दर्शनों के प्रादुर्भाव ने बौद्धिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया। विभिन्न मतों को मानने वाले संन्यासी घूम–घमकर अपने जीवन दर्शन का जन समुदाय में प्रचार तथा एक–दूसरे के दर्शन का खंडन करते थे। इस बौद्धिक गतिविधि का केंद्र 'मगध' था। यह आकस्मिक नहीं है कि यहां इस काल में एक और विशाल साम्राज्य की नींव पड़ रही थी और दूसरी ओर धार्मिक–बौद्धिक आंदोलन पुरातन जीवन दर्शन के विरोध में चल रहे थे।

इन धार्मिक बौद्धिक आंदोलनों ने परंपरागत धर्मों में व्याप्त कुरीतियों एवं पाखंडों तथा सामाजिक कुप्रथाओं का खंडन करते हुए जनता के समक्ष एक सरल तथा आडम्बररहित धर्म का विधान प्रस्तुत किया। अवैदिक या नास्तिक परंपरा के विचारकों में प्रमुख अजित केशकम्बली, मक्खलि गोशाल, पूर्ण काश्यप, प्रक्रुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त तथा निगंठनात पुत्र हैं।

4.6 मुख्य शब्दावली

- **दर्शन** : देखना या अवलोकन करना।
- **प्रकृत** : वास्तविक।
- **अन्वेषण** : खोज।

टिप्पणी

- **शाश्वत** : सदैव विद्यमान रहने वाला।
- **उद्गाता** : मंत्रों का गान करने वाला।
- **समन्वय** : तालमेल।
- **अजेय** : जिसको जीता न जा सके।
- **तृष्णा** : इच्छा।

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वेद शब्द का अर्थ बताते हुए चारों वेदों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
2. उपनिषदों की विशेषताएं बताइए।
3. व्याकरण पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए।
4. जैन दर्शन के विषय में संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
5. प्रतीत्यसमुत्पाद से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में बताइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का निर्माण किस प्रकार हुआ? विस्तारपूर्वक विवेचित कीजिए।
2. छह वेदांगों के बारे में विस्तार से निरूपण कीजिए।
3. भारतीय दर्शन के छह संप्रदायों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिए।
4. बौद्ध धर्म में अंतर्निहित विचारों का विस्तृत विवेचन कीजिए।

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
2. शर्मा हरिश्चंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
3. विद्यालंकार सत्केतु, प्राचीन भारत की शामन पद्धति और राजशास्त्र, नई दिल्ली।
4. वी.सी. पांडे, प्राचीन भारत का इतिहास।
5. एस.एल. शाह, भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था, कब क्यों और कैसे, सरिता बुक हाउस, दिल्ली।
6. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, एस चंद्र एंड कंपनी प्रा. लि., दिल्ली।
7. डॉ. के.एल. खुराना, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
8. डॉ. के.एल. खुराना, आर.के. बंसल, इतिहास लेखन धारणाएं तथा पद्धतियां, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

टिप्पणी

9. वी.डी. महाजन, मध्यकालीन भारत, एम चंद्र एंड कंपनी प्रा.लि., दिल्ली।
10. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – 1707 से वर्तमान तक, एस. चंद्र एंड कंपनी लि., दिल्ली।
11. डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, विचारों का इतिहास, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस।
12. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.
13. रविंदर कुमार, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 1997.
14. डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्मदर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1996.
15. डॉ. ए.के. चतुर्वेदी, यूनीफाइड इतिहास, बी.ए. तृतीय वर्ष, एम.बी.पी.डी. पब्लिकेशन।

टिप्पणी

इकाई 5 धार्मिक विचारों और सांस्कृतिक समन्वय के विविध रूप

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 भक्ति आंदोलन–शैव और वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास : सूफ़ीवाद एवं सिख धर्म
  5.2.1 भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि
  5.2.2 शैव धर्म का क्षेत्रीय विकास
  5.2.3 वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास
  5.2.4 सूफ़ीवाद
  5.2.5 सिख धर्म
5.3 धार्मिक सुधार एवं पुनरुत्थानवाद–ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज, देवबंद, अलीगढ़ व सिंह सभा आंदोलन
  5.3.1 ब्रह्म समाज
  5.3.2 प्रार्थना समाज
  5.3.3 आर्य समाज
  5.3.4 देवबंद आंदोलन
  5.3.5 अलीगढ़ आंदोलन
  5.3.6 सिंह सभा आंदोलन
5.4 आधुनिक भारत में कट्टरता और धार्मिक सार्वभौमिकता का विचार
  5.4.1 आधुनिक भारत में कट्टरता का विकास
  5.4.2 आधुनिक भारत में धार्मिक सार्वभौमिकता
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

धार्मिक अवधारणा के रूप में भक्ति का अर्थ है– मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत तौर पर पूजे जाने वाले सर्वोच्च ईश्वर के समक्ष भक्तिपूर्ण आत्म–समर्पण। इस सिद्धांत का उद्भव प्राचीन भारत के ब्राह्मणवादी और बौद्ध दोनों परंपराओं में ढूंढ़ा जा सकता है।

भक्ति के प्रथम साक्ष्य सिंधु घाटी से मिलते हैं, जब मातृदेवी की पूजा के रूप में उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया। वैदिक परंपरा में स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ, कर्मकांड वैदिक आर्यों की भक्ति का स्वरूप था। धीरे–धीरे भक्तिभावना का विकास हुआ और शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों का विकास हुआ। अब जनसाधारण के आराध्य विष्णु, राम, कृष्ण और शिव हो गए। वाल्मीकि की रामायण एवं वेदव्यास के महाभारत में भक्ति को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है।

भक्ति भावना से प्रेरित अनेक धार्मिक साहित्य की रचना हुई। जिसमें भक्ति के अनेक स्वरूपों का वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट किया है कि भक्ति अध्यात्म का विषय है, यह एक अन्तर्निहित भावना है जो सभी के हृदय में प्रज्वलित होती रहती है।

टिप्पणी

प्राचीन हिंदू संस्कृति और सभ्यता में एकीकरण करने की इतनी अधिक शक्ति थी कि देश के प्रारंभिक आक्रान्ता, जैसे यूनानी, शक, हूण आदि भारतीयों में पूर्णरूपेण मिल गए और वे अपने एकात्म्य व अनन्यता को संपूर्णतया खो बैठे। परंतु भारत के तुर्क आदि अफगान आक्रमणकारियों के साथ ऐसा नहीं हुआ। इस्लामी आक्रमणकारियों के साथ–साथ भारत में नवीन, विभिन्न और निर्दिष्ट सामाजिक और धार्मिक विचार प्रवेश कर गए और इनका संपूर्ण एकीकरण असंभव था परंतु जब कभी दो प्रकार की सभ्यताएं और संस्कृतियां सदियों तक परस्पर संपर्क में आती हैं तो वे परस्पर एक–दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार सुदीर्घ काल से संसर्ग, नवीन भारतीय मुसलमानों के समुदाय का विकास हुआ। मुस्लिम संतों की एक नई परंपरा का सूफीमत के रूप में विकास हुआ जिसने दो संस्कृति के एकीकरण में योगदान दिया।

सूफी संतों ने इस्लाम के कठोर नियमों की जगह इस्लाम के प्रचार के लिए प्रेम और सहानुभूति को अपना शस्त्र बनाया, उन्होंने ईश्वर से प्रेम और भक्ति, सादगी, सच्चाई पर बल दिया।

इसी शृंखला में मुगल काल में सिख संप्रदाय का उदय हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों में यह अति आवश्यक था। यह कोई नवीन विचारधारा नहीं थी वरन् हिंदू धर्म का सुधारवादी रूप था। वे हिंदुओं के कर्मकांड को नहीं मानते थे। इन्हीं सिद्धांतों को 'गुरुनानक' ने स्थापित किया। उन्होंने समाज के सभी वर्गों को अपने मत में शामिल किया। वे कर्म सिद्धांत, जीव के आवागमन के सिद्धांत और मोक्ष में विश्वास करते थे। इसके लिए उन्होंने एकेश्वरवाद का सहारा लिया। वे किसी धर्म की स्थापना में विश्वास के समर्थक नहीं थे। परंतु उनके पश्चात 'गुरु' परंपरा का विकास हुआ और उनके सिद्धांतों को 'मत' के रूप में स्थापित कर दिया।

अपने मत को ही सत्य मानना कट्टरता है। अपने मत को जब अकाट्य मान लिया जाता है तो वह किभी भी अन्य विचार को सत्य नहीं मानता है। और उससे संबंधित समस्त मान्यताओं को अस्वीकृत कर देता है। अक्सर इस प्रकार की कट्टरता धार्मिक सिद्धांतों में अधिक निरूपित होती है। क्योंकि धर्म अंतस का विषय है। प्रत्येक धर्म अपने मत में तर्क प्रस्तुत करता है कि अन्य धर्मों से मेरा धर्म श्रेष्ठ है। और उसे अन्य धर्मों पर थोपने का प्रयास किया जाता है।

नवीन संदर्भ में अनेक प्रकार की कट्टरता प्रचलित हो रही है। क्षेत्रीय, भाषायी एवं नस्लीय।

कट्टरता के विपरीत धार्मिक सार्वभौमिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन अनेक समाज सुधारकों द्वारा किया गया जिन्होंने नवीन सिद्धांतों की स्थापना कर समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। औपनिवेशिक शासन की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति ने कट्टरता की भावना को और अधिक बढ़ावा दिया। राष्ट्रवादी नेताओं ने धार्मिक सार्वभौमिकता के सिद्धांत की अवधारणा विकसित कर भारत को एकता के सूत्र में बांधने का अथक प्रयास किया। इस प्रयास ने भारत को आजादी तो दिलाई पर विभाजन की रेखा भी खींच कर दो राष्ट्रों की अवधारणा को जन्म दिया।

ब्रिटिश शासन का भारतीय समान एवं संस्कृति पर प्रभाव पूर्णतया नवीन था। पूर्वगामी आक्रमणकारी भारत में ही समाहित होकर उसकी संस्कृति तथा जनमानस का

हिस्सा बन गए थे। परंतु ब्रिटिश आक्रमण में फर्क था। कुछ वक्त के लिए ऐसा लगा कि भारत नवीन पश्चिमी विचारों तथा मूल्यों से पूर्णतः प्रभावित हो चुका था।

18वीं शताब्दी में यूरोप में नवीन बौद्धिक जागरण का युग प्रारंभ हुआ। वैज्ञानिक प्रगति एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने राजनीतिक, सामरिक, आर्थिक एवं धार्मिक गतिविधियों को प्रभावित किया। इसके विपरीत भारत ने एक ठहरे हुए एवं अंधकार में डूबे समाज की छवि प्रस्तुत की। अतः प्रथमतया भारत का एक ऐसे आक्रमणकारी से सामना हुआ जो स्वयं को नस्लीय एवं सांस्कृतिक तौर पर श्रेष्ठ एवं आधुनिक समझता था।

भारत में ऐसे अनेक प्रबुद्ध भारतीय हुए जो भारतीय समाज के दोषों से परिचित थे तथा वे पश्चिमी सभ्यता से भी प्रभावित थे। कुछ प्रबुद्धजन ऐसे भी थे जो पश्चिमी संस्कृति की श्रेष्ठता को नकार कर भारत को यूरोप का अनुगामी बनाने के विरुद्ध थे तथा अपनी प्राचीन परंपराओं को पुनर्जीवित करना चाहते थे। देवबंद आंदोलन इसी श्रेणी का आंदोलन था।

1857 के पश्चात भारतीय मुसलमान वर्ग उदासीन हो गया था। इस निराशा को मिटाने एवं मुस्लिम समाज में नव जागरण की चेतना उत्पन्न करने हेतु मुस्लिम समाज में अनेक आंदोलन हुए इनमें वहाबी आंदोलन, देवबंद आंदोलन एवं अलीगढ़ आंदोलन प्रमुख हैं।

हिंदुओं की भांति मुस्लिम समाज में भी इस युग में सुधार आंदोलन की लहर फैली। सबसे पहले सर सैयद अहमद खां ने मुस्लिम धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। 19वीं शताब्दी में सर सैयद अहमद खां ने मुस्लिम समाज को धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक नितांत नई दिशा देने का प्रयत्न किया। वे मुस्लिम धर्म तथा समाज में सुधार लाना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने मुसलमानों में प्रचलित विवेकशून्य कर्मकांड तथा अंधविश्वासों का खंडन किया और कुरान की शिक्षाओं तथा आधुनिक विज्ञान में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

प्रस्तुत इकाई में भक्ति आंदोलन, शैव व वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास, सूफ़ीवाद, सिख धर्म, सुधार एवं पुनरुत्थानवाद, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, अलीगढ़ आंदोलन, देवबंद आंदोलन, आधुनिक भारत में कट्टरता और धार्मिक सार्वभौमिकता आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि को समझ पाएंगे;
- हिंदू–मुस्लिम एकता में सूफी मत के महत्व से अवगत हो पाएंगे;
- सिख धर्म की दार्शनिक विचारधारा का विश्लेषण कर पाएंगे;
- ब्रह्म समाज, आर्य समाज एवं प्रार्थना समाज के बारे में जान पाएंगे;
- देवबंद, अलीगढ़ एवं सिंह सभा आंदोलन के योगदान को समझ पाएंगे;
- आधुनिक भारत में कट्टरता संबंधी विचारों की व्याख्या कर पाएंगे;

- सार्वभौमिकता के लिए किए गए प्रयासों का वर्णन कर पाएंगे;
- कट्टरता से देश में होने वाली हानियों से अवगत हो पाएंगे।

टिप्पणी

5.2 भक्ति आंदोलन–शैव और वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास : सूफीवाद एवं सिख धर्म

भक्ति का पूर्ण विकसित रूप मध्यकाल में दिखाई देता है। इस भक्ति आंदोलन की शुरुआत का श्रेय शंकराचार्य को जाता है, जिन्होंने सातवीं शताब्दी में अपने विचारों के माध्यम से इस भावना का प्रचार किया। मुस्लिम संस्कृति की स्थापना से समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। कुछ विचारकों के लिए यह चिंतन का विषय था कि भक्ति के कौन से मार्ग को अपनाया जाए। हिंदू भक्ति आंदोलन और सूफी आंदोलन की शुरुआत मध्यकालीन भारत में हुई।

5.2.1 भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

धर्म मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग है और आध्यात्मिक खोज मनुष्य की शाश्वत आकांक्षा है। ब्रह्म तथा आत्मा का अस्तित्व, मोक्ष प्राप्त करने की महती आकांक्षा तथा सृष्टि के रहस्यों को जानने का प्रयत्न मनुष्य ने आदि काल से किया है। यह आध्यात्मिक खोज निरंतर गतिशील रही है। प्राचीन भारत में वेदों तथा उपनिषदों में भारतीयों ने यह प्रयास किया और एक धर्म का रूप स्थापित किया। इसके बाद बौद्ध धर्म, जैन धर्म, भागवत धर्म तथा शैव धर्म ने विभिन्न दर्शन तथा जीवन मार्गों की स्थापना की जिसमें मनुष्य चिर–शांति तथा चिर सुख को प्राप्त कर सके। इस आध्यात्मिक गवेषणा के फलस्वरूप प्राचीन भारतीयों ने मोक्ष प्राप्त करने के तीन मार्गों की स्थापना की। ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग। ज्ञान मार्ग तथा कर्म मार्ग प्रत्येक मनुष्य के लिए संभव नहीं हैं क्योंकि वे जटिल तथा कष्टसाध्य मार्ग हैं, लेकिन भक्ति मार्ग प्रत्येक के लिए सरलता से उपलब्ध है। अतः भक्ति मार्ग को अधिक महत्व प्राप्त हुआ।

भक्ति भावना हिंदू के अत्यंत प्राचीन ग्रंथों में विशद् रूप में पाई जाती है। वैदिक साहित्य में आर्यों द्वारा शिव, विष्णु की उपासना का विवरण प्राप्त होता है। भक्ति का अर्थ पूर्ण समर्पण है। ऋग्वेद की ऋचाओं में इस प्रकार के पूर्ण समर्पण का उल्लेख प्राप्त होता है। भागवत पुराण में कहा गया है कि पूर्ण भक्तिभाव से भगवान की उपासना से मोक्ष प्राप्त होता है। एक सूत्र में कहा गया है कि ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही भक्ति है। भगवद्गीता में भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप है जब कृष्ण पूर्ण समर्पण का उपदेश देते हैं। ईसा के पूर्व ही भागवत धर्म का विकास हो गया था जिसका आधार भक्तिभाव है। इसमें निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ईश्वर की स्थापना की गई, भगवान विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई और उनकी मूर्तियों की भक्तिभाव से उपासना आरंभ हुई।

5.2.2 शैव धर्म का क्षेत्रीय विकास

'शिव' से संबद्ध धर्म को 'शैव' कहा जाता है। जिसमें 'शिव' को इष्टदेव मानकर उनकी उपासना किए जाने का विधान है। शिव के उपासक 'शैव' कहे जाते हैं। शिव तथा

उनसे संबंधित धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। ऋग्वेद में शिव को 'रुद्र' कहा गया है जो अपनी उग्रता के लिए प्रसिद्ध है। रुद्र में विनाशकारी तथा मंगलकारी दोनों ही प्रकार की शक्तियां निहित थीं। भक्ति द्वारा ये आसानी से प्रसन्न किए जा सकते हैं। वे प्राणियों के रक्षक तथा संसार के स्वामी हैं।

उपनिषद काल में हम रुद्र की प्रतिष्ठा में और अधिक वृद्धि पाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद में रुद्र की महिमा को स्थापित करते हुए लिखा है– "जो अपनी शक्ति से संसार पर शासन करता है, जो प्रलय के समय प्रत्येक वस्तु के सामने विद्यमान रहता है तथा उत्पत्ति के समय जो सभी वस्तुओं का सृजन करता है वह 'रुद्र' है। वह स्वयं अनादि एवं अजन्मा है।" महाकाव्यों के समय में आते–आते शैवधर्म को व्यापक लोकाधार प्राप्त हो गया। रामायण से पता चलता है कि शिव न केवल उत्तरी अपितु दक्षिण भारत के भी देवता बन गए। महाभारत में भी शिव की प्रतिष्ठा का व्यापक विवेचन मिलता है।

शिव की उपासना अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध होती है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज 'डायनोसस' के नाम से शिवपूजा का उल्लेख करता है।

प्राचीन भारत के वंशों के समय 'शैव' पूजा

प्राचीन भारत के समस्त राजवंशों के समय शैव मत प्रचलित था। गुप्त राजाओं के समय बहुत उन्नति हुई। शिव की उपासना में मंदिर तथा मूर्तियां स्थापित की गईं। वर्धनकाल में इसका समाज में काफी प्रचार था। 'बाणभट्ट तथा ह्वेनसांग' दोनों ही इसका उल्लेख करते हैं।

हर्षचरित में लिखा है– "गृहे–गृहे अपूज्यत भगवान खण्डपरशुः।" अर्थात् प्रत्येक घर में शिव पूजे जाते हैं। राजपूत काल में भी शैव धर्म समाज में अत्यधिक लोकप्रिय था। साहित्य तथा अभिलेख दोनों इसकी पुष्टि करते हैं। कई राजपूत शासक शिव के अनन्य उपासक थे तथा उन्होंने उनके विशाल तथा भव्य मंदिरों का निर्वाण करवाया।

शैव धर्म का प्रचार– शैव धर्म का प्रचार–प्रसार प्राचीन काल से ही रहा। राजाओं द्वारा भी इसे संरक्षित किया गया। दक्षिण भारत के मध्वाचार्य ने तेरहवीं सदी में शिव पूजा का समर्थन कर्नाटक के वीर शैवों एवं हरिदासों का नाम भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। शैवमत के समर्थक विद्वान मेयकान्डदेव, बसव, कन्नड़ के शिवशरण भक्त महादेवीयक्क, मल्लिकार्जुन आदि प्रमुख हैं। शैव मत का प्रचार 'नयनार' संतों के द्वारा किया गया जिनकी संख्या 63 बताई गई है। जिनमें अप्पार, तिरुज्ञान, सम्बंदर, सुंदर मूर्ति, मणिवक वाचगर आदि हैं। इनके भक्तिगीतों को एक साथ 'देवारम्' में संकलित किया गया है। कश्मीर की महिला शैव संत 'लाला योगीश्वरी' ने अपनी मार्मिक कविताएं नाच–गाकर जनता के बीच प्रस्तुत की हैं।

डॉ. रामधारी सिंह दिनकर का मत है– "शैव सिद्धांत में सृष्टि के परम अध्यक्ष का नाम शिव है। वे ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं। उन्हीं की कृपा सृष्टि की पांच प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष होती है। ये प्रक्रियाएं हैं–सृष्टि की रचना, पालन और विनाश तथा जीव को माहोच्छन्न करके फिर उसे मुक्त कर देना। शिव सारे कार्य अपनी सृष्टि के माध्यम से करते हैं।"

दक्षिण भारत में शैव संप्रदाय– अगस्त ऋषि भगवान शिव के आदेश से लगभग तीसरी सदी ई.पू. में दक्षिण भारत में आकर बसे। उनके बारे में साहित्य में अनेक लोककथाएं प्रचलित हैं। संगम साहित्य में भी शैव मत के बारे में जानकारी मिलती है। साहित्य में उन्हें त्रिनेद देवता के रूप में प्रदर्शित किया गया है। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कवि 'नक्कीरर' ने भगवान कार्तिक के ऊपर रचना लिखी है 'कार्तिक' जो शिव के पुत्र हैं उन्हें दक्षिण भारत में 'मुरुगन' कहा जाता है।

दक्षिण के शैव संत नयनार– दक्षिण के सातवीं से नवीं शताब्दी के बीच नयनार संत शैव मत के प्रमुख प्रचारक थे। उन्होंने गांव–गांव की यात्रा कर वहां के मंदिरों में संगीतपरक गेय रचनाओं के माध्यम से शैव स्तुतियां प्रस्तुत की हैं। नयनार की संख्या 63 थी। 'अप्पर' संत जिसका दूसरा नाम 'तिरूनाबुक्करशु' मिलता है, उसने दास भाव से शिव की भक्ति की तथा उसका प्रचार जनसाधारण में किया। 'तिरुज्ञान' संत को बचपन में ही पार्वती की कृपा से दैवीय ज्ञान प्राप्त हो गया था। उसने बहुत से भक्ति गीत गाए तथा उसकी मान्यता एक पवित्र संत के रूप में की गई। सुंदरमूर्ति शैव मत के प्रमुख संत थे। उन्होंने लगभग एक सहस्र भक्ति गीत लिखे। उन्हें 'ईश्वरमित्र' की उपाधि से संबोधित किया गया। उनका कथन है– "ईश्वर संगीत के रूप में तथा संगीत के प्रयोजन के रूप में विद्यमान है।"

'माणिक्कवाचगर' जिन्होंने अनेक भक्ति गीत लिखे हैं, उन्हें 'तिरुवाशगम' में संगृहीत किया गया है।

इन सभी संतों ने भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने भक्ति को ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र साधन बताया है। वे जाति–पांति के विरोधी थे तथा इन्होंने समाज के सभी वर्गों के बीच शैव भक्ति का प्रचार किया। संत तिरुमूलर ने प्रेम और शिव को एकरूप माना है।

"प्रेम और शिव दो भिन्न हैं, कहते मूढ़
प्रेम ही शिव है, यह जाने कोई
प्रेम ही शिव है, जानने पर
प्रेम ही शिव रूप बन बैठा है।"

इस प्रकार नयनार संतों ने दक्षिण भारत में शैव मत को अत्यधिक लोकप्रिय बनाया।

दक्षिण भारत के अन्य शैवसंत– दक्षिण भारत के ग्यारहवीं सदी के शैव संत पहिणस्तार ने शैव स्त्रोत ग्रंथ लिखा था और वैष्णव मत के आचार्य 'माध्वाचार्य' ने शिव पूजा का समर्थन बड़े जोर–शोर से किया था। 'मेयकान्ददेव' ने शैवागम के 12 सूत्रों का अनुवाद 'शिव ज्ञान बोधम' नाम से किया था। बसव ने पुरोहितों से भक्ति साधना को छीन कर उसे पवित्रता का दर्जा प्रदान किया और अपने अनुयायियों का 'वीरशैव' नाम रखा एवं रम्भापुरी, उज्जैन, श्रीशैल, केदार तथा काशी में मठों की स्थापना की। अन्य प्रमुख शैवसंत 'महादेवीयक्क, हरिहर, राघवाक, पद्मरस, सोमेश्वर महालिंगम थे। सत्रहवीं सदी के कुमरगुरुपरर, शिवप्रकाशक और अठारहवीं सदी के शांतिलिंग स्वामी तथा तायुमानवर शैव भक्ति के प्रमुख संत थे।

दक्षिण भारत के मंदिर और शैव धर्म– अलंकृत कलात्मक मंदिरों का निर्माण दक्षिण भारत की प्रमुख विशेषता थी। मंदिर में स्थापित उपास्यदेव किसी धार्मिक मत, धार्मिक विचार एवं धार्मिक आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। चोल शासक राजराज प्रथम शिव का अनन्य उपासक था। जिसने तंजोर में राजराजेश्वर का सुप्रसिद्ध शैव मंदिर निर्मित करवाया था। शिव की कई मूर्तियां भी स्थापित कीं। राजेन्द्र चोल ने अपनी राजधानी में 'बृहदीश्वर' मंदिर का निर्माण करवाया। इसी वंश का कुलोतुंग प्रथम शैव मत का कट्टर उपासक था। पल्लव शासक भी शैव मत के समर्थक थे। पांड्य एवं चेर शासकों ने भी शैव मत को प्रश्रय प्रदान किया।

उत्तर क्षेत्र एवं शैव धर्म– शिव की आराधना का स्वरूप सिंधु सभ्यता से मिलने लगता है। कालान्तर में यह भारत में चारों ओर फैल गया। पूरे भारत में शिव पूजा के अनगिनत स्थान हैं। काशी, उज्जैन, धार, खजुराहो, मंदसौर, भोजपुर में शिव मंदिरों की प्रधानता है। उत्तर भारत के गुर्जर प्रतिहार, राष्ट्रकूल, चंदेल, परमार आदि राजवंश के शासक शैव धर्म के अनुयायी थे।

शैव धर्म के प्रमुख संप्रदाय– शैव मत की लोकप्रियता के आधार पर यह कई भागों में विभाजित हो गया, जिनका वर्णन निम्न है–

पाशुपत संप्रदाय– यह शैवों का सबसे प्राचीन संप्रदाय है, जिसकी उत्पत्ति ईसा पूर्व दूसरी शती में हुई। पुराणों के अनुसार, इस संप्रदाय की स्थापना 'लकुलीश' अथवा लाकुली नामक ब्रह्मचारी ने की थी। इस संप्रदाय के अनुयायी 'लकुलीश' को शिव का अवतार मानते हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय कालीन मथुरा लेख में 'उदिताचार्य' नामक एक पाशुपत मतानुयायी का उल्लेख मिलता है जिसने दो लिंगों की स्थापना करवाई थी। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में इस संप्रदाय का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि इसके अनुयायी अपने मस्तक पर भस्म पोतते थे तथा हाथ में रुद्राक्ष की माला धारण करते थे। पाशुपत संप्रदाय के अंतर्गत पांच पदार्थों की सत्ता स्वीकार की गई।

(1) **कार्य**– जिसमें स्वतंत्र शक्ति नहीं है उसे कार्य कहा जाता है। इसमें जड़ तथा चेतन सभी सत्ताएं आ जाती है।

(2) **कारण**– जो सभी वस्तुओं की सृष्टि तथा संहार करता है। यही कारण है यह स्वतंत्र तत्व है जिसमें असीम ज्ञान तथा शक्ति होती है। यही परमेश्वर (शिव) है।

(3) **योग**– इसके द्वारा चित्त के माध्यम से जीव तथा परमेश्वर में संबंध स्थापित होता है। इसके दो प्रकार हैं– क्रियात्मक तथा अक्रियात्मक।

(4) **विधि**– जीव को महेश्वर की प्राप्ति कराने वाले साधन को विधि कहा गया है। मुख्य तथा गौण इसके दो विभेद हैं। शरीर पर भस्म लगाना, मंत्र, जप, प्रदक्षिणा आदि इसके प्रमुख अंग माने गए हैं।

(5) **दुखांत**– इसका अर्थ है दुखों से मुक्ति पाना। इसके दो भेद बताए गए हैं– अनात्मक अर्थात् मात्र दुखों से छुटकारा तथा सात्मक अर्थात् ज्ञान और कर्म की शक्ति द्वारा अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करना। भारत तथा विश्व के अन्य भागों में आज भी पाशुपत संप्रदाय का प्रचार है। नेपाल के काठमांडू का पशुपतिनाथ मंदिर आज भी इस मत के श्रद्धालुओं का प्रमुख केंद्र है।

टिप्पणी

कापालिक संप्रदाय– शैव धर्म का दूसरा संप्रदाय 'कापालिक' है। जिसके उपासक भैरव को शिव का अवतार मानकर उनकी उपासना करते हैं। इस मत के अनुयायी सुरा–सुंदरी का पान करते हैं। इस मत के उपासक अत्यंत क्रूर स्वभाव के होते हैं। भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक से पता चलता है कि 'श्रीशैल' नामक स्थान कापालिकों का प्रमुख केंद्र था।

लिंगायत सम्प्रदाय– इसका प्रचार दक्षिण में हुआ। इसके उपासक शिवलिंग की आराधना करते थे तथा उसे चांदी के सम्पुट में रखकर अपने गले में पहना करते थे। लिंगायत संप्रदाय के अनुयायी निष्काम कर्म में विश्वास करते तथा शिव को परम तत्व मानते हैं। वे वेदों तथा जाति–पांति का खंडन करते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धांत को वे नहीं मानते थे।

काश्मीरी शैव संप्रदाय– कश्मीर में शैव धर्म का एक नया संप्रदाय विकसित हुआ जो सिद्धांत तथा आचार में अन्य संप्रदायों से भिन्न था। यह शुद्ध रूप से दार्शनिक अथवा ज्ञानमार्गी संप्रदाय है। इसमें शिव को अद्वैत शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। वह सर्वव्यापी है तथा जगत उसी का रूप है। सृष्टि के साथ मिलकर वह सृष्टि की रचना करता है। चित् आनंद, ज्ञान, क्रिया, इच्छा ये उसकी शक्तियां मानी गई हैं। जीव अपने वास्तविक रूप में शिव ही है। किंतु अज्ञान के कारण उसे वास्तविकता का बोध नहीं हो पाता। अज्ञान का आवरण हटते ही वह शिव की प्राप्ति कर लेता है। यह मोक्ष है। भक्ति की महत्ता को भी इस मत में स्वीकार किया गया है।

इसके अलावा 'मत्स्येंद्रनाथ' ने 'नाथपंथ' नामक संप्रदाय चलाया। इनकी क्रियाएं बौद्ध मत से मिलती हैं।

मध्यकाल और शैवमत– मध्यकालीन भारत दो संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता जहां अपनी विजय के उन्माद में उल्लासित थे तो वहीं दूसरी ओर पराजित समुदाय के लिए अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा का संघर्ष था। हिंदू परंपरा को इस काल में अत्यधिक ठेस पहुंची। आंचलिक क्षेत्रों में अभी भी धार्मिक स्वतंत्रता थी जिसका उपयोग वे मंदिरों के निर्माण में कर रहे थे। यहां लगातार लिंगस्वरूप, पंचमुखी, महादेव, एकनाथ आदि शिव के अनेक रूपों के स्थान पर निर्मित होते रहे। प्रायः ऐसे स्थान छतविहीन, तालाब के किनारे, कुएं के किनारे, झरनों के किनारे, एक चबूतरे पर लिंगस्वरूप में स्थापित कर दिए जाते थे। मध्य भारत के 'गिरि गुसाई' साधु शिवभक्त थे।

शिवभक्ति काव्य– शैव की भक्ति में अनेक काव्यों की रचना हुई। दक्षिण भारत में तो शैव भक्ति काव्यधारा का उच्च रूप मिलता है। 11वीं शताब्दी में नाथों ने भी अपनी वाणी में शिव भक्ति साधना को शामिल किया–

ऊँ नमो शिवाय ऊँ नमो शिवाय

ओंकार आहे, मूल मंत्र धारा।।

इस प्रकार गोरखवाणी में शिव काव्यधारा के अनेक उदाहरण रेखांकित किए गए हैं। मैथिल कोकिल विद्यापति 15वीं शताब्दी के प्रमुख कवि थे जिन्होंने 'शिव पार्वती वंदना' और 'शिव प्रार्थनाएं' रचित की हैं। इस विषय पर 'कीर्तिलता' ग्रंथ उल्लेखनीय

है। चंदबरदायी ने 'पृथ्वीराज रासो' में शिव की महिमा को कई बार दर्शाया है। जायसी द्वारा 1540 में 'पद्मावत' की रचना की गई है जिसका पूरा एक प्रसंग 'पार्वती महेश' को समर्पित है। दतिया के सेवढ़ निवासी महात्मा अक्षर अन्नय ने शिव भक्ति काव्य की तीन कृतियां क्रमशः 'हर संवाद भाषा', 'भवानी स्त्रोत', 'उत्तम स्त्रोत' की रचना की थी। बनारसी दास ने शिवभक्ति ग्रंथ 'शिवपच्चीसी' की रचना की थी।

इस प्रकार शैव मत विचारधारा का केंद्र 'शिव' है। वह सगुण, साकार, अविनाशी सत्य का प्रतीक है। वह सृष्टि का संहारक और संरक्षक दोनों है। वे परमानंद स्वरूपा हैं। जिसमें अनंत ज्ञान, असीम शक्ति, अखंड प्रेम, दया, क्षमा ये सभी गुण विद्यमान हैं। वह समस्त विश्व की रचना, पालन और विनाश क्रीड़ा के लिए उत्तरदायी है। समस्त शक्ति अव्यक्त रूप से शिव में निहित है। शिव एक शाश्वत परंपरा है। वह सत्य भी है और सुंदर भी है इसलिए शिव सदैव से हर काल में पूजनीय थे। उन्हें विभिन्न रूपों में पूजा जाता था और अंत तक उनकी उपासना इस सृष्टि में होती रहेगी क्योंकि

सत्यं शिवं सुंदरम्।

5.2.3 वैष्णव धर्म का क्षेत्रीय विकास

वैष्णव धर्म का विकास भागवत धर्म से हुआ है। जिसके प्रवर्तक कृष्ण थे। उनके अनुयायी उन्हें 'भगवत' (पूज्य) कहते थे। इस कारण उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म की संज्ञा भागवत हो गई। महाभारत काल में वासुदेव कृष्ण का समीकरण विष्णु से किया गया तथा भागवत धर्म वैष्णव धर्म बन गया। विष्णु एक ऋग्वैदिक देवता हैं तथा अन्य देवताओं के समान प्रकृति के देवता हैं। महाभारत में हम विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। वस्तुतः समस्त महाभारत ही विष्णु से व्याप्त है। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख मिलता है। जिनमें से एक अवतार कृष्ण वासुदेव हैं। इस समय से भागवत धर्म वैष्णव धर्म बन गया।

वैष्णव धर्म की प्राचीनता– पाणिनी ने भागवत धर्म तथा वासुदेव की पूजा का उल्लेख किया है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज शूरसेन (मथुरा) के लोगों को 'हेराक्लीज' (कृष्ण) का उपासक बताता है। भागवत धर्म से संबंधित प्रथम प्रस्तर स्मारक विदिशा (बेसनगर) का गरुढ़ स्तंभ है। इससे पता चलता है कि तक्षशिला के यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म ग्रहण किया। राजस्थान के घोसुंडी से भी भागवत पूजा का उल्लेख मिलता है। महाराष्ट्र के नानाघाट से संकर्षण (बलराम) तथा वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है।

गुप्त काल वैष्णव धर्म का चर्मोत्कर्ष था। गुप्त राजाओं ने इसे अपना राजधर्म बनाया और अनेक राजाओं ने परम भागवत की उपाधि ग्रहण की और अपना राजचिह्न गरुड़ बनाया। हर्ष के काल में भी वैष्णव प्रमुख धर्म था।

राजपूत काल में तो वैष्णव धर्म का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। विभिन्न लेखों में ओम नमो भगवते वासुदेवाय कहकर विष्णु के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। चेदि, परमार चंदेल वंश के अनेक राजाओं ने वैष्णव धर्म को संरक्षण दिया। विष्णु के दस अवतारों की कथा का व्यापक प्रचलन हुआ तथा प्रत्येक की मूर्तियों का निर्माण हुआ।

टिप्पणी

अवतारवाद– भागवत मत की एक परंपरा रही है अवतारवाद। जब–जब पृथ्वी पर कष्ट बढ़ता है तब–तब भगवान विष्णु इस पृथ्वी पर अवतार लेते हैं।

गीता में अवतारवाद के संदर्भ में कहा है–

"यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

अभ्युथानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे।"

महाभारत के नारायणीय अंश, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, मत्स्य पुराण में विष्णु के अवतारों की संख्या 10, 11, 12 तक बताई है। कालिदास ने 'रघुवंश' में विष्णु के अवतारों का उल्लेख किया है। उत्तर प्रदेश के ललितपुर में बेतवा के किनारे देवगढ़ के मंदिरों में विष्णु के दस अवतारों को रेखांकित किया है।

वैष्णव धर्म एवं आलवार संत– तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार आलवार संतों द्वारा किया गया। 'आलवार' शब्द का अर्थ 'ज्ञानी व्यक्ति' होता है। आलवार संतों की संख्या 12 है। जिनमें तिरुमंगई, पेरिय, आलवार, अंगल, नाम्मालवार आदि नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका आविर्भाव सातवीं से नवमी शताब्दी के मध्य हुआ। प्रारंभिक आलवार संतों में पोयगई, पूडम तथा पेय के नाम मिलते हैं जो कांची मल्लई तथा मयलापुरम के निवासी थे। इन्होंने सीधे तथा सरल ढंग से भक्ति का उपदेश दिया। इनके विचार संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिता से रहित थे। तिरुमलिशई एक प्रसिद्ध संत था। उसने भक्ति गीतों के माध्यम से वैष्णव मत का प्रचार किया। आलवारों में महिला संत आण्डल का नाम मिलता है जिसके भक्तिगीतों में कृष्ण कथाएं अधिक मिलती हैं। नाम्मालवार के गीतों में गंभीर दार्शनिक चिंतन देखने को मिलता है। विष्णु को अनंत एवं सर्वव्यापी मानते हुए उसने बताया कि उसकी प्राप्ति एकमात्र भक्ति से ही संभव है।

आलवार संत भजन कीर्तन कर भक्ति का प्रचार करते थे भुतत्तु नाम के आलवार संत ने विष्णु के लिए भक्ति गीत लिखा है–

भक्ति के लिए, कामना का घृत

प्रभु चिंतन का वर्तिका से द्रवित होकर

ज्ञान प्रकाश आलोकित कर मैं

नारायण के चरणों में अर्पित हूँ।"

आलवार की तुलना उस विरहिणी युवती के साथ की गई है जो अपने प्रियतम की विरह वेदना में अपने प्राण खो देती है। आलवार संत भजन, कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्ति दर्शन आदि के माध्यम से वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशों में दार्शनिक जटिलता नहीं थी। उनका कहना था कि मोक्ष के लिए ज्ञान नहीं अपितु विष्णु की भक्ति आवश्यक है।

वैष्णव मत और मंदिर निर्माण– वैष्णव भक्ति से प्रभावित होकर कई पल्लव राजाओं ने वैष्णव धर्म को ग्रहण कर उसे राजधर्म बनाया तथा विष्णु के सम्मान में मंदिरों एवं

टिप्पणी

मूर्तियों का निर्माण करवाया। सिंह विष्णु ने मामल्लपुरम में आदिवाराह मंदिर का निर्माण करवाया था। नरसिंह वर्मा द्वितीय के समय में काच्ची में बैकुंठ पेरुमाल मंदिर का निर्माण करवाया गया था। दंति वर्मा भी विष्णु का महान उपासक था। लेखों में उसे विष्णु का अवतार बताया गया है। बादामी के चालुक्य नरेश भी वैष्णव मत के पोषक थे तथा कुछ ने परमभागवत की उपाधि ग्रहण की थी। ऐहोल में विष्णु के कई मंदिरों का निर्माण किया गया था। चोल राजाओं के समय में शैव धर्म के साथ–साथ वैष्णव धर्म की भी प्रगति हुई।

वैष्णव धर्म के सिद्धांत– वैष्णव धर्म में ईश्वर भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपनी शरण में ले लेता है। वैष्णव सिद्धांतों का गीता में सर्वप्रथम विवेचन मिलता है। इसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय स्थापित करते हुए भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का प्रतिपादन मिलता है। भगवान कृष्ण ने कहा है– "सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूंगा।"

भक्ति आंदोलन एवं वैष्णव धर्म– भक्ति काल मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। इसका उद्देश्य एक ओर निराश हिंदुओं में आशा का संचार करना, उन्हें सामाजिक तथा धार्मिक आस्था प्रदान करना था तथा दूसरी ओर, उस सामान्य भूमि की खोज करना था, जिससे हिंदू धर्म व समाज तथा मुस्लिम समाज व धर्म में सहयोग तथा सद्भावना की स्थापना हो सके। इसी शृंखला में मध्यकाल में अनेक संतों ने वैष्णव मत का प्रचार–प्रसार किया।

रामानुजाचार्य– जिस प्रकार आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने धर्म के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया, उसी प्रकार 12वीं शताब्दी में रामानुज ने भी धार्मिक क्षेत्र में एक नए परिवर्तन को उपस्थित किया। इनका जन्म मद्रास के समीप तिरुपति अथवा पेरुम्बार नामक स्थान में हुआ। इन्होंने वेदांत संग्रह, वेदांत सूत्र, बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य तथा भगवद्गीता की व्याख्या लिखी है।

रामानंद– अभी तक वैष्णव धर्मगुरु दक्षिणी भारत में ही हुए थे। लेकिन चौदहवीं सदी में एक कान्यकुब्ज परिवार में रामानंद का जन्म हुआ। उन्होंने वैष्णव धर्म के द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिए। वे राम के उपासक थे और परमात्मा के प्रति पूर्ण प्रेम और मानव बंधुत्व के दो महान सिद्धांतों में विश्वास रखते थे।

रामानंद प्रथम वैष्णव संत थे जिन्होंने हिंदी के माध्यम से उपदेश दिए। अब हर कोई वैष्णव धर्म के उपदेश समझ सकता था। इस प्रकार उन्होंने वैष्णव मत के प्रचार के साथ राष्ट्रीयता का भी विकास किया।

कबीर– कबीर का जन्म जिस समय हुआ उस समय देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियां विशेष प्रकार की थीं। कबीर ने भक्ति मार्ग को कर्म मार्ग तथा ज्ञान मार्ग से श्रेष्ठ बताते हुए कहा कि जब तक आराध्य के प्रति भक्ति भाव नहीं है तब तक जप, तप, संयम, स्नान, ध्यान आदि सब व्यर्थ हैं। कबीर ने रामानंद से राम का गुरुमंत्र पाया था किंतु उनके राम दशरथ के राम नहीं थे। उनके आराध्य तो निर्गुण ब्रह्म हैं जिनका निवास शून्य मंडल है। कबीर को आराध्य की प्राप्ति के लिए न मंदिर की आवश्यकता थी न मस्जिद की, न किसी तीर्थस्थान की। कबीर ने अपनी भक्ति में

टिप्पणी

गुरु को बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कबीर की दृष्टि में गुरु वह साधु है जिसे ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त है।

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पांय

बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय।"

निर्गुणवादी कबीर ईश्वर के सगुण रूप को भले ही न मानते किंतु कण–कण में उस मूल तत्व की व्याप्ति को एवं उसकी कृपा के प्रसाद को कभी नहीं नकारते हैं।

गुरुनानक– महान पंजाबी संत गुरुनानक का उदय चौदहवीं–पंद्रहवीं सदी में हुआ। वे रूप से समन्वयवादी थे। उन्होंने अपनी वाणी से सभी आराध्यों का निर्गुण रूप में स्मरण किया था। रामकथा विषयक उनके कई पद मिलते हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि उस काल में रामलीला का व्यापक रूप से मंचन होता था। एक उदाहरण–

"राम नाम बिनु कवन हमारा।

सुख–दुख सम करि नामु ना छोड़ऊ

आपे बरबसि मिलावण हारा।।"

इस प्रकार एकेश्वरवाद के समर्थक गुरुनानक भी राम नाम से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

चैतन्य– बंगाल में चैतन्य के कार्यों से वैष्णव मत को बड़ी प्रेरणा मिली। उन्होंने अपना परमेश्वर राम की जगह कृष्ण को बनाया और उनके नाम से भजन–कीर्तन करते थे। चैतन्य ने परमात्मा पर पूर्ण आस्था रखने का उपदेश दिया है। अपने इस परमात्मा को वे कृष्ण या हरि कहते थे। चैतन्य का धर्म रस्मों और आडम्बरों से मुक्त था। इसमें उपासना का स्वरूप ऐसा प्रेम, भक्ति, कीर्तन और नृत्य था। "अगर कोई जीव कृष्ण पर श्रद्धा रखता है। अपने गुरु की सेवा करता है तो माया जाल से मुक्त होकर कृष्ण के चरणों को प्राप्त होता है।" इस प्रकार चैतन्य के आध्यात्मिक अनुभव प्रारंभ से ही संप्रदाय की सबसे अमूल्य निधि बन गए।

तुलसीदास– तुलसीदास ने ऐसे इष्टदेव को स्वीकार किया जो समाज के सभी वर्गों में लोकप्रिय हो। उन्होंने राम को ही इष्टदेव स्वीकार किया। उन्हें संपूर्ण जगत के कण–कण में राम सीता दिखाई देते हैं।

"सिया राम मय सब जग जानी।"

उन्होंने अपने इष्टदेव को पूरा रामचरितमानस ग्रंथ समर्पित किया है।

सूरदास– सूरदास उपदेशक नहीं थे पर उन्होंने अपना आराध्य कृष्ण को चुना और उनके लिए अनेक साहित्य की रचना की। कृष्ण के सभी रूपों का वर्णन उन्होंने बड़े ही खूबसूरत ढंग से किया है–

"मैया मोहि मैं नहीं माखन खायौ।

भोर भयो गैयन के पीछे, मधुबन मोहि पठायो।"

कृष्ण की भक्ति के रूप में सूरदास ने वैष्णव मत का प्रचार–प्रसार किया।

वैष्णव मत के अन्य संत– रैदास, दादू, मलूकदास, नामदेव ऐसे भक्तिकालीन संत थे जिन्होंने अपनी भक्ति से राम या कृष्ण को अपना आराध्य मानकर वैष्णव मत को लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार अकबर के दरबार के प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवियों में चतुर्भुज ब्राह्मण, राजा आसकरण, सूरदास, मदनमोहन, तानसेन, गंग, रहीम के नाम उल्लेखनीय हैं। इस काल के मुस्लिम कवि रसखान ने अनेक प्रसिद्ध कृष्ण भक्ति के पद लिखे हैं। महाराष्ट्र के मध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों में भानूदास महाराज संत एकनाथ, अनंत महाराज तुकाराम, केशवस्वामी, कृष्णदास, देवनाथ महाराज, दयाल नाथ आदि के नाम प्रमुख हैं। गुजरात के कृष्णभक्त कवि 'नरसी मेहता' के कृष्ण काव्य के नौ ग्रंथ उपलब्ध हैं। कृष्ण प्रेम में सराबोर मीराबाई ने कृष्ण भक्ति में 'लीन' होकर अनेक भजनों को रचित किया एवं गाया।

वैष्णव धर्म में मूर्ति पूजा तथा मंदिरों आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। मूर्ति को ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप माना जाता है। भक्त मंदिर में जाकर उसकी पूजा करते हैं। दशहरा जन्माष्टमी जैसे पर्व वासुदेव–विष्णु के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के प्रतीक हैं। वैष्णव उपासक भगवान का कीर्तन करते हैं तथा पवित्र तीर्थों पर एकत्रित होकर ध्यान करते हैं।

इस प्रकार वैष्णव मत के संतों ने बाह्य आडम्बर को त्यागकर सरल जीवन की ओर मार्ग प्रेषित किया एवं अपने उपदेशों से उदारता के युग का सूत्रपात किया। ऊंच, नीच, छुआ–छूत के भेदभाव को दूर किया और सामाजिक सद्भावना का विस्तार किया। जनसाधारण में आत्म गौरव एवं आत्मसम्मान की भावनाओं को उत्पन्न किया। उन्होंने भक्ति के उच्चतम स्वरूप को जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया।

5.2.4 सूफीवाद

इस्लाम धर्म की नींव पैगम्बर मुहम्मद साहब ने डाली थी। इस्लाम धर्म ने अपने अंदर कई धार्मिक और आध्यात्मिक आंदोलनों का उदय देखा। ये आंदोलन प्रमुख रूप से कुरान की व्याख्या पर आधारित थे।

मुतजिलाई अथवा विवेकवादियों का अब्बासी खलीफाओं ने पक्ष लिया था। इन लोगों ने अपने विरोधियों का दमन करने के लिए राजनीतिक सत्ता का प्रयोग किया था एवं धर्मशास्त्र को विवेक (अक्ल) की कसौटी पर रखकर उसे क्रमबद्ध करने का प्रयास किया था। वे ईश्वर की प्रकृति, सृजन, ईश्वर के साथ मनुष्य के संबंध, आत्मा की प्रकृति आदि के संबंध में चिंतन–मनन करते थे। उनका मत था कि मनुष्य अपने अच्छे–बुरे सभी कर्मों के लिए स्वयं जिम्मेदार है और इसी उद्देश्य से कुरान की रचना की गई। वे रूढ़िवादी विचार से सहमत नहीं थे। रूढ़िवादी तत्वों द्वारा मुतजिलाइयों का विरोध किया। कालांतर में इस मत की समाप्ति हो गई। इनके पतन के पश्चात सूफी मत का उदय हुआ।

"सूफीवाद इस्लामी धार्मिक जीवन की वह अवस्था है जिसमें बाहरी गतिविधियों की अपेक्षा आंतरिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया जाता है। वस्तुतः वह इस्लामी रहस्यवाद की ओर संकेत करता है।"

टिप्पणी

सूफीवाद का अर्थ

सूफी शब्द की उत्पत्ति के संबंध में इतिहासकारों एवं विद्वानों में मतभेद है। डॉ. बुद्धप्रकाश ने लिखा है– 'सूफी' शब्द 'सूफ' से बना है और 'सूफ' का अर्थ है 'ऊन'। शामी जगत में ऊन का लबादा सरल जीवन और प्रेम का प्रतीक माना जाता था, अतः उसे धारण करने वाले लोग सूफी कहलाते थे। ए.एम.ए. शुस्तरी का मत है– "कुछ लोग सूफी शब्द की उत्पत्ति 'सफवी' से मानते हैं और कुछ 'साफा' से जिसका अर्थ पवित्रता से है।"

कुछ विद्वानों के अनुसार, "मुहम्मद साहब के सहयोगियों में से कुछ लोगों ने सांसारिक जीवन को त्यागकर 'सूफ' नामक गुफा में तपस्या करनी प्रारंभ कर दी और उन्हें सूफी कहा जाने लगा।" एक अन्य मत यह भी है कि मदीना में 'सुफ्फा' चबूतरे पर बैठने वाले संतों को सूफी कहा जाता था। अन्य मत यह भी है कि सूफी शब्द यूनानी शब्द 'सोफिया' अर्थात 'ज्ञानी' का रूपांतर है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सूफी संत की सर्वमान्य विशेषता यह है कि वह सदैव ईश्वर के ध्यान में डूबा रहे और स्वयं को सांसारिक गतिविधियों से अलग रखे। 'सूफी' धर्म में अत्यधिक समर्पण था। प्रेम में जोश था, कविता, नाच–गाना, उनकी उपासना थी और ईश्वर में लिप्त होना उनका आदर्श था।

सूफी मत की उत्पत्ति

सूफी मत के उद्‌गम के संबंध में भी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। प्रो. हुमायूं कबीर का मत है– "सूफी मत का आधार कुरान में था परंतु भारतीय प्रभाव से मुक्त बताते हुए लिखते हैं– सूफी धर्म का जन्म इस्लाम के वक्ष से हुआ है।"

आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव का कहना है कि, "एक इष्टदेव का विचार और आत्मा और परमात्मा के बीच प्रियतमा और प्रियतम जैसे संबंध होने की बात हिंदू धर्म की अपनी विशेषता है, जिसे भारत के सूफियों ने अपना लिया था। साथ ही शांति एवं अहिंसा का सूफी फकीरों का सिद्धांत भी हिंदू धर्म की विशेषता है।"

टाइटम का भी मत है– "सूफियों की अनेक क्रियाएं जैसे योग साधना, प्राणायाम तथा अन्य हठयोग आदि में स्पष्ट रूप से हिंदू धर्म का प्रभाव था।" उनकी गतिविधियां हिंदू और बौद्ध प्रथाओं से मिलती हैं। अतः यह निश्चित है कि भारत के सूफियों पर भारतीय वातावरण का प्रभाव था।

कई विद्वान मानते हैं कि यूनान से जो दार्शनिक ईरान आए थे, उनके प्रभाव से सूफी मत का विकास हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि ईसाई धर्म के कारण सूफी मत का उद्‌भव हुआ है। उनका मानना है कि सूफी मत में व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग, मानव सेवा की भावना, ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना, भौतिक वस्तुओं का तिरस्कार ईसाई मत की देन हैं।

अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि इस्लाम में सूफीवाद के विकास में अन्य धर्मों तथा दर्शन का प्रभाव पड़ा।

डॉ. ताराचंद्र का कथन है कि, "सूफी मत में अनेक नदियों का संगम है। कुरान और पैगम्बर का जीवन मुख्य स्रोत है। इस पर यूनानी दर्शन तथा ईसाई विचारों का

टिप्पणी

प्रभाव पड़ा तथा हिंदू, बौद्ध व जैन धर्मों ने भी इसे प्रभावित किया लेकिन सूफियों ने इन प्रभावों को इस्लामी परंपराओं में समन्वित कर लिया।"

वहादत–उल–वजूद का सिद्धांत

इस्लामी रहस्यवाद को सूफी धर्म कहा जाता है। इस रहस्यवाद का जन्म 'वहादत–उल–वजूद' अथवा आत्मा परमात्मा की एकता से हुआ है। डॉ. श्रीवास्तव ने लिखा है– "इसमें 'हक' को परमात्मा और 'खलक' को सृष्टि माना है अर्थात सृष्टि की विभिन्नता से ईश्वर की एकरूपता निहित है और सभी देखे जाने वाले नजारों के पीछे वही वास्तविकता है।"

सूफी ईश्वर के प्रेम में इस सीमा तक निमग्न हो जाते हैं कि उन्हें एक क्षण के लिए भी सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह नहीं होता। 'फतुहात–ए–मक्किया' में इस प्रेम को व्यक्त करते हुए कहा गया है– 'ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं है। ईश्वर के सिवाय किसी का अस्तित्व नहीं है।' सूफी मतावलंबी 'रबिया' अपने ईश्वर प्रेम को व्यक्त करती हुई कहती हैं– "ईश्वर के प्रेम में मैं इस सीमा तक निमग्न हूं कि किसी भी अन्य वस्तु के प्रति मेरा प्रेम अथवा घृणा प्रकट नहीं होती है।"

सूफी ईश्वर में लीन होने के सिद्धांत को 'मारिफात' अथवा 'वस्ल' अर्थात ईश्वर में एकीकृत होना कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेक चेष्टाएं करनी पड़ती हैं तभी उन्हें अल्लाह के जलाल (ईश्वर के सौंदर्य) का साक्षात्कार होता है। चूंकि सूफीवाद का उद्देश्य आंतरिक शुद्धता एवं ईश्वर से मिलन है अतः इसे प्राप्त करने के लिए उसे निम्नलिखित अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है–

1. तोबा – पश्चाताप
2. वाश – विरक्ति
3. जुहद – पवित्रता
4. सब्र – धैर्य
5. शुक्र – कृतज्ञता
6. फक्र – निर्धनता
7. खौफ – भय
8. रजा – आशा
9. तवक्कुल – संतोष
10. रिया – ईश्वर इच्छा के प्रति समर्पण।

डॉ. श्रीवास्तव ने लिखा है कि, "आध्यात्मिक विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरने में सूफी ईश्वर के प्रति अधिकाधिक प्रेम और उसमें लीन हो जाने की आतुरता को अत्यधिक अनुभव करते हैं। जिस प्रकार प्रेमी अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए सदैव आतुर रहता है उसी प्रकार सूफी भी ईश्वर के अधिकाधिक सामीप्य के लिए बेचैन रहता है।"

टिप्पणी

सूफी धर्म का सिद्धांत

नौवीं सदी में जब सूफी मत का धर्म के रूप में आविर्भाव हुआ तो इसके लिए कुछ नियमों का प्रतिपादन किया गया, जो निम्न हैं–

1. परमात्मा एक है। उनका मानना था कि वह अद्वितीय पदार्थ जो निरपेक्ष है, अगोचर है, अपरिमित है और नानात्व से परे है, वही परम सत्य है। परम सत्य के अतिरिक्त वह परम कल्याण है। परम कल्याण के रूप में वह सुंदर है।
2. आत्मा को सूफी साधक ईश्वर का अंग मानते हैं। वह सत्य प्रकाश का अभिन्न अंग है परंतु मनुष्य के शरीर में उनका अस्तित्व खो जाता है। आत्मा में पांच बाह्य तथा पांच आंतरिक तत्व हैं, जिनका संबंध शाश्वत ज्योति से है। सूफी साधकों की दृष्टि में आत्मा में दो गुण प्रधान होते हैं– 'नफस' तथा 'रुह'। 'नफस' सभी अवगुणों, गर्त, अज्ञानता, क्रोध, काम, मद का स्रोत है। 'रुह' ईश्वर के निवास का स्थान है।
3. परमात्मा ने हीकतुल मुहम्मदिया पर दृष्टि डाली तब गलकर वह सूर्य, चंद्र, बुद्ध, मंगल, बृहस्पति, शनि तथा नक्षत्र गण के रूप में उत्पन्न हुई। 'नुरुह' मुहम्मदिया पर दृष्टि डालने से अग्नि, हवा, जल और पृथ्वी का निर्माण हुआ।
4. पूर्ण मनुष्य वह है जो परमात्मा के साथ एकत्व की पूर्ण अनुभूति प्राप्त कर चुका है।
5. पैगम्बर मुहम्मद ने अल्लाह के समक्ष आत्मसमर्पण की शिक्षा दी तथा सूफीवाद ने मुर्शीद अथवा आध्यात्मिक गुरु के समक्ष आत्मसमर्पण पर विशेष बल दिया।
6. प्रेम को प्रायः सभी धर्मों में परमात्मा को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है।
7. ईश्वर की एकरूपता में विश्वास।
8. भौतिक जीवन का त्याग करने में उनका विश्वास था।
9. वे शांति और अहिंसा के सिद्धांतों को स्वीकार करते थे। उन्होंने अपने धर्म का प्रचार शांति और अहिंसा के आधार पर किया।
10. सूफी संतों में धार्मिक कट्टरता नहीं थी। उनका दृष्टिकोण उदार था। वे सभी धर्मों को समान समझते थे।
11. सूफियों को मानव–मात्र के प्रति प्रेम उत्पन्न करने में अगाध श्रद्धा थी।

सूफी मत की दार्शनिक व्याख्या

सूफी मत मूलतः दार्शनिक व्याख्या पर टिका है। सूफी लोगों ने इस्लाम की कट्टरता को भूलकर रहस्यवाद की आंतरिक गहराई से समझौता किया साथ ही उन्होंने इस्लाम के कुरान तथा 'सुन्नत' के भीतर से अपना रास्ता निकाला था। ये सत्य है कि उनके मार्ग व दिशा (तरीका) हमेशा शरीयत से मेल नहीं खाते थे। सूफी अपने उद्देश्य के प्रति अत्यधिक सजग थे, क्योंकि वे किसी नए धर्म की स्थापना नहीं करना चाहते थे किंतु एक नवीन आंदोलन की भूमिका जरूर तैयार कर रहे थे।

इस्लाम में रहस्यवाद की भावना को 'सूफी मत' कहा गया है। 'रहस्य' की भावना प्रत्येक धर्म में पाई जाती है। रहस्यवाद का आधार परम ब्रह्म की सर्वव्यापकता

टिप्पणी

है। जब उपासक या भक्त सृष्टि के कण–कण में उस ब्रह्म के रूप को देखता है तब रहस्य भावना का जन्म होता है।

सूफी व्यक्ति को साधारणतया ब्रह्म ज्ञानी तथा अध्यात्मवादी माना जाता रहा है। इसे मुस्लिम रहस्यवादी आंदोलन भी पुकारा गया है क्योंकि इसने इस्लाम के ब्रह्म स्वरूप अथवा क्रिया–कलापों, धार्मिक यात्राओं पर बल नहीं दिया अपितु आंतरिक प्रेरणा, सदाचार, मानवता, ईश्वर के प्रति प्रेम आदि पर बल दिया और इस प्रकार धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को पहचानने और उसके अनुसार कार्य करने को ही धर्म का पालन करना माना।

सूफी दर्शन केवल एक ईश्वर में विश्वास करता है तथा सभी पदार्थों एवं व्यक्तियों को उस ईश्वर में मानता है। उनके अनुसार, 'ईश्वर एक है।' 'सभी कुछ ईश्वर में ही है, उसके बाहर कुछ नहीं।' और सभी कुछ त्याग कर प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। वे सांसारिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक मानते थे। वे ईश्वर को दयावान और उदार मानते थे। लालच को मनुष्य का मुख्य शत्रु मानकर वे तप, साधना और निरंतर ईश्वर का नाम लेने में विश्वास करते थे। संगीत और गायन को वे ईश्वर का नाम लेने में सहायक मानते थे और भावविभोर होकर वे नाचते–गाते थे।

10वीं सदी तक इस्लामी जगत में सूफीवाद दूर–दूर तक फैल चुका था। इस बीच दार्शनिक विचार पंथों अथवा सिलसिलों का उदय एवं कई सूफियों द्वारा स्थापित 'खानकाहो' अथवा धर्मसभाओं का गठन आदि परंपराएं मजबूती से जड़ पकड़ चुके थे। 'खानाकाहो' के गठन एवं व्यवहारों के निर्धारण में बौद्ध एवं ईसाई मठीय तंत्रों के संगठन ने एक निश्चित भूमिका निभाई।

सूफी सिलसिले दो समूहों में विभक्त थे– बा–शर और बे–शर।

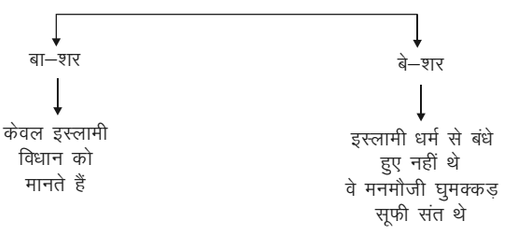

चिश्ती संत सादगी, गरीबी, नम्रता एवं ईश्वर के प्रति निःस्वार्थ भक्ति के जीवन पर जोर देते थे। उनका मानना था इंद्रियों का नियंत्रण आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है। इसी प्रयोजन से वे तपोभ्यास करते थे। जैसे उपवास रखना, सांस रोकना आदि।

चिश्ती संत मुक्त रूप से हिंदू और जैन योगियों से मिलते रहते थे एवं विभिन्न विषयों पर वार्तालाप करते थे। सूफी संत हिंदू धर्म की शक्ति से पूर्णतः परिचित थे। उनका कहना था "ओ, तुममें से जो लोग हिंदू की मूर्तिपूजा का उपहास करते हैं, उनसे यह भी सीखें कि पूजा कैसे की जाती है।"

निजामुद्दीन औलिया ने एक बार अमीर खुसरो से कहा– "हरेक समुदाय का अपना मार्ग और धर्म होता है एवं अपनी अलग पूजा पद्धति।"

टिप्पणी

संक्षेप में सूफी संतों ने अपनी दार्शनिक विचारधारा से नए–नए धरातल की पृष्ठभूमि का निर्माण किया और एक ऐसे समाज की कल्पना की, जिससे हर वर्ग के लोग अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण अवसर पा सके। सूफियों के उदार विचारों ने समय की वास्तविकता को धार्मिक औचित्य प्रदान किया।

भारत में लोकप्रिय सूफी सिलसिले

भिन्न–भिन्न देशों में विकसित होता हुआ सूफीयत भारत में आया। इसने इस्लाम को अधिक प्रभावित किया। 'आइने अकबरी' में अबुल फजल ने चौदह सूफी सिलसिलों का उल्लेख किया है। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी कादिरी और नक्शबंदी अधिक प्रसिद्ध रहे।

भारत में लोकप्रिय सूफी सिलसिले

सिलसिला	संस्थापक	सूफी संत
1. चिश्ती	ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (1192) अजमेर	कुतुबुद्दीन बख्तयार की बाबा फरीद (गज ए शंकर) निजामुद्दीन औलिया शेख सलीम चिश्ती, शेख नसीरुद्दीन महमूद (चिराग–ए–दिल्ली) शेख हुसैनी (गेसुदराज)
2. सुहरावर्दी	जलालुद्दीन तबरीजी (बंगाल) बहाउद्दीन जकारिया (मुल्तान)	हमीउद्दीन नागोरी, सदरुद्दीन शेख रुकनुद्दीन, अब्दुल फतह
3. कादिरी	सैयद मुहम्मद गिलानी	मियामीर दाराशिकोह अब्दुल कादिर द्वितीय, शेख अब्दुल
4. सत्तारी	शाह अब्दुल्ला (जौनपुर मालवा)	मुहम्मद गौस (ग्वालियर) बाजी अबर्सन, सैयद अली हमदानी
5. कुब्रविया	नज्मुद्दीन अल कुबरा (कश्मीर)	सैयद अली हमदानी
6. नक्शबंदी	ख्वाजा वली विल्लाह	शेख अहमद सरहिंदी, अहमद फारुखी

भारतीय समाज में सूफी मत का योगदान

मध्ययुगीन भारतीय समाज में सूफी संतों का योगदान महत्वपूर्ण था। दो विपरीत संस्कृति के संघर्ष के समय सूफी संतों ने समन्वय एवं सहिष्णुता की भावना का प्रचार किया। समाज सेवा के माध्यम से उन्होंने व्यावहारिक रूप दिया और उसे परमात्मा की सेवा का एकमात्र साधन बताया।

हिंदू क्रियाओं को अपनाकर उन्होंने संदेश दिया कि इस्लाम की कट्टरता से निकलकर वे नवनिर्माण के समर्थक थे। उन्होंने समाजसेवा, सद्व्यवहार, क्षमता, उदारता, सहिष्णुता की भावना पर जोर दिया।

सुल्तानों के रूढ़िवादी एवं कट्टरता के सिद्धांत भी संतों को मान्य नहीं थे। अनेक प्रलोभन एवं बल प्रयोग भी उनके विचारों को परिवर्तित नहीं कर पाए।

हमने साधारण जीवन एवं जनता के करीब रहकर उनकी भावनाओं और समस्याओं को समझने का प्रयास किया जिससे शासक वर्ग सदैव से ही दूर रहे। इस प्रकार शासकों के हृदय में प्रजा हित की भावना जगाई। सर यदुनाथ सरकार का मत

टिप्पणी

है "भक्ति आंदोलन और सूफी संतों ने विजेता एवं विजित दोनों को समीप ला दिया था।"

संक्षेप में संपूर्ण मानवता को सूफियों ने दिव्य प्रेम की आड़ में विश्व प्रेम का पाठ पढ़ाया। प्रो. रशीद के शब्दों में "राष्ट्रीय संगठन की भावना को जाग्रत करने में सूफी संतों का महत्वपूर्ण योगदान है।"

5.2.5 सिख धर्म

संस्कृत में सिख शब्द का तात्पर्य 'शिष्य' से है अतः सिख धर्म शिष्यों का धर्म कहा जाता है। इसके प्रवर्तक गुरु नानक देव जी हैं।

गुरु नानक जी का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था, जबकि जनसाधारण धर्म के वास्तविक स्वरूप व प्रयोजन को भुलाकर बाह्य मिथ्या आडम्बरों एवं अंधविश्वासों में भ्रमित था लेकिन समाज का एक विशिष्ट वर्ग जाग्रत हो रहा था जिसके मन में तरह–तरह के प्रश्न उठने लगे थे। ऐसे ही जागरूकता की बेला में मुगलों के शासनकाल में भारतीय धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए भक्ति की लहर दौड़ गई। इस काल में नानक जी ने प्रेमपूर्ण अमृत वचनों से भक्तिधारा को संपूर्ण पंजाब में प्रवाहित करते हुए परिवर्तन की प्रक्रिया को गति प्रदान की।

इस प्रकार सिखों का इतिहास गुरु नानक से प्रारंभ होकर लगभग 200 वर्षों तक दस गुरुओं द्वारा उत्तरोत्तर विकास होता रहा। गुरु गोविंद सिंह की मृत्यु से इसमें विराम लगता है। इन दो सौ वर्षों की अवधि में सिख विचारधारा ने बहुत कुछ धर्म के रूप में अपना विकास कर लिया। यह कालावधि सिख विचारधारा के विकास के लिए विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण रही। गुरु अर्जुन देव द्वारा हस्तलिखित ग्रंथों का संकलन करना एवं गुरु गोविंद द्वारा खालसा पंथ का निर्माण करना, सिख धर्म को जीवनदान देने में इसका प्रमुख योगदान रहा।

नानक एवं सिख विचारधारा

गुरु नानक का सच्चे प्रभु में विश्वास था। वे उसके नाम की भक्ति और गुरु के उपदेश की आवश्यकता पर जोर देते थे। नानक के अनुसार, "प्रभु एक है। वह सत्य है। जगन्नियन्ता, अभय और शत्रुतारहित है, अमर, अजन्मा, और निराकार है।" सृष्टि के आदि में वह "एक" था, अब भी वह एक है। हे नानक सदा 'वह' एक ही रहेगा नानक प्रभु के एकल पर जोर देते थे और कहा करते थे कि कोई प्रभु के समान नहीं हो सकता, वह अनुपमेय है। ईश्वर विष्णु और ब्रह्मा से भी ऊंचा और शिव से भी अधिक शक्तिशाली राम और कृष्ण का रचयिता है। वह सर्वव्यापी और दयालु है। नानक के शब्दों में– "जो ज्योति सृष्टि में है वह तेरी ही है, प्रकाश के देवता तेरी ज्योति से ही सब जगमगाता है।"

प्रभु सर्वव्यापक है इसलिए मूर्ति–पूजा की कोई आवश्यकता नहीं। उनके अनुसार, अपने आपको मिटा दो ताकि तुम्हें ईश्वर मिल सके। उन्होंने गुरु का महत्व बताते हुए कहा है– "कोई कितना भी तर्क करे, गुरु के बिना प्रभु नहीं मिल सकता है।"

नानक कर्म पर जोर देते हैं। जयश्री में कहा है "शब्दों से कोई पापी या संत नहीं बनता। भाग्य की पुस्तक में तो केवल कर्म ही लिखा है जो हम बोते हैं वही काटते हैं।

टिप्पणी

इसलिए हे नानक अपने को बचा लो या आवागमन के चक्कर में सदा के लिए फंसा रह।"

नानक जाति–पांति का खंडन करते थे। उनके अनुसार, जाति भी मूर्खता है और नाम भी मूर्खता है, न कोई हिंदू है न मुसलमान है।"

गुरु नानक के अन्य उपदेश इस प्रकार थे–

"नम्र बनो, घमंड को छोड़ो, मन पर संयम रखो, प्रभु को याद रखो, सच्चे बनो, जागरूक रहो, पंच प्रमादों से बचो, संतोष रखो।"

गुरु नानक पर इस्लाम का बड़ा प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है। वाणी और विचारों से प्रकट है वह सूफी दार्शनिकता में ओत–प्रोत था।

गुरु नानक एक क्रांतिकारी संत थे जिनका ध्येय जिस समाज में उनका जन्म हुआ, उसके सारे विधि–विधान को उलट–पलटकर देना, सामाजिक असंतोष पैदा करके पुराने समाज के भग्नावशेषों पर एक नए समाज का निर्माण करना था। उन्होंने लंगर प्रथा चलाई जिसमें सब वर्गों के मनुष्य बिना भेदभाव के एक साथ बैठकर भोजन करते थे। उन्होंने हिंदू धर्म के मुख्य अंग संन्यास आश्रम का भी खंडन किया है। वे व्रत उपवास को अधिक महत्व नहीं देते थे।

उनके उपदेशों और उनके उत्तराधिकारियों की क्रियाशैली के परिणामस्वरूप सिख पंथ के रूप में एक नए मत का जन्म हुआ।

गुरु नानक द्वारा स्थापित सीधे और सरल धर्म को कालान्तर में उनके उत्तराधिकारियों ने एक अलग सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया। वैसे तो गुरु गोविंद के बाद गुरु प्रथा समाप्त हो गई थी किंतु सिख धर्म के अनुयायी गुरु नानक को प्रथम और 'गुरुग्रंथ साहिब' को अंतिम गुरु स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रारंभिक सभी गुरुओं की आत्मा आदिग्रंथ में निहित है और इसलिए श्रद्धापूर्वक वे इसे 'गुरु ग्रंथ साहिब' के नाम से उच्चारित करते हैं।

डॉ. जे.डी. कनिंघम ने लिखा है कि सिख धर्म के संस्थापक गुरुनानक देव जी (1469–1538 ई.) के अतिरिक्त इस धर्म के विकास में काल क्रमानुसार अन्य गुरुओं ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया–

	गुरु	काल
1.	गुरुनानक	1469–1538
2.	गुरु अंगददेव	1538–1552
3.	गुरु अमरदास	1552–1574
4.	गुरु रामदास	1574–1581
5.	गुरु अर्जुनदेव	1581–1606
6.	गुरु हरगोविंद सिंह	1606–1645
7.	गुरु हरराय	1645–1661
8.	गुरु हरिकृष्ण	1661–1664
9.	गुरु तेगबहादुर	1664–1675
10.	गुरु गोविंद सिंह	1675–1708

सिख धर्म की विकास श्रृंखला में इन गुरुओं की भूमिकाओं को सारांश रूप में जोधसिंह ने लिखा– "विद्या, सेवा, लंगर आदि का प्रचार गुरु अंगददेव जी, गुरु अमरदास व गुरु रामदास ने जीवन पर्यंत किया। गुरु रामदास ने अमृतसर जैसा महान धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगर बसाया।" और सब प्रकार के नागरिक उनकी प्रेरणा से वहां बसे। गुरु अर्जुनदेव जी ने सब भक्तों एवं गुरुजनों की पवित्र वाणियों को आदि ग्रंथ के रूप में संकलित कर एक अपूर्व कार्य किया तथा बिना किसी जाति भेद के प्रांतीय पक्षपात से रहित होकर कबीर, फरीद, नामदेव, रामानंद सेन जी विलोचन, जयदेव, साधना मीरा आदि महान संतों की कल्याणकारी वाणियों का आदर करना सिख समाज एवं भारतीय जनता को सिखाया। गुरु अर्जुन देव के समय तक उनके शिष्यों में गुरु नानक देव के सिद्धांत पैठ चुके थे। ऐसा तत्कालीन महान विद्वान भाई गुरुदास ने अपने पदों में भी बताया है।

'गुरु ग्रंथ' साहिब सिख धर्म की एक पवित्र पुस्तक है। यह 1430 पृष्ठों की है। इस महान ग्रंथ में पांचवें गुरु अर्जुनदेव का मुख्य उद्देश्य सर्वधर्म सद्भावना को स्थापित करना था। इसमें छः सिख गुरुओं की वाणियों के अतिरिक्त उस समय भारत के सभी संप्रदाय के महान संत, महात्माओं की अमृत वाणियां भी संगृहीत हैं।

1. जे.डी. कनिंघम – हिस्ट्री ऑफ द सिखिज्म – पृ. 48

तीसरे गुरु अमरदास स्पष्ट शब्दों में ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, "सारा जगत वैमनस्य, हिंसा, घृणा की अग्नि से जल रहा है। ईश्वर कृपापूर्वक जिस भी धर्म के माध्यम से यह जगत छल–कपट घृणा की अग्नि से उबर सके, इस संसार का उद्धार करो।" यहां स्पष्ट है कि गुरु अमरदास किसी एक विशेष धर्म पर जोर नहीं देते। वे तो सब धर्मों के विकसित रूप में अपनी वाणी सामने लाते हैं।

परमात्मा के नाम का स्मरण, मेहनत की कमाई पर जीविका–निर्वाह तथा स्वउपार्जित वस्तुओं को जरूरतमंद व्यक्तियों में बांटकर खाना आदि सिख जीवन के प्रमुख सिद्धांत हैं।

वास्तव में हिंदुओं और सिखों की चिंतन दृष्टि में कोई अंतर नहीं है। भारतीय संस्कृति के दस सर्वमान्य लक्षणों को सिखों ने मान्यता प्रदान की है–

1. परमात्मा अर्थात एक सर्वव्यापक शक्ति पर विश्वास।
2. परमात्मा के अतिरिक्त, जीवनशक्ति में विश्वास, जिसे आत्म तत्व भी कहते हैं।
3. आत्मा की अमरता में विश्वास।
4. जीवात्मा कर्मानुसार अच्छा या बुरा शरीर धारण करती है।
5. व्यवहार अर्थात स्वभाव से मनुष्य–समाज चार प्रकार का है जिसे चार वर्ण कहा जाता है।
6. विद्वानों के प्रति श्रद्धा।
7. राष्ट्र की कल्पना।
8. आत्मना प्रतिकूलाग्नि परबों न समाचरेत।

'अर्थात आत्मा के प्रतिकूल दूसरों के साथ आचरण नहीं करना चाहिए'।

टिप्पणी

9. परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दृष्कृताम् अर्थात सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों के संहार और पुनर्स्थापना के लिए ईश्वर बार–बार अवतार लेता है।
10. योगक्षेम अर्थात दूसरों की कुशलता।

सभी सिख गुरुओं की मान्यताएं भी उपर्युक्त दस सर्वमान्य लक्षणों के समान हैं। "गुरुग्रंथ साहिब में 1. परमात्मा को माना गया है। 2. मानव मात्र में जीवात्मा को माना गया है 3. जीवात्मा कर्मफल पाता है। अच्छे कर्मों से श्रेष्ठ योनियों में और बुरे कर्मों से नीच योनियों में जन्म लेने की बात भी सिखों में मानी जाती है।

सिख गुरुओं की यह सामान्य राय थी कि प्राणीमात्र को यदि कोई भवसागर के पार कर सकता है तो वह सद्गुरु ही हैं। गुरु नानक ने लिखा है–

"एतु माहि डूबा संसार,
गुरुमुख कोई उतरे पारि"

अर्थात कोई सच्चे गुरु का शिष्य ही माया के बंधन काटने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।

गुरु अर्जुन की भी मान्यता है–

"उन सब जग साइआ
हम गुरि राखे मेरे भाई"

गुरु ही जीव को सत्पथ दिखाता है। गुरुविहीन जीव सत्पथ का उचित निर्देश न होने के कारण कर्मकांड एवं बाह्याडम्बरों में फंस जाता है। ये आडम्बर और कर्मकांड उसे माया के बंधन से छुटकारा नहीं दिलवा पाते अतः व्यक्ति बार–बार जन्म लेने के लिए बाध्य होता है।

सिख विचारधारा में 'जाप' मुक्ति का दूसरा साधन है। 'वाहेगुरु' उच्चकोटि की शक्ति है, नाम धन जीव की आध्यात्मिक संपदा है। जहां अज्ञानी लोग मार्ग में भटक जाते हैं वहां नाम का जाप करने वाली शुद्धात्माएं मार्ग की समस्त बाधाओं को पार कर सत्पुरुष की गोद में पहुंच जाती हैं। सिख गुरुओं की मान्यता है कि "सोना, चांदी आदि सब मिट्टी में मिल जाएंगे और केवल सद्गुरु प्रदत्त नाम की दौलत ही जीत का अंत तक साथ देगी। जो नाम के रंग में रंग गए वे ही निर्मल हैं और परम निर्मल सत्य में लीन होने का अधिकार रखते हैं।"

सिख गुरुओं ने मन की शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। उनकी मान्यता है कि मन की शुद्धि के बिना माया के बंधन से जीव का छुटकारा संभव नहीं है। तीर्थ–यात्रा, पुण्य कर्म, दान–पूजा, भक्ति आदि सब निरर्थक हैं। यदि मन में बुराई हो और आप भक्ति का ढोंग रचते रहे, तब मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अतः मन की शुद्धि अत्यंत आवश्यक है। अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से दसवें गुरु गोविंद सिंह ने भी सर्वत्र मन को जीतने का संदेश दिया है। उनकी धारणा है कि बेकार कर्म करने वाले तो नरक जाएंगे ही क्योंकि मात्र हाथ हिलाने से तो स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो जाती। उसके लिए तो मन का जीतना परम आवश्यक होता है।

पूर्व जन्मों के कर्मों से यदि किसी व्यक्ति को अकाल पुरुष की कृपा मिल जाती है तो वह माया के बंधनों से मुक्त हो जाता है। प्रभु के सम्मुख माया अशक्त है। और

चाहकर भी वह जीव को पथभ्रष्ट नहीं कर सकती। गुरु की कृपा के उपरांत यदि ईश्वर की कृपा न भी हो तो भी जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भारतीय संस्कृति में सत्संग को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसमें मानव के सद्‌गुणों का विकास होता है और बुराइयों का नाश होता है। चाणक्य का भी मत है कि सत्संग से दुष्ट और दुर्जन पुरुषों में भी सज्जनता आ जाती है।

गुरु नानक ने भी लिखा है– "तू संतों के पास जा, उसके दर्शन मात्र से ही तुझे अड़सठ तीर्थों की यात्रा का फल उपलब्ध होगा।" गुरुओं ने सिखों को सत्संग का व्यवहारिक रूप समझाने के लिए जो संस्थाएं बनाईं, वे थीं– 'लंगर' पंगत और संगत'।

समाजवाद में सिख समाज के आंतरिक विधि–विधानों को देखते हुए सादगी और सरलता का स्पष्ट संकेत मिलता है। सामाजिक कार्यकलाप सुधारवादी परंपरा को जन्म देता है। सिख धर्म में एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि इसमें जन्म मृत्यु पर कोई विशेष संस्कार या कर्मकांड का विधान नहीं है। हर अवसर पर गुरुवाणी के गायन से ही प्रत्येक कार्य को आरंभ किया जाता है। खुशी में भी कीर्तन गम में भी कीर्तन। कर्मकांड और मूर्तिपूजा का कोई विधान नहीं। तृप्त आदि के बारे में भी स्पष्ट निर्देश है कि तृप्त आदि करना व्यर्थ ही देह का दुख देना है, सच्चे गुरु के बिना ज्ञान की तृप्ति संभव नहीं है।

'अन्न न खाई देही दुःख दीजै।
बिना गुरु ज्ञान तृप्त नहीं कीजै।'

रामकली महला पृ. 312

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सिख गुरुओं के धार्मिक उपदेशों का आधार भी भारतीय संस्कृति का मूलाभूत सिद्धांत है जिसके माध्यम से वे जनसमुदाय को बिना किसी भेदभाव के लिए मोक्ष के लिए प्रेरित करते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'चिश्ती' सिलसिले के संस्थापक थे–

   (क) मुइनुद्दीन चिश्ती (ख) बहाउद्दीन

   (ग) वली विल्लाह (घ) अहमद फारुखी

2. 'सिख धर्म के प्रवर्तक हैं–

   (क) बंदाबहादुर (ख) गुरु गोविंद सिंह

   (ग) अर्जुन देव (घ) गुरु नानक

3. आईना–ए–अकबरी में सूफी मत की कितनी शाखाओं का वर्णन है?

   (क) दस (ख) बारह

   (ग) चौदह (घ) सोलह

5.3 धार्मिक सुधार एवं पुनरुत्थानवाद–ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज एवं आर्य समाज, देवबंद, अलीगढ़ व सिंह सभा आंदोलन

"पुनर्जागरण के बिना कोई धर्म–सुधार संभव नहीं है।" – हीगल

अंग्रेजी राज का जो प्रभाव भारतीय समाज पर हुआ वह उन सभी प्रभावों से भिन्न था जो उस समय तक भारत पर हुए थे। विदेशी आक्रांताओं ने भारतीयों को अनेक बार हराया तथा कई विदेशियों ने भारत पर राज किया था। परंतु भारत ने कभी भी आत्मविश्वास नहीं खोया था और उसे सदैव यह आंतरिक विश्वास था कि उसकी सभ्यता तथा संस्कृति इन विदेशी शासकों की संस्कृति से उत्तम है। प्रायः ऐसा हुआ कि जो भी विदेशी भारत में बस गए उन्होंने भारतीय धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता को अपना लिया तथा वे भारतीय समाज का अभिन्न अंग बन गए तथा उन्हीं में पूर्ण रूप से समा गए।

परंतु अंग्रेजी आक्रांता तो पूर्णरूप से भिन्न थे। 18वीं शताब्दी में यूरोप में एक नवीन बौद्धिक लहर चल रही थी जिसके फलस्वरूप एक 'जाग्रति के युग' का सूत्रपात हुआ। तर्कवाद तथा अन्वेषणा की भावना ने यूरोपीय समाज को एक प्रगति प्रदान की। विज्ञान तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी पक्षों को प्रभावित किया और अब यूरोप सभ्यता का अग्रणी महाद्वीप था। उसके विपरीत भारत एक निश्चल, निष्प्राण तथा गिरते हुए समाज का चित्र प्रस्तुत करता था। तो इस प्रकार भारत का एक ऐसे आक्रान्ता से सामना हुआ जो न केवल रंग में श्वेत था अपितु अपने आप को सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से अधिक उत्तम समझता था और संभवतः था भी।

कुछ समय तक तो ऐसा लगा कि जैसे भारत पश्चिमी विचारों तथा मूल्यों से पूर्ण रूप से पराजित हो जाएगा। ऐसा लगता था जैसे कि भारत संसार में सभ्यता की दौड़ में बहुत पिछड़ गया है। इसकी प्रतिक्रिया हुई। कुछ अधिक परिपक्व व्यक्ति जिनके नेता श्री राजा राममोहन राय थे, भी पाश्चात्य विचारों से प्रभावित हुए परंतु उन्होंने हिंदू धर्म तथा समाज से नाता तोड़ने से इंकार कर दिया। इनका विचार था कि हिंदू धर्म व समाज में सुधार होना चाहिए और हमें पूर्व तथा पश्चिम के उत्तम विचारों को स्वीकार कर लेना चाहिए। परंतु तीसरा एक ऐसा वर्ग भी था जो पाश्चात्य संस्कृति की श्रेष्ठता को स्वीकार करने को तत्पर नहीं था। वह भारत को यूरोप की प्राचीन परंपरा से आधुनिक राष्ट्रवाद के प्रकाश में प्रेरणा लेना चाहता था। यह नवीन हिंदू धर्म (New Hinduism) यह कहता था कि यूरोप को भारतीय अध्यात्मवाद से बहुत कुछ सीखना है।

यह नवीन पाश्चात्य शिक्षित वर्ग तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से बहुत प्रभावित हुआ। इसने भारतीय नेताओं को सुधारने का प्रयत्न किया और अंधविश्वास, मूर्तिपूजा तथा तीर्थयात्रा इत्यादि को तर्क के तराजू में तौलकर धर्म में सुधार किया।

इस प्रकार एक नई 'धर्म निरपेक्षता' की प्रवृत्ति ने जन्म लिया। इसके अनुसार धर्म को तर्क के दंड से मापा जाने लगा और निजी धर्म में जो भी असंगतियां थीं उन्हें छोड़ा जाने लगा और प्रयत्न यह किया कि जो परंपरागत विश्वास है या तो उन्हें बदला जाए या उनके लिए कोई तर्कसंगत कारण खोजा जाए। इस प्रकार छुआछूत का विचार जो

टिप्पणी

हिंदू धर्म का अभिन्न अंग था, छोड़ दिया गया। इसी प्रकार कुछ शाक–सब्जियों जिन्हें अपवित्र समझा जाता था जैसे कि प्याज, लहसुन, चुकंदर, टमाटर, अदरक इत्यादि के विषय में समाज के विचारों में परिवर्तन आया। इसी प्रकार समाज के दैनिक कर्मकांडों में भी परिवर्तन आए।

शहरीकरण तथा आधुनिकीकरण ने तथा रेलों के प्रचलन ने लोगों के खाने, पीने, छुआछूत इत्यादि बहुत से विचारों को प्रभावित किया। इन नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में एक प्रसार की भावना उत्पन्न की। संस्कृत के अध्ययन तथा मुद्रणालयों (Printing Press) के विस्तार के कारण लोगों ने वे पुस्तकें भी पढ़नी आरंभ कर दीं जो पहले उनके पूर्वजों ने कभी नहीं पढ़ी थीं। इस ज्ञान के विस्तार के कारण भारत में पुनर्जागरण की भावना आई। भारतीय बुद्धिजीवियों ने देश के भूतकाल को परखने का प्रयत्न किया और यह देखा कि हिंदू धर्म के बहुत से विश्वास तथा रीति–रिवाज न केवल गलत हैं अपितु उन्हें मानना संभव भी नहीं है और उन्हें त्यागना ही ठीक है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी देखा कि भारत के सांस्कृतिक रिक्थ (Heritage) में कुछ ऐसे पक्ष भी हैं जिनका भारतीय पुनर्जागरण में बहुत महत्वपूर्ण तात्विक मर्म है। इन सभी के फलस्वरूप भारतीय समाज में कुछ धार्मिक व सामाजिक सुधार आंदोलन प्रारंभ हुए जिन्होंने भारतीय समाज का न केवल रूप ही बदल दिया अपितु भारत के आधुनिकीकरण में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया।

ये सुधार आंदोलन मुख्य रूप से दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं–

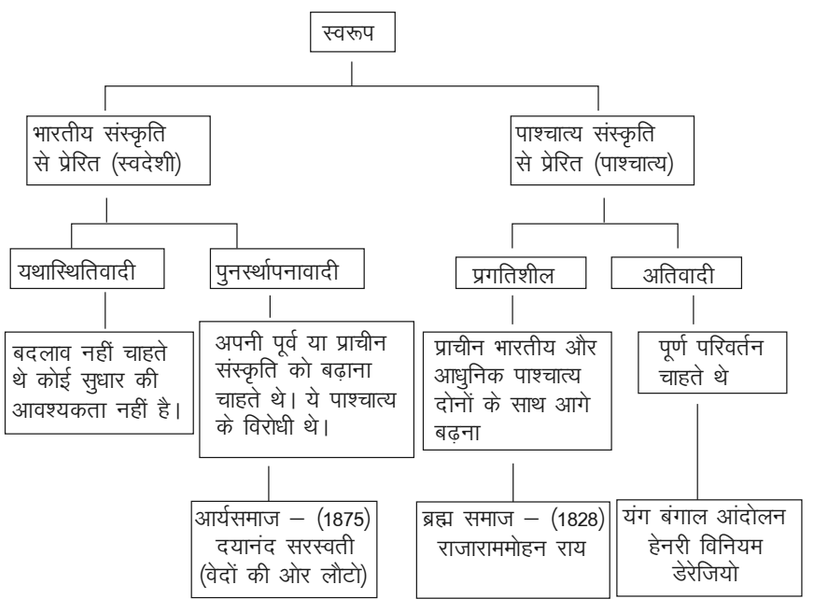

समाज सुधार के क्षेत्र में राजा राममोहन राय की भूमिका

राजा राममोहन राय (1772–1833) को भारतीय इतिहास में विशेषकर बंगाल में आधुनिक युग का अग्रदूत माना जाता है। इनका जन्म 1772 ई. में हुआ था। इनका जन्म बंगाल में राधानगर नामक स्थान पर एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रमाकांत तथा माता का नाम नारिणी देवी था। रमाकांत प्रसिद्ध व्यक्ति थे। इसलिए उन्होंने अपने पुत्र की शिक्षा का समुचित प्रबंध किया। उस युग में

टिप्पणी

फारसी राजभाषा थी। इसलिए राममोहन को फारसी और अरबी पढ़ायीं गईं। बाद में उनको संस्कृत पढ़ने के लिए वाराणसी भेजा गया। वहां उन्होंने हिंदू धर्म ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। आगे चलकर उन्होंने ग्रीक और लैटिन भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। कुछ समय बाद उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी कर ली। उन्होंने 1814 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी छोड़ दी। उन्होंने पर्याप्त धन एकत्र कर लिया था, कुछ संपत्ति उन्हें पिता से विरासत में मिली थी। उन्होंने अपना शेष जीवन चिंतन, समाज सुधार तथा लिखने–पढ़ने में बिताया।

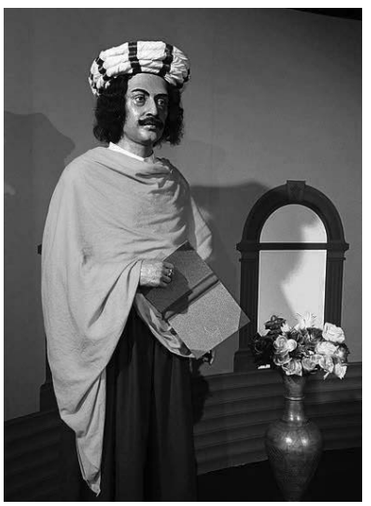

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय को प्रायः भारतीय पुनर्जागरण का जनक और आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज जो आधुनिक पाश्चात्य विचारों पर आधारित था, हिंदू धर्म का पहला सुधार आंदोलन था।

एक सुधारवादी के रूप में राजा राममोहन राय मानवीय प्रतिष्ठा के आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं सामाजिक समानता के सिद्धांत में विश्वास रखते थे। वे एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे। उन्होंने 1809 में एकेश्वरवादियों के लिए उपहार नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। अपने मत के समर्थन में उन्होंने वेदों एवं उपनिषदों के बंगाली अनुवाद लिखे तथा स्पष्ट किया कि प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्र भी एकेश्वरवाद का समर्थन करते हैं।

1814 में उन्होंने कलकत्ता में 'आत्मीय सभा' की स्थापना की तथा मूर्तिपूजा, जातिप्रथा की कठोरता, अर्थहीन रीति–रिवाजों तथा अन्य सामाजिक बुराइयों की भर्त्सना की। एकेश्वरवाद के कट्टर समर्थक राजा राममोहन राय ने स्पष्ट किया कि वे सभी धर्मों की मौलिक समानता में विश्वास रखते हैं। उन्होंने दूसरे धर्मों की उन बातों को ग्रहण किया जिन्हें वे हिंदू धर्म के योग्य समझते थे। उनके विचारानुसार मनुष्य को स्वयं धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन और रीति–रिवाजों का पालन करना चाहिए। 1820 में उन्होंने 'प्रीसेप्स ऑफ जीसस' नामक पुस्तक लिखी जिसमें वे 'न्यू टेस्टामेंट' के नैतिक एवं दार्शनिक संदेश को उसकी चमत्कारिक कहानियों से पृथक करने का राजनीतिक उत्थान करना चाहते थे तथा उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना जगाना चाहते थे।

समाज सुधार हेतु राजा राममोहन राय के प्रयास

राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का कड़ा विरोध किया। वर्ष 1818 में उन्होंने अपना सती प्रथा विरोधी अभियान आरंभ किया। सर्वप्रथम उन्होंने इस सामाजिक कुरीति के विरुद्ध जनमत तैयार करने का प्रयास प्रारंभ किया। एक ओर उन्होंने पुरातन हिंदू शास्त्रों का प्रमाण देकर धार्मिक ठेकेदारों को दिखलाया कि वे सती प्रथा की अनुमति नहीं देते। दूसरी ओर, उन्होंने लोगों को तर्कशक्ति, नैतिकता, मानवीयता तथा दयाभाव की दुहाई देकर इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने श्मशानों की यात्रा की तथा विधवाओं के रिश्तेदारों को समझा कर उन्हें सती होने से रोकने के अथक प्रयास किए। उन्होंने समान विचारों वाले व्यक्तियों की सहायता से कई ऐसे समूहों का निर्माण किया जो उन लोगों पर कड़ी निगाह रखते थे जो पुरातन अंधविश्वास या गहनों के लालच में विधवाओं को सती होने के लिए उकसाते थे। राजा राममोहन राय के अथक प्रयत्नों से इस दिशा में काफी प्रगति हुई। उन्होंने सरकार से अपील की कि इस बर्बर प्रथा को रोकने के लिए वह कड़े कानून बनाएं। इसी के पश्चात 1829 में लार्ड विलियम बैंटिक ने एक कानून बनाकर सती प्रथा को गैर–कानूनी घोषित कर दिया।

राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की हीन दशा का भी कट्टर विरोध किया। वे स्त्रियों की निम्न सामाजिक दशा तथा उनके साथ किए जा रहे भेदभाव से बहुत दुखी हुए। उन्होंने स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार देने की भी मांग की। वे स्त्रियों को शिक्षा देने, विधवा विवाह को प्रारंभ करने, सती प्रथा को समाप्त करने तथा बहु–पत्नी विवाह को गैर–कानूनी घोषित करने के पक्षधर थे।

मानव सभ्यता का आदर्श अलग–अलग रहने में नहीं बल्कि चिंतन तथा क्रिया के सभी क्षेत्रों में व्यक्तियों और राष्ट्रों के आपसी भाई–चारे में ही है।

–राजा राममोहन राय

5.3.1 ब्रह्म समाज

अगस्त 1828 में राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म सभा' का गठन किया जिसे बाद में नाम परिवर्तित कर 'ब्रह्म समाज' कहा जाने लगा। ब्रह्म समाज के अनुसार ईश्वर एक है और सभी सद्‌गुणों का केंद्र व भंडार है। परंतु परमात्मा निर्गुण एवं निराकार है। वह न कभी जन्म लेता है न कभी मरता है। वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सृष्टि का पालनकर्ता तथा अमर है, इसलिए मूर्तिपूजा अनावश्यक है। ब्रह्म समाज के भवन में किसी मूर्ति, चित्र, पेंटिंग इत्यादि की पूजा करने की अनुमति नहीं थी। वे धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन या पूजा में भी विश्वास नहीं रखते थे क्योंकि उनके अनुसार कोई भी पुस्तक त्रुटिरहित नहीं हो सकती है।

ब्रह्म समाज ने सर्व–धर्म समभाव पर बल दिया। उसके अनुसार सभी धर्मों में सत्य निहित है अतः व्यक्ति को अपने धर्म के साथ सभी धर्मों का आदर करना चाहिए। ब्रह्म समाज, नैतिकता पर बल देता था एवं कर्मफल में उसका विश्वास था। ब्रह्म समाज के समस्त कार्यों में अहिंसा का स्थान प्रमुख था। उसके सभाभवन में किसी प्रकार की जीव हिंसा नहीं हो सकती थी।

टिप्पणी

देवेंद्रनाथ टैगोर और ब्रह्म समाज– राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात इसकी बागडोर रविंद्रनाथ टैगोर के पिता महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर (1817–1905) ने संभाली। वे 1842 में ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए। देवेंद्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व में तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों एवं पाश्चात्य विचारों का सुंदर समन्वय था। उन्होंने ब्रह्म समाज को नई चेतना एवं नया स्वरूप प्रदान किया। देवेंद्रनाथ टैगोर पहले ज्ञानवर्धिनी एवं तत्वबोधिनी सभा से संबंधित थे, जिनका उद्देश्य भारत की प्राचीन सभ्यता एवं राजा राममोहन राय के विचारों का प्रसार करना था। तत्वबोधिनी सभा का 1839 में गठन किया गया था। बंगाली भाषा में एक पत्रिका 'तत्वबोधिनी पत्रिका' का प्रकाशन करती थी। इस प्रकार इन दोनों सभाओं के ब्रह्म समाज में जुड़ने से समाज में एक नई ऊर्जा व शक्ति का संचार हुआ।

केशवचंद्र सेन एवं ब्रह्म समाज– 1858 में केशवचंद्र सेन (1838–1884) द्वारा ब्रह्म समाज की सदस्यता ग्रहण करने के पश्चात देवेंद्रनाथ टैगोर ने उन्हें समाज का नया आचार्य नियुक्त किया। केशवचंद्र सेन की शक्ति, वाक्पटुता और उदारवादी विचारों ने ब्रह्म समाज को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। सेन के प्रयत्नों से शीघ्र ही इसकी शाखाएं बंगाल से बाहर संयुक्त प्रांत, बंबई, मद्रास, पंजाब में भी खुल गईं। लेकिन शीघ्र ही केशवचंद्र सेन के उदारवादी विचारों के कारण उनमें तथा देवेंद्रनाथ टैगोर में मतभेद हो गए। 1865 में सेन को आचार्य की पदवी से बर्खास्त कर दिया गया। 1866 में उन्होंने 'भारतीय ब्रह्म समाज' के नाम में एक नयी सभा का गठन किया। इसके पश्चात देवेंद्रनाथ टैगोर के ब्रह्म समाज को 'आदि ब्रह्म समाज' के नाम से जाना जाने लगा। 1878 में केशवचंद्र सेन ने अपनी 13 वर्षीय पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजा के साथ वैदिक कर्मकांडों से किया। जिसका केशवचंद्र सेन के कुछ साथियों ने कड़ा विरोध किया। इसके पश्चात केशवचंद्र सेन भारतीय ब्रह्म समाज से अलग हो गए तथा उन्होंने 'साधारण ब्रह्म समाज (1878)' की स्थापना की।

ब्रह्म समाज के उद्देश्य एवं कार्य– राजा राममोहन राय ने 20 अगस्त, 1828 ई. को ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। ब्रह्म समाज की स्थापना का उनका उद्देश्य था कि हिंदू समाज को ईसाई धर्म की शिक्षाओं के आकर्षण से बचाया जा सके। जकारिया का यह मत सही है।

"उस समय हिंदू समाज तथा भारतीय राजनीति को आधुनिक रूप देना सबसे बड़ी देश सेवा समझी जाती थी।"

राजा राममोहन राय ने यूरोपीय विचारधाराओं को समझकर उन्हें भारतीय रूप प्रदान करने का प्रयास किया। इसी आधार पर उन्होंने ब्रह्म समाज के सिद्धांतों का निर्माण किया। ब्रह्म समाज के सिद्धांत निम्न प्रकार हैं–

धार्मिक सिद्धांत–

1. इसने एकेश्वरवाद का समर्थन किया अर्थात यह कहा गया कि ईश्वर एक है। इसने द्वैतवाद का खंडन किया।
2. मूर्ति पूजा का खंडन किया था।
3. इस सिद्धांत के अनुसार यह माना गया कि ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वद्रष्टा तथा समस्त सृष्टि का पालनकर्ता है।

टिप्पणी

4. ब्रह्म समाजियों ने आत्मा को अमर माना है।
5. ईश्वर के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं। अतः सभी व्यक्ति ईश्वर की उपासना कर सकते हैं।
6. ईश्वर निर्गुण है, उसका कभी भी अवतार या जन्म नहीं होता।
7. उनका उपदेश था कि सभी धर्म समान हैं अतः सभी धर्मों को समान सम्मान दिया जाना चाहिए तथा धार्मिक ग्रंथों के प्रति श्रद्धा का भाव रखना चाहिए।
8. मनुष्यों को पाप का परित्याग कर देना चाहिए और उसे पश्चाताप करना चाहिए तभी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।
9. ईश्वर में विश्वास रखना चाहिए क्योंकि वह सभी की प्रार्थना सुनता है और उसको स्वीकार करता है।

सामाजिक सिद्धांत

1. ब्रह्म समाज को विश्व–बन्धुत्व की भावना में संपूर्ण विश्वास था।
2. ब्रह्म समाज में अंधविश्वासों, रूढ़िवादिता, जातिभेद, छुआछूत को समाप्त करने का उपदेश दिया गया।
3. विधवा विवाह का समर्थन किया गया तथा बहु–विवाह का विरोध किया था।
4. बाल–विवाह, सती प्रथा तथा भ्रूण–हत्या को समाप्त करने पर बल दिया गया।

"राजा राममोहन राय और उनका ब्रह्म समाज हिंदू धर्म, समाज और राजनीति में उन सभी सुधार आंदोलनों को आरंभ करने वाला था जिन्होंने पिछले 100 वर्षों में भारत में उत्तेजना पैदा की और जिन्होंने हमारे समय में उस अद्वितीय पुनर्जागरण को स्थापित किया।"

5.3.2 प्रार्थना समाज

प्रार्थना समाज भारतीय नवजागरण के दौर में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए स्थापित समुदाय है। इसकी स्थापना आत्माराम पांडुरंग तथा महादेव गोविंद रानाडे ने बंबई में 31 मार्च, 1867 को की।

आत्माराम पांडुरंग

टिप्पणी

महादेव गोविंद रानाडे

प्रार्थना समाज की पृष्ठभूमि 19वीं शताब्दी के प्रारंभ अथवा उससे भी पहले 18वीं शताब्दी में हुई कई घटनाओं से बन चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा का प्रवेश और ईसाई मिशनरियों के कार्य ये दो घटनाएं उस पृष्ठभूमि के निर्माण में विशेष सहायक बनीं। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से शिक्षित भारतीयों में अपने सामाजिक और आर्थिक विश्वासों तथा रीति–रिवाजों के दोषों और त्रुटियों के प्रति चेतना जगी। ईसाई मिशनरियों ने अनेकानेक लोग जिनमें विशेष रूप से हिंदुओं का धर्मपरिवर्तन करके उन्हें ईसाई बना लिया। इससे भी लोगों की आंखें खुल गई। फिर मिशनरियों ने अपनी कठोर प्रहारी आलोचना द्वारा भी धर्मपरिवर्तन के अनिच्छुक लोगों के विचारों में बड़ा परिवर्तन ला दिया। हिंदू दर्शन के उन नेताओं ने जो इन तत्वों के प्रभाव का अनुभव कर रहे थे और नवीन ज्ञान से भी परिचित हो रहे थे, सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर हिंदू समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान के कार्य का श्री गणेश किया। हिंदू विचारधारा के इन्हीं नेताओं में से कुछ ने प्रार्थना समाज की स्थापना की।

प्रार्थना समाज के आंदोलन ने राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में स्थापित 'ब्रह्म समाज (1828)' से प्रेरणा ग्रहण की और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के स्वस्थ सुधार के लिए अपनी सारी शक्ति धार्मिक शिक्षा के प्रचार में अर्पित कर दी। बंबई के पश्चात धीरे–धीरे इसका विस्तार पुणे, अहमदाबाद, सतारा और अहमदनगर आदि स्थानों में भी हुआ।

प्रार्थना समाज के प्रमुख प्रकाश–स्तंभों में आत्माराम पांडुरंग, वासुदेव बाबाजी नौरंगे, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, महादेव गोविंद रानाडे, वामन अबाजी मोदक और नारायण गणेश चंदावरकर थे। प्रार्थना समाज के आलोचकों द्वारा किए गए असत्य प्रचार के अंतर्गत यह कहा जाता था कि प्रार्थना समाज ईसाई धर्म के अनुकरण पर आधारित है और यह देश के प्राचीन धर्म के विरुद्ध है।

प्रार्थना समाज में केशवचंद्र सेन, आर.जी. भंडारकर एवं आत्माराम पाण्डुरंग एवं एम.जी. रानाडे की भूमिका

ब्रह्म विचारधारा महाराष्ट्र में भी फैली और यहां 1849 में एक परमहंस सभा आरंभ की गई। 1867 में केशव चंद्र की प्रेरणा से बम्बई में एक प्रार्थना समाज स्थापित किया गया।

परंतु इन लोगों ने अपने आप को किसी नवीन धर्म का अथवा हिंदू धर्म के बाहर अथवा साथ–साथ किसी नवीन मत के अनुयायी के रूप में नहीं माना अपितु केवल इस धर्म के अंदर ही एक आंदोलन के रूप में इसे स्वीकार किया। एक ईश्वरवाद के अतिरिक्त महाराष्ट्र में समाज सुधार 'कार्य न कि विश्वास' पर ही बल दिया गया। उनका विश्वास था कि ईश्वर का सच्चा प्यार उसके मनुष्यों की सेवा में ही है। वे हिंदू रूढ़िवादियों से टक्कर नहीं लेना चाहते थे अपितु शिक्षा तथा समझाने–बुझाने पर बल देते थे।

समाज सुधार में उनके चार प्रमुख उद्देश्य–

(i) जाति–पांति का विरोध

(ii) विधवा पुनर्विवाह

(iii) पुरुषों तथा स्त्रियों की विवाह की आयु को बढ़ाना

(iv) स्त्री शिक्षा

प्रार्थना समाज और रामकृष्ण गोपाल भंडारकर

विश्वप्रसिद्ध भारतविद् और संस्कृतवादी रामकृष्ण गोपाल भंडारकर प्रार्थना समाज के प्रमुख विचारक भी थे। जो पश्चिम भारत में आने वाला पहला प्रमुख आधुनिक सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलन था। उनके मित्र न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे (1842–1901) प्रार्थना समाज के धर्मशास्त्र और दर्शन के एक और महान प्रतिपादक थे और उनके नाम महाराष्ट्र के उत्थान में दो उत्कृष्ट शख्सियतों के रूप में एक साथ जुड़े हुए हैं।

जाति और रीति–रिवाजों के अत्याचार के कारण हुए कहर के प्रति गहराई से संवेदनशील, भंडारकर का दृढ़ विश्वास था कि यह केवल राजनीति नहीं थी जैसा कि उनके कुछ समकालीनों ने माना था बल्कि धार्मिक और सामाजिक सुधारों के द्वारा भारत को अपनी दयनीय सामाजिक स्थिति से मुक्त किया जा सकता था। भंडारकर ने पश्चिमी भारत में जिस स्कूल ऑफ रिफॉर्म का प्रतिनिधित्व किया वह राजा राममोहन राय से प्रेरित था, जिसे आमतौर पर "आधुनिक भारत के पिता" के रूप में जाना जाता है।

भंडारकर के सामाजिक और धार्मिक विचारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले रचनात्मक प्रभाव में सबसे महत्वपूर्ण परमहंस सभा के साथ उनका प्रारंभिक अनुभव था। यद्यपि 31 मार्च, 1867 को प्रार्थना समाज की स्थापना के समय न तो भंडारकर और न ही रानाडे शारीरिक रूप से मौजूद थे लेकिन उन्होंने 1873 में प्रार्थना समाज के पंथ और 'छह कार्डिनल सिद्धांतों' को तैयार करने में मुख्य रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। ऐसा करने में उन्होंने ब्रह्म समाज के मूल सिद्धांत अपनाए लेकिन उन्हें संशोधित किया ताकि उनके संगठन को अपनी एक अलग पहचान मिल सके।

प्रार्थना समाज के सिद्धांत मूर्ति पूजा को खारिज करने और बिना रूप के एक ईश्वर की आध्यात्मिक पूजा की वकालत करने में उस समय के लोकप्रिय हिंदू धर्म से भिन्न थे। इसने अर्थहीन धार्मिक संस्कारों और दृश्य बलिदान द्वारा प्रायश्चित का विरोध किया जो कि लोकप्रिय हिंदू धर्म की अनिवार्य विशेषता बन गई थी।

टिप्पणी

प्रार्थना समाज और आत्माराम पाण्डुरंग

आत्माराम पांडुरंग या आत्माराम पांडुरंग तुरखडेकर (1823–1898) एक भारतीय चिकित्सक और समाज सुधारक थे जिन्होंने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की और बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी के दो भारतीय सह–संपादकों में से एक (अन्य सखाराम अर्जुन) थे। ग्रांट मेडिकल कॉलेज के स्नातक वे दादोबा पांडुरंग के भाई थे जो संस्कृत और मराठी के विद्वान थे।

"प्रार्थना समाज" महाराष्ट्र में धार्मिक और सामाजिक सुधार के लिए एक आंदोलन था जिसे 1867 में स्थापित किया गया था। यह ब्रह्म समाज की एक शाखा थी। इसके पीछे सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, नारायण चंदावरकर और जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे थे। इसने समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रणालियों और धार्मिक विश्वासों के बीच संबंधों की गंभीरता से जांच की और सामाजिक सुधारों को प्राथमिकता दी। इसकी स्थापना के समय समाज की जातिव्यवस्था को खुले तौर पर नकारना, विधवा–पुनर्विवाह शुरू करना, महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करना, बाल विवाह को समाप्त करना इसके प्रमुख उद्देश्य थे। आत्माराम पांडुरंग एक आस्तिक सुधारक थे। जिन्होंने बाल विवाह सहित कई हिंदू परंपराओं का विरोध किया था।

प्रार्थना समाज और एम.जी. रानाडे

महादेव गोविंद रानाडे एक प्रसिद्ध भारतीय राष्ट्रवादी विद्वान, समाज सुधारक और न्यायविद थे। रानाडे ने सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों का कड़ा विरोध किया और समाज सुधार के कार्यों में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया। समाज सुधारक संगठनों जैसे प्रार्थना समाज, आर्य समाज और ब्रह्म समाज ने रानाडे को बहुत प्रभावित किया था।

एक राष्ट्रवादी होने के नाते उन्होंने 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना का भी समर्थन किया और वे स्वदेशी के समर्थक भी थे। अपने जीवनकाल में वे कई महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पदों पर रहे जिनमें प्रमुख थे बॉम्बे विधान परिषद् का सदस्य, केंद्र सरकार के वित्त समिति के सदस्य और बॉम्बे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश। अपने जीवन काल में उन्होंने कई सार्वजनिक सभा और प्रार्थना समाज एवं सार्वजनिक संगठनों के गठन में योगदान दिया।

महादेव गोविंद रानाडे को पश्चिम भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जाता है। 1871 ई. में रानाडे ने सार्वजनिक समाज की स्थापना की। इन्हें "महाराष्ट्र का सुकरात" भी कहा जाता था। महादेव गोविंद रानाडे ने 1884 ई. में दक्कन एजुकेशनल सोसाइटी तथा 1891 ई. में महाराष्ट्र में विडो रिमैरिज एसोसिएशन की स्थापना की थी। महिलाओं के कल्याण के लिए आर्य महिला समाज की स्थापना पण्डिता रमाबाई ने की थी। आर्य समाज के एक अन्य अनुयायी प्रो. डी.के. कर्वे ने पूना में विडो होम तथा वर्ष 1906 में बंबई में इंडियन वोमेन्स यूनिवर्सिटी की स्थापना की थी।

प्रार्थना समाज के उद्देश्य– प्रार्थना समाज के मुख्य नियम और सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

- ईश्वर ही इस ब्रह्मांड का रचयिता है।

- ईश्वर की आराधना से ही इस संसार और दूसरे संसार में सुख प्राप्त हो सकता है।
- ईश्वर अवतार नहीं लेता और कोई भी एक पुस्तक ऐसी नहीं है जिसे स्वयं ईश्वर ने रचा अथवा प्रकाशित किया हो अथवा जो पूर्णतः दोष–रहित हो।

प्रार्थना समाज का उद्देश्य प्रार्थना और सेवा द्वारा ईश्वर की पूजा करना था। ब्रह्म समाज की भांति उपनिषदों और भगवद्गीता की शिक्षाएं उद्देश्य के आधार हैं किंतु एक बात में यह ब्रह्म समाज से भिन्न है। इसमें भारत के विशेषतः महाराष्ट्र के मध्यकालीन संतों– ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम की शिक्षाओं को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। ये एकेश्वरवादी नहीं हैं।

प्रार्थना समाज के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे–

- जाति व्यवस्था को अस्वीकृत करना
- स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन
- बाल विवाह पर रोक
- विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन
- लड़के एवं लड़की दोनों की विवाह की आयु में वृद्धि करना

प्रार्थना समाज का समाज सुधार में योगदान–

- प्रार्थना समाज ने रानाडे के नेतृत्व में जाति प्रथा, बाल–विवाह, मूर्ति पूजा तथा हिंदू समाज की अन्य कुरीतियों के विरुद्ध आंदोलन किया। उसने 19वीं शताब्दी के नवें दशक में नारी जागरण की योजनाओं का आरंभ किया। आर्य–महिला समाज की स्थापना (1882) उन्हीं योजनाओं का फल है।
- 1878 में प्रार्थना समाज द्वारा स्थापित पहला रात्रिविद्यालय जनशिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी रहा। वासुदेव बाबाजी नौरंगे बालकाश्रम की स्थापना लालशंकर उमाशंकर द्वारा पंढ़रपुर में 1875 में हुई। यह बालकाश्रम बाद में प्रार्थना समाज के संरक्षण में आ गया। यह 1975 में अपनी शताब्दी पूरी कर चुका है। प्रार्थना समाज के संरक्षण में दो बालकाश्रम और चलते हैं– एक विले पार्ले (बंबई) में डी.एन. सिरुर होम और दूसरा सतारा जिले में है।
- 'दि डिप्रेस्ड क्लास मिशन सोसाइटी ऑफ इंडिया' नाम की संस्था जो अछूतोद्धार के लिए प्रसिद्ध है, प्रार्थना समाज के एक कार्यकर्ता विट्ठल रामजी शिंदे द्वारा स्थापित हुई।
- 1917 में प्रार्थना समाज ने राममोहन अंग्रेजी विद्यालय की स्थापना की। अब इसके संरक्षण से दस से अधिक विद्यालय बंबई और उसके आस–पास चल रहे हैं।
- प्रार्थना समाज ने सामाजिक सुधार की कई प्रभावशाली परियोजनाओं का नेतृत्व किया है जैसे कि बहुत सारी महिलाओं और निम्न वर्गों का सुधार, जाति व्यवस्था का अंत, बाल विवाह और शिशुहत्या को समाप्त करना, महिलाओं के लिए शैक्षणिक अवसर और विधवाओं का पुनर्विवाह।

5.3.3 आर्य समाज

मूल शंकर (1824–83) जो प्रायः दयानंद के नाम से जाने जाते हैं, का जन्म 1824 में गुजरात की मौरवी रियासत के निवासी एक ब्राह्मण कुल में हुआ। उनके पिता जो स्वयं वेदों के महान विद्वान थे, उन्होंने उन्हें वैदिक वाङ्मय, न्याय–दर्शन इत्यादि पढ़ाया। दयानंद की जिज्ञासा ने उन्हें योगाभ्यास इत्यादि करने पर बाध्य किया तथा उन्होंने गृह त्याग दिया। 15 वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। 1860 में वे मथुरा पहुंचे और स्वामी विरजानंद जी से वेदों के शुद्ध अर्थ तथा वैदिक धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्राप्त की। 1863 में उन्होंने झूठे धर्मों का खंडन करने के लिए "पाखंड खंडिनी पताका" लहराई। 1875 में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था। जो झूठ, धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक कुरीतियां कालान्तर में हिंदू समाज में आ गई थीं उन्हें उन्होंने जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रण किया।

महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती

1877 में आर्य समाज लाहौर की स्थापना हुई जिसके उपरांत आर्य समाज का अधिक प्रचार हुआ। स्वामी दयानंद का उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए। उनकी इच्छा थी कि आर्य धर्म ही देश का समान धर्म हो। उन्हें समकालीन हिंदू धर्म तथा समाज में अनेक त्रुटियां देखने को मिलीं। उन्होंने इन दोनों क्षेत्रों में जीवनपर्यंत कार्य किया। धार्मिक क्षेत्र में वे मूर्ति पूजा, बहुदेवतावाद, अवतारवाद, पशुबलि, श्राद्ध, तंत्र–मंत्र तथा झूठे कर्मकांड को स्वीकार नहीं करते थे। वे वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे और उपनिषद् काल तक के साहित्य को स्वीकार करते थे।

स्वामी दयानंद के धार्मिक विचार–

- वेदों में आस्था
- ईश्वर, जीव तथा जगत

टिप्पणी

- कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष
- मोक्ष के साधन
- परमात्मा की पूजा के तीन रूप हैं
- धार्मिक कर्मकांड
- मूर्तिपूजा तथा अन्य कर्मकांडों का विरोध

वेदों में आस्था– स्वामी दयानंद का कहना था कि वेद ईश्वरीय हैं। वे ईश्वर द्वारा ऋषियों को उद्‌भासित किए गए थे। वे हर प्रकार की भूलों से मुक्त हैं और स्वयं प्रमाण हैं। उनकी प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए अन्य किसी ग्रंथ अथवा प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे सभी धर्म तथा ज्ञान–विज्ञान के स्रोत हैं। उनमें संपूर्ण ज्ञान बीज के रूप में विद्यमान है।

स्वामी दयानंद का कहना था कि देश का कल्याण इसी में है कि वैदिक धर्म तथा समाज व्यवस्था की मूल रूप में पुनः स्थापना की जाए।

'वेदों की ओर लौटो' उनका नारा था।

ईश्वर, जीव तथा जगत– स्वामी दयानंद ने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन किया। अद्वैतवाद के अनुसार केवल ब्रह्म सत्य है। जीवन ब्रह्म का ही अंश है और जगत उसी का रूप है। स्वामी जी ने इस सिद्धांत को नहीं माना। उन्होंने कहा कि ईश्वर, जीव और जगत उसी का रूप नहीं है तीनों पृथक और अनादि हैं। ईश्वर अर्थात परमात्मा सारे विश्व में व्याप्त है। वह सत्‌चित् आनंदस्वरूप है। सर्वज्ञानसम्पन्न, निराकार, अनंत सारे विश्व में व्याप्त, दयालु है। वह सृष्टि की रचना, पालन तथा नाश करता है। वह प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है। इस प्रकार स्वामीजी पक्के एकेश्वरवादी थे। उन्हें हिंदुओं के अनेक देवी–देवताओं के अथवा भक्तिमार्गियों के व्यक्ति रूप ईश्वर में विश्वास नहीं था और न वे अवतारवाद के सिद्धांत को मानते थे।

कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष– स्वामी दयानंद को उपनिषदों के ऋषियों की भांति कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांतों में विश्वास था। प्राणी जो कुछ अच्छे अथवा बुरे कर्म करता है उनका फल उसे अवश्य मिलता है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है किंतु अपने कर्मों के फल के संबंध में वह ईश्वर के अधीन है। स्वामी जी को पुनर्जन्म में विश्वास था। कर्मों के अनुसार मनुष्य का पुनर्जन्म होता है।

मोक्ष के साधन– मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं– परमात्मा की उपासना करना, नैतिक अर्थात धार्मिक कृत्य करना और ज्ञान प्राप्त करना। ज्ञान ब्रह्मचर्य के अभ्यास के द्वारा, सत्संग से विचारों की शुद्धता से तथा पुण्य कर्मों के करने से प्राप्त होता है।

परमात्मा की पूजा के तीन रूप हैं– स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना। स्तुति का अर्थ है ईश्वर का गुणगान करना जिससे कि उसके गुण मनुष्य के मन में स्थिर हो जाए और ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न हो। प्रार्थना का अर्थ है ईश्वर से ज्ञान तथा अन्य वस्तुओं की याचना करना। उपासना का अर्थ है मन और कर्म की शुद्धि और योग की क्रियाओं के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना।

धार्मिक कर्मकांड– संस्कार वे धार्मिक कर्मकांड हैं जिनसे मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक 16 संस्कार हैं।

टिप्पणी

इन संस्कारों का संपादन करना आवश्यक है किंतु अन्त्येष्टि के बाद मृतकों के लिए श्राद्ध आदि कोई कर्म नहीं करना चाहिए।

स्वामीजी यज्ञ, अग्निहोत्र आदि को आवश्यक समझते थे। उससे वायु तथा वनस्पतियां शुद्ध होती हैं और संपूर्ण प्राणी जगत का कल्याण होता है इसलिए स्वामीजी ने वैदिक ढंग से यज्ञों का पुनरुद्धार किया।

मूर्तिपूजा तथा अन्य कर्मकांडों का विरोध– स्वामी दयानंद ने मूर्तिपूजा तथा पौराणिक धर्म के अन्य अनुष्ठानों, रीति–रिवाजों, श्राद्ध, तीर्थयात्रा आदि का विरोध किया।

स्वामी जी का विचार था कि मूर्तिपूजा की प्रथा प्राचीन वैदिक धर्म की भावना के विरुद्ध है। यह प्रथा हमारे देश के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उन्नति के मार्ग में बाधक है। इससे हिंदुओं का चारित्रिक पतन होता है। यह प्रत्येक के लिए प्रत्येक परिस्थिति में हानिकारक और सदाचार की नाशक है। स्वामी जी ने मूर्तिपूजा पर प्रहार करते हुए लिखा है कि–

"मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं किंतु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। पुनः इस खाई से निकल नहीं सकता और उसी में मर जाता है।"

समाज सुधार की दिशा में आर्य समाज का योगदान– आर्य समाज का समाज सुधार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। दयानंद पहले हिंदू समाज–सुधारक थे जिन्होंने बचाव की नीति छोड़कर आलोचना की नीति को अपनाया। उन्होंने हिंदू धर्म को ईसाई तथा मुसलमान आलोचकों के हमले से बचाने के बजाय उनसे उनकी ही जमीन पर लड़ना स्वीकार किया ताकि उन्हें अपनी स्थिति बचाने की फिक्र हो। उन्होंने सभी धर्मों की कड़ी आलोचना की।

आर्य समाज ने गौरक्षा के लिए जो आंदोलन चलाया उसका आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। दयानंद का जाति, संप्रदाय, छुआछूत, स्त्री उद्धार आदि क्षेत्रों में सुधारों का गंभीर प्रभाव पड़ा। उन्होंने जो आंदोलन चलाया उससे आत्मनिर्भरता की भावना जाग्रत हुई। भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना को बल दिया। दयानंद के आदर्श की प्रशंसा करते हुए एक अंग्रेज पादरी डॉ. ग्रिसवल्ड ने कहा है–

"इन सारी बातों से प्रकट है कि स्वामी दयानंद सरस्वती बहुत उदार विचारों के व्यक्ति थे। वे बहुत सुंदर स्वप्नों के द्रष्टा थे। वे ऐसे भारत का स्वप्न देखते थे जो कुसंस्कार से शुद्ध हो, विज्ञान से पूरा लाभ उठाए, एक ईश्वर की पूजा करे, आत्मशासित हो और उसे दुनिया के राष्ट्रों में उचित स्थान मिले और उसके प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार हो।"

आर्य समाज के दस नियम– आर्य समाज के कुछ प्रमुख नियम निश्चित किए गए हैं। पहले उनकी संख्या 28 थी बाद में उन्हें घटाकर 10 कर दिया गया जो इस प्रकार हैं–

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ, विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

2. ईश्वर, सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेदों का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने हेतु सर्वथा उद्यत रहना चाहिए।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम का पालन करने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

शुद्धि आंदोलन– स्वामी दयानंद ने एक क्रांतिकारी आंदोलन चलाया जो शुद्धि आंदोलन कहलाता था। सल्तनत तथा मुगलकाल में करोड़ों हिंदू मुसलमान बना लिए गए थे। हिंदुओं में यह प्रथा थी कि जो व्यक्ति एक बार मुसलमान बन जाता था वह फिर कभी लौटकर हिंदू समाज में नहीं आ सकता था। दयानंद ने ऐसे लोगों के लिए हिंदू समाज के द्वार खोल दिए। उन्होंने कहा कि जो मुसलमान या ईसाई फिर से हिंदू धर्म को अंगीकार करना चाहे उसका स्वागत किया जाना चाहिए। असल में स्वामी जी का मुख्य उद्देश्य हिंदू धर्म और समाज की अन्य धर्मों के आक्रमणों से रक्षा करना था। महात्मा गांधी ने लिखा है–

"स्वामी दयानंद ने जो बहुत–सी महत्वपूर्ण संपत्ति उत्तराधिकार में हमारे पास छोड़ी है उसमें उनकी अस्पृश्यता के विरुद्ध स्पष्ट घोषणा निःसंदेह एक बहुमूल्य संपत्ति है।"

5.3.4 देवबंद आंदोलन

सर सैयद अहमद खां के विचारों को मुसलमानों के दो वर्गों ने चुनौती दी। एक उलेमा और दूसरे राष्ट्रीय विचारों के मुसलमान। उलेमाओं का विचार था कि वे मुस्लिम राजनीतिक शक्ति को फिर से स्थापित कर सकते हैं। इसलिए दिल्ली के शाहवली उल्ला अपने मदरसे में दोहरा कार्य कर रहे थे। उनका पहला काम था इस्लाम के शुद्ध रूप को प्रकाश में लाकर मुसलमानों को कुरान की शुद्ध शिक्षा देना। दूसरा काम था, ब्रिटिश शासन के कारण उत्पन्न व्यावहारिक समस्या का समाधान ढूंढ़ना। 1803 ई. में दिल्ली के पतन के बाद उनके बेटे शाह अब्दुल अजीज ने एक फतवा दिया था कि भारत युद्ध भूमि है। इस फतवे से प्रत्येक मुसलमान के लिए जरूरी था कि वह ईसाई विजेताओं के विरुद्ध जेहाद बोल दे या भारत को छोड़कर मुस्लिम देश में चला जाए।

टिप्पणी

रायबरेली के सैयद अहमद ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया। इनको अंग्रेजों ने वहाबियों का नाम दिया। वे उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत के पहाड़ी तथा जंगली इलाकों से अपना अभियान चलाते रहे। कुछ उलेमा जिन्होंने इस विद्रोह में सक्रिय रूप से भाग लिया, उन्होंने सरकार के दमन से बचने के लिए सहारनपुर जिले के देवबंद में एक दारुल उलूम की स्थापना की जहां मुस्लिम समाज के लिए धार्मिक नेता तैयार किए जा सके।

देवबंद आंदोलन : प्रारंभ एवं उद्देश्य– 1866 में संयुक्त प्रांत के सहारनपुर जिले में मौलाना मुहम्मद कासिम ननौतवी (1830–1880) एवं मौलाना रशीद अहमद गंगोही (1828–1905) ने देवबंद में एक विद्यालय की स्थापना की। इन उलेमाओं ने 1857 की क्रांति में हुकूमत के विरुद्ध संघर्ष किया था। इस मदरसे दार–उल–उलूम ने देवबंद आंदोलन के केंद्र के रूप में कार्य प्रारंभ किया। देवबंद दिल्ली से 100 मील उत्तर में स्थित है। देवबंद संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप की मुस्लिम जनता का केंद्रीय धार्मिक शिक्षण संस्थान था।

देवबंद आंदोलन निम्नलिखित उद्देश्यों से प्रारंभ किया गया–

1. किसी प्रलोभन, पद या दबाव से विचलित न होकर अल्लाह के फरमान पर अमल करना।
2. मुसलमान जनता के मध्य कुरान एवं हदीस की शिक्षाएं प्रसारित करना।
3. मुसलमानों को संगठित करना ताकि वे इस्लाम के मूल सिद्धांतों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर सकें।
4. मुसलमानों को धार्मिक नेतृत्व प्रदान करना।
5. शाहवली उल्ला की शिक्षा पर दृढ़ता और कड़ाई से चलना।
6. विदेशी ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध जेहाद की भावना को कायम रखना।
7. जीवन जीते हुए भाईचारे के साथ जीना।
8. तानाशाही और रईसी तौर–तरीकों को छोड़ना और आपस में मिलकर सलाह मशविरे से हुकूमत में लोकतांत्रिक तरीकों का उदाहरण प्रस्तुत करना।

वैचारिक कार्य प्रणाली– देवबंद स्कूल पूर्णरूप से स्वतंत्र था। यह निर्धन लोगों का स्कूल था और इसके छात्र तथा शिक्षक बहुत ही कम खर्च में अपना काम चलाते थे। इस स्कूल में चरित्र की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था।

इस स्कूल के संस्थापकों तथा शिक्षकों की दृष्टि में अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य संस्कृति बुरी चीज थी और वे चाहते थे कि एशियाई देश स्वतंत्र हो जाए ताकि मुस्लिम समाज का धार्मिक और नैतिक उत्थान हो सके। दारुल उलूम जनता द्वारा दिए गए चंदे पर निर्भर था। इसके स्नातक एवं शिक्षक जनता से चंदा एकत्र करने स्वयं जाते थे। इस तरह वे स्वयं जनता के संपर्क में आते थे। मदरसे में दान कर ख्याति प्राप्ति की इच्छा रखने वालों के भी वे विरुद्ध थे। इसके अनुगामी शिक्षा एवं चरित्र के उत्थान पर बल देते थे।

'समाज' तथा 'राज्य' की समस्याएं उनके लिए उतनी ही महत्वपूर्ण थीं जितनी कि 'व्यक्ति की धारणाएं तथा परंपराएं।' देवबंद स्कूल अपने छात्रों को सरकारी नौकरी

टिप्पणी

अथवा पद प्राप्त करने हेतु तैयार नहीं करता था। उसका कार्य एवं उद्देश्य मुस्लिम जनता का नैतिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण था। मदरसे में पश्चिमी शिक्षा पूर्णतः प्रतिबंधित थी।

शैक्षणिक कार्यप्रणाली– देवबंद मदरसा दार–उल–उलूम पूर्णतः इस्लामी परंपराओं पर आधारित शैक्षणिक संस्थान था। इसकी शिक्षा प्रणाली इस्लामी धर्मग्रंथों 'कुरान' व 'हदीस' पर आधारित थी। यह पश्चिमी एवं अंग्रेजी माध्यम शिक्षा व्यवस्था का विरोधी था। मदरसे के शिक्षक एवं छात्र लगभग गरीबी का जीवन जीते थे। इसके नैतिक एवं धार्मिक शिक्षण ने न केवल समस्त भारत में बल्कि पड़ोसी इस्लामी मुल्कों से भी छात्रों को आकर्षित किया।

दारूल उलूम का पाठ्यक्रम 17वीं सदी की शिक्षण व्यवस्था 'दर्श–ए–निजामी' पर आधारित है।

देवबंद आंदोलन एवं हिंदू–मुस्लिम एकता– उस काल में देश तथा विदेश में जो घटनाएं घटित हो रही थीं उनका देवबंद स्कूल पर भी प्रभाव पड़ा। 1859–61 ई. के नील आंदोलन, 1876 ई. के दक्षिण के विद्रोह, अकाल, किसान तथा कारीगरों की गिरती हुई दशा पर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। जनता में ब्रिटिश सरकार विरोधी भावनाएं पैदा हो रही थीं। उनको देवबंद स्कूल के लोगों ने और मजबूत बनाया। दूसरी ओर विदेशों में जो घटनाएं घटित हो रही थीं उनसे भी मुसलमानों में बड़ी निराशा थी। इस स्थिति में देवबंद स्कूल के नौजवान छात्रों ने यह नारा दिया कि एशिया को पाश्चात्य संस्कृति और राजनीतिक प्रभुत्व से स्वतंत्र किया जाए।

1885 ई. में जब कांग्रेस की स्थापना हुई तो देवबंद के स्कूल के लोगों ने इसका समर्थन किया और कांग्रेसी नेताओं से आगे बढ़कर कहा कि भारत को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। उन्होंने भारत के मुसलमानों का आह्वान किया कि वे अंग्रेजों को निकाल बाहर करें।

अब प्रश्न यह था कि इस कार्य में हिंदुओं का सहयोग किया जाए या नहीं। इस संदर्भ में रशीद अहमद गंगोही का यह मत था कि हिंदुओं के साथ सहयोग कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि कांग्रेस की कार्यवाहियों में उसके साथ सहयोग किया जाए।

देवबंद आंदोलन एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस– 1885 ई. में जब कांग्रेस की स्थापना हुई तो देवबंद के स्कूल के लोगों ने इसका समर्थन किया और कांग्रेसी नेताओं से आगे बढ़कर कहा कि भारत को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। उन्होंने भारत के मुसलमानों का आह्वान किया कि वे अंग्रेजों को निकाल बाहर करे।

इसी प्रकार असंख्यक तथ्य ऐसे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि दारुल उलूम देवबंद स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात भी देशप्रेम का पाठ पढ़ाता रहा है। जैसे सन् 1947 ई. में भारत को आजादी तो मिली परंतु साथ–साथ नफरते आबादियों का स्थानांतरण व बंटवारा जैसे कटु अनुभव का समय भी आया परंतु दारुल उलूम की विचारधारा टस से मस न हुई।

इसने डटकर इन सबका विरोध किया और इंडियन नेशनल कांग्रेस के संविधान में अपना समर्थन व्यक्त कर पाकिस्तान का विरोध किया। आज भी दारुल उलूम अपने देशप्रेम की विचारधारा के लिए संपूर्ण भारत में मशहूर है।

टिप्पणी

आंदोलन के प्रमुख नेता

संस्थापक– मुहम्मद कासिम ननौतवी (1830–1880)

संरक्षक–

- मुहम्मद कासिम ननौतवी (1830–1880)
- मौलाना रशीद अहमद गंगोही (1828–1905)
- अशरफ अली थानवी (1863–1943)
- मुहम्मद मियां मंसूर अंसारी (1894–1946)

अन्य संबंधित विद्वान–

- महमूद अल–हसन (जिसे 'शेख अल–हिन्द' के नाम से जाना जाता है)
- हुसैन अहमद मदानी
- अशरफ अली थानवी
- अनवर शाह कश्मीरी
- मोहम्मद इलियास अल–कांधलवी (तबलीगी जमात के संस्थापक)
- मुहम्मद जकारिया अल–कांधलवी
- शबीर अहमद उस्मानी
- मुहम्मद शफी उस्मानी (पाकिस्तान के पहले ग्रैंड मुफ्ती)

आंदोलन द्वारा आधुनिक पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा पर प्रतिबंध : कारण

- दारुल उलूम देवबंद इस्लामी विश्वविद्यालय ही नहीं एक विचारधारा है जो अंधविश्वास, कुरीतियों व आडम्बरों के विरुद्ध इस्लाम को अपने मूल और शुद्ध रूप में प्रसारित करता है। इसलिए इस विचारधारा से प्रभावित मुसलमानों को देवबंदी कहा जाता है।
- हजरत ननौतवी के अनुसार, 1857 के पश्चात् जब अंग्रेजों ने मुगल साम्राज्य को समाप्त कर दिया तथा भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम का अस्तित्व ही संकट में था एवं मुगल बादशाह के पश्चात् भारतीय मुसलमानों का कोई नेता नहीं था, उस वक्त इस्लामी शिक्षा पर ध्यान केंद्रित करने की अत्यंत आवश्यकता थी।
- इसके अनुसार पाश्चात्य पद्धति पर आधारित एक और शिक्षा केंद्र की स्थापना का कोई अर्थ नहीं था। पारंपरिक इस्लामी ज्ञान–विज्ञान के विद्वानों की पहचान एवं उन्हें सही सम्मान प्रदान करने हेतु दारुल उलूम संकल्पित था।

देवबंदी

- मुहम्मद ताकी उस्मानी (पाकिस्तान)– दारुल उलूम कराची के उपराष्ट्रपति, पाकिस्तान के सुप्रीम कोर्ट के शरियाह अपीलीय बेंच पर पूर्व न्यायाधीश,

टिप्पणी

ओआईसी के इस्लामी फिकह अकादमी के उपाध्यक्ष, इस्लामी वित्त के अग्रणी विद्वान और अक्सर देवबंदी आंदोलन के एक प्रमुख विद्वान और चरित्र के रूप में माना जाता है।

- मुहम्मद रफी उस्मानी पाकिस्तान (पाकिस्तान के वर्तमान ग्रैंड मुफ्ती) – कराची के अध्यक्ष और वरिष्ठ व्याख्याता।
- हाजी अब्दुल वहाब– वर्तमान (तब्बली जमात पाकिस्तान अध्याय के अमीर)
- यूसुफ मोटाला (यूके)– पश्चिम में सबसे पुराने देवबंदी मदरसों में से एक दारुल उलूम बरी में संस्थापक और वरिष्ठ व्याख्याता।

5.3.5 अलीगढ़ आंदोलन

सर सैयद अहमद खां के विचारों में परिवर्तन आ गया था। आगे चलकर उन्होंने इस बात की प्रेरणा दी कि इस्लाम में से हिंदू रीति–रिवाजों को पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया जाए। दूसरे, वे चाहते थे कि मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा, विज्ञान एवं शिल्प विधा का प्रचार हो। उनका विश्वास था कि उसके बिना मुसलमानों का उद्धार नहीं हो सकता। उन्हें पाश्चात्य शिक्षा तथा इस्लाम के बीच विरोध नहीं दिखाई देता था। तीसरे, उनका विश्वास था कि मुसलमानों की भौतिक प्रगति ब्रिटिश सरकार की कृपा पर निर्भर थी। इसलिए उन्होंने मुसलमानों के दिलों में से सरकार विरोधी भावनाओं का उन्मूलन करने तथा उनमें राजभक्ति का संचार करने का प्रयास किया। उन्होंने ब्रिटिश शासकों को समझाया कि मुसलमान हृदय से राजद्रोही नहीं थे और न इस्लाम में ही कोई ऐसे सिद्धांत थे जो राजद्रोह की प्रेरणा देते हों। उन्होंने वहाबियों के सरकार विरोधी रवैये की आलोचना की।

सर सैयद अहमद खां को अपने उक्त उद्देश्यों में आशातीत सफलता मिली। मुसलमानों में सामाजिक जागृति आरंभ हुई, उच्च वर्गों में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हुआ और अलीगढ़ नवजागरण के एक आंदोलन का केंद्र बन गया जो अलीगढ़ आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

किंतु सर सैयद अहमद खां के राजनीतिक विचार निश्चय ही प्रतिक्रियावादी थे। इसमें संदेह नहीं कि वे प्रारंभ में हिंदू–मुस्लिम एकता की बात किया करते थे किंतु आगे चलकर उनके विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया।

सर सैयद अहमद खां का जन्म 17 अक्टूबर, 1817 को हुआ। वे हिंदुस्तानी शिक्षक और नेता थे जिन्होंने भारत के मुसलमानों के लिए आधुनिक शिक्षा की शुरुआत की। इन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की। इनके प्रयासों से अलीगढ़ क्रांति की शुरुआत हुई जिसमें शामिल बुद्धिजीवियों और नेताओं ने भारतीय मुसलमानों को शिक्षित करने का काम किया। सैयद अहमद खां ने 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में यह सच है कि उन्होंने गैर–फौजी अंग्रेजों को अपने घर में पनाह दी लेकिन उनके समर्थक बिल्कुल न थे।

टिप्पणी

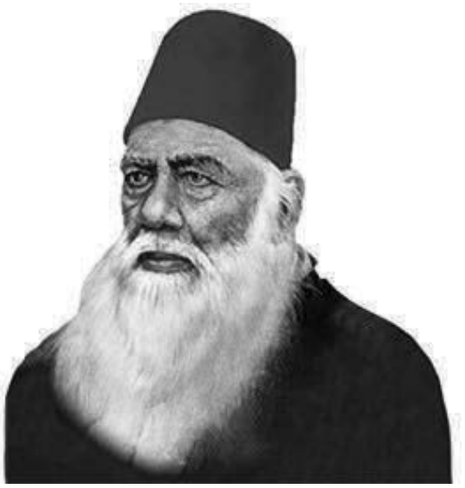

सर सैयद अहमद खां

बाद में उस संग्राम के विषय में उन्होंने एक किताब लिखी : असबाब–ए–बगावत–ए–हिन्द जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना की। ये अपने समय के सबसे प्रभावशाली मुस्लिम नेता थे। उन्होंने उर्दू को भारतीय मुसलमानों की सामूहिक भाषा बनाने पर जोर दिया।

सैयद अहमद के प्रारंभिक प्रयत्न– सर सैयद द्वारा अलीगढ़ आंदोलन का प्रारंभ शैक्षणिक तथा राजनीतिक उद्देश्य से किया गया था। इस आंदोलन के द्वारा वे मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात मुस्लिम समुदाय के खोए स्वाभिमान को पुनर्स्थापित करना चाहते थे।

मुगल परिवार के वंशज होने के नाते वे मुस्लिमों की व्यथा से अत्यंत द्रवित थे। सैयद अहमद ने 1869 में इंग्लैंड की यात्रा की। ब्रिटिश शिक्षा एवं प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन किया। सैयद अहमद के 1870 में इंग्लैंड से लौटने के पश्चात अलीगढ़ आंदोलन का निर्णायक स्वरूप निर्धारित हुआ। उन्होंने मुस्लिम समाज में परिवर्तन लाने एवं उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने हेतु अपने समुदाय को पश्चिमी वैज्ञानिक विचारधारा में सामंजस्य हेतु प्रेरित किया। इस उद्देश्य से उन्होंने वलीउल्लाह के इस्लामिक परंपरावाद को त्याग दिया।

सैयद अहमद ने द लॉयल मुहम्मडन्स ऑफ इंडिया, नामक पत्र का प्रकाशन 1860 में प्रारंभ किया। उन्होंने 'अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजेट' नामक पत्रिका का प्रकाशन 1886 में प्रारंभ किया और ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की एक शाखा की स्थापना की।

अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना एवं उद्देश्य– मुसलमानों को शिक्षा देने की मदरसों की जो पुरानी परिपाटी चली आ रही थी उससे सर सैयद अहमद खुश नहीं थे और सरकारी कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जा रही थी उसको भी वे सही नहीं मानते थे।

सर सैयद अहमद ने मुसलमानों तथा ईसाइयों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस्लाम धर्म की समान बातों पर बल दिया। उन्होंने शिक्षा के तीन उद्देश्य बताए–

1. धार्मिक आस्था को दृढ़ बनाना।

टिप्पणी

2. आवासी कॉलेजों की स्थापना के द्वारा छात्रों के चरित्र का निर्माण करना।
3. आधुनिक विज्ञान की उच्चतम शिक्षा देना तथा छात्रों में बुद्धिवादी दृष्टिकोण उत्पन्न करना।

सर सैयद अहमद खां ने इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्कूल खोले, वैज्ञानिक समितियों की स्थापना की और मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन आयोजित किए।

1875 में उन्होंने छात्रों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था हेतु अलीगढ़ मोहम्मडन एंग्लो–ओरियण्टल स्कूल खोला। 1877 में इसी स्कूल का नाम 'अलीगढ़ मोहम्मडन एंग्लो–ओरियण्डल कॉलेज' हो गया। इसका उद्घाटन लार्ड लिटन ने किया। यही कॉलेज आगे चलकर अलीगढ़ आंदोलन का केंद्रबिंदु बना। सर सैयद ने अपनी सारी शक्ति इस कॉलेज के विकास में लगा दी।

आंदोलन एवं परंपरावादी मुस्लिम विचारधारा एवं संघर्ष

दारुल उलूम जिसकी स्थापना 1866 में देवबंद में की गई थी, की परंपरावादी विचारधारा में पृथक सर सैयद ने अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना की। इस कार्य के लिए उन्हें अंग्रेज सरकार से सहायता प्राप्त हुई। कॉलेज के प्रारंभिक प्राचार्य थियोडोर बेक एवं श्री मोरिसन अंग्रेज थे। अपने नवीन शैक्षणिक विचारों के द्वारा वे मुस्लिम समुदाय के नजरिये में परिवर्तन लाकर उन्हें मध्ययुगीन शिक्षण व्यवस्था में परिवर्तन हेतु प्रेरित करना चाहते थे क्योंकि मध्ययुगीन शिक्षा पद्धति नाकाम हो चुकी थी तथा समुदाय की तत्कालीन आर्थिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अक्षम हो चुकी थी।

उनकी इस्लाम की तार्किक व्याख्या हालांकि तत्कालीन मुस्लिम धार्मिक वर्ग द्वारा नकार दी गई क्योंकि वह तत्कालीन विवादास्पद परंपरावादी विचारों के विरुद्ध थे जैसे जिहाद, बहुविवाह प्रथा, पशु–वध, दास प्रथा एवं पर्दा प्रथा। 1883 में उन्होंने हिंदू–मुस्लिम एकता के अपने विचार व्यक्त किए। वहाबी आंदोलन के प्रवर्तकों ने अंग्रेजों एवं सिखों के विरुद्ध जेहाद की घोषणा कर दी थी। सर सैयद ने जेहाद का विरोध किया।

सैयद अहमद एवं हिंदू मुस्लिम एकता– सर सैयद अहमद ने इस्लाम पर आक्रमण की स्थिति पर जेहाद को अपनाना उचित समझा परंतु अंततः उन्हें कट्टरपंथियों के दबाव के आगे झुकना पड़ा एवं उन्हें इस्लाम के अपने लेखों के माध्यम से विचार व्यक्त करने का कार्य रोक देने की स्वीकृति देने को बाध्य होना पड़ा। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध इसलिए नहीं किया कि वह उसे मूलतः एक हिंदू प्रभावी संगठन मानते थे बल्कि इसलिए कि उनके विचार में कांग्रेस राजनीतिक रूप से अत्यंत आक्रामक थी एवं सर सैयद ब्रिटिश सहायता तथा सहयोग प्राप्त करना चाहते थे।

सैयद अहमद हिंदू–मुस्लिम एकता के पक्षधर थे। उन्होंने कुछ इस्लामी धर्मशास्त्रियों के इस मत को कि हिंदू 'काफिर' है को नकार दिया। वे हिंदू–मुस्लिम राजनीतिक एकता में भी विश्वास करते थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध 1887 में किया जब बदरुद्दीन तैयबजी उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उनके अनुसार, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हिंदुओं के साथ सहयोग, मुस्लिम समुदाय को ब्रिटिश संरक्षण से वंचित कर देगा तथा मुसलमानों को हिंदू बहुल जनता द्वारा पराधीन एवं शोषित बना देगा।

टिप्पणी

उन्होंने मुस्लिम समुदाय को कांग्रेस से जुड़ने से रोकने का प्रयत्न किया क्योंकि उनके अनुसार कांग्रेस ब्रिटिश विरोधी एवं सरकार विरोधी थी।

उर्दू आंदोलन– अलीगढ़ आंदोलन ने ही उर्दू आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। उर्दू आंदोलन एक राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलन था।

उर्दू का उद्देश्य उर्दू को भारतीय मुस्लिम समुदायों की अखिल भारतीय भाषा तथा भारतीय मुस्लिम वर्ग की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक भाषा का दर्जा दिलाना था।

उर्दू आंदोलन ने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग एवं पाकिस्तान आंदोलन को अत्यंत प्रभावित किया। उर्दू आंदोलन ने उनके विचारों को परिवर्तित किया और सैयद अहमद ने द्वि–राष्ट्र सिद्धांत प्रस्तुत किया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किए कि दोनों वर्गों के बीच समय के साथ मतभेद बढ़ते जाएंगे एवं दोनों किसी भी कार्य में सहृदयता से एक दूसरे का साथ नहीं देंगे।

अलीगढ़ आंदोलन : एक आकलन– अलीगढ़ आंदोलन के जनक सर सैयद अहमद खां थे। यह आंदोलन सर सैयद अहमद के नेतृत्व में शुरू किया गया था। इन्होंने समाज सुधार और आधुनिक शिक्षा, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास पर अधिक जोर दिया था।

1857 ई. का विद्रोह मुसलमानों द्वारा संचालित नहीं था। कंपनी सरकार की सेवा उन्होंने 1837 ई. में स्वीकार कर ली थी। कंपनी सरकार के प्रति वफादार रहने के उपलक्ष्य में उन्हें 'सर' की उपाधि प्राप्त हुई थी। सर सैयद अहमद राष्ट्रवादी थे।

सैयद ने मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता को महसूस किया और 1875 में अलीगढ़ में एक स्कूल की शुरुआत की जो बाद में 1877 में 'Muhammadan Anglo Oriental College' बना।

सैयद अहमद की मृत्यु के पश्चात अलीगढ़ आंदोलन– सैयद अहमद की मृत्यु के पश्चात अलीगढ़ कॉलेज के ट्रस्टी कुलीन परिवारों के वंशजों एवं बड़े जमींदार घरानों से संबंधित व्यक्ति होते थे जो कि मध्ययुगीन व्यवस्था के प्रतिनिधि थे। अनेक अंग्रेजी प्राचार्यों के तहत जो कि अंग्रेजी सरकार से जुड़े हुए थे, कॉलेज में कांग्रेस विरोधी, राष्ट्र विरोधी एवं पृथकतावादी प्रवृत्तियां पनपने लगीं।

उसके छात्रों के समक्ष मुख्य उद्देश्य सरकार में निचले दर्जे की नौकरियां प्राप्त करना निरूपित किया गया। अलीगढ़ कॉलेज समूह नवीन मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग का प्रणेता बन गया तथा सभी मुस्लिम आंदोलनों को प्रभावित करने लगा। मुस्लिम लीग मुख्य रूप में उन्हीं के प्रयासों की वजह से अस्तित्व में आई।

तत्पश्चात अलीगढ़ आंदोलन मुस्लिम लीग से प्रभवित हो गया जो द्वि–राष्ट्र सिद्धांत की रट लगाए थी। उसके द्वारा राष्ट्र के विभाजन की मांग के पूर्णरूपेण समर्थन ने हिंदू–मुस्लिम संबंधों पर हमेशा के लिए कुठाराघात कर दिया।

मुस्लिम छात्रों द्वारा राजनीतिक आंदोलन में शामिल होने से अलीगढ़ कॉलेज को विश्वविद्यालय का दर्जा प्रदान करने की मांग उठी। मांग को स्वीकृत करते हुए ब्रिटिश सरकार द्वारा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिनियम–1920 में पारित किया गया जिसके अनुसार मुहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल कॉलेज को रहवासी अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में परिवर्तित किया गया।

सैयद अहमद के प्रयासों का एक संक्षिप्त सारांश

→ 1857 की क्रांति पर पुस्तक लिखी–असबाब–ए–बगावत–ए–हिन्द।

→ 1864 – गाजीपुर – साइंटिफिक सोसाइटी की स्थापना की।

→ 1875 – महारानी विक्टोरिया की वर्षगांठ के अवसर पर – अलीगढ़ स्कूल की स्थापना की।

→ 1877 – इसी अलीगढ़ स्कूल का नाम 1877 में 'मुहम्मडन एंग्लो ओरिएन्टल कॉलेज' हो गया।

→ 1920 – 1920 में यह विद्यालय अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाया गया।

→ यह प्रारंभ में हिंदू–मुस्लिम एकता के पक्षधर थे।

→ 1885 – कांग्रेस की स्थापना का इन्होंने विरोध किया।

→ 1886 – बनारस के राजा शिवप्रसाद के सहयोग से इन्होंने स्वयं की एक संस्था इंडियन पैट्रियाटिक एसोसिएशन की स्थापना की।

→ यह कांग्रेस के विरोध में कार्य करने वाली संस्था थी।

→ 1886 – 'मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन' की स्थापना की।

→ इसी संस्था द्वारा इन्होंने एक पत्रिका 'राजभक्त मुसलमान' निकाली।

→ 1887 – इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल का इनको सदस्य बनाया गया।

→ 1888 – इनको 'नाइट हुड' की उपाधि दी गई।

5.3.6 सिंह सभा आंदोलन

सिंह सभा आंदोलन सिख आंदोलन था जो 1870 में पंजाब की प्रतिक्रियाओं में ईसाइयों की गतिविधियां, हिंदू सुधार आंदोलन और मुस्लिम सुधार आंदोलन प्रारंभ हो चुके थे।

आंदोलन की स्थापना एक ऐसे युग में हुई थी जब सिख साम्राज्य को औपनिवेशिक अंग्रेजों द्वारा भंग कर दिया गया था। खालसा ने अपनी प्रतिष्ठा खो दी थी और मुख्यधारा के सिख तेजी से अन्य धर्मों में परिवर्तित हो रहे थे। आंदोलन का उद्देश्य था– 'सच्चे सिख धर्म का प्रचार करना। सिख धर्म की प्राचीनता को बहाल करना।'

पृष्ठभूमि– ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1849 में सिख साम्राज्य का स्थान ले लिया। दूसरे आंग्ल–सिख युद्ध के बाद ईसाई मिशनरियों ने केंद्रीय पंजाब में अभियोजन गतिविधियों में वृद्धि की। 1853 में महाराजा दलीप सिंह, अंतिम सिख शासक विवादास्पद रूप से ईसाई धर्म में परिवर्तित हो गया था।

बाद में ब्रह्मसमाजी और आर्यसमाजी हिंदू धर्म के सुधार आंदोलनों ने सिखों को अपने समारोहों में सक्रिय करना शुरू किया। मुस्लिम अभियोजन पक्ष ने लाहौर में सिखों के बीच अंजुमन–ए–इस्लामिया का गठन किया।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासक 19वीं शताब्दी के मध्य में सिख साम्राज्य की घोषणा करने के बाद इन महंतों को भूमि अनुदान देना और उपहार देना जारी रखते हैं जिससे उनकी ताकत बढ़ती है और मंदिरों में मूर्ति पूजा को बनाए रखने में मदद मिलती है।

टिप्पणी

आंदोलन के कारण– सिंह सभा आंदोलन प्रारंभ करने के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे जो इस प्रकार हैं–

1. सिंह सभा आंदोलन के प्रारंभ होने का एक महत्वपूर्ण कारण नामधारी आंदोलन की विफलता थी जिसने सिख समाज की जड़ों को हिलाकर रख दिया था।
2. सनातनधर्मी तथा आर्य समाज की गतिविधियों ने सिख धर्म को प्रभावित किया।
3. द्वितीय आंग्ल–सिख युद्ध में सिखों की पराजय।
4. इसके अतिरिक्त विदेशी ईसाई मिशनरियों की धर्मान्तरणवादी गतिविधियों के विरोध की आवश्यकता आंदोलन का कारण बनी।
5. सिख समाज को आधुनिक शिक्षा व ज्ञान–विज्ञान में जोड़ना।

सिंह सभा आंदोलन एवं मिशनरी– ईसाई अमेरिकन मिशनरी ने लुधियाना को अपना केंद्र बनाकर पाश्चात्य शिक्षा, अस्पताल, अनाथाश्रम आदि प्रारंभ कर दिए थे। उसका प्रभाव लाहौर तथा अमृतसर तक स्थापित हो गया था उनकी धर्मांतरणवादी गतिविधियां भी जारी थीं। दाऊद सिंह प्रथम सिख थे जिन्होंने ईसाई धर्म अपनाया। उन्हें 1852 में कानपुर में ईसाई धर्म की दीक्षा दी गई।

तत्पश्चात केसर सिंह जो एक सिख ग्रंथी थे, रलिया राम जो अमृतसर के एक हिंदू खत्री थे ने भी ईसाई धर्म को अपनाया।

निम्न वर्ग की सिख जनता जो सिख प्रणेताओं के दुर्व्यवहार से पीड़ित थी, ने बड़ी संख्या में प्रभावशाली तथा संपन्न सिखों ने भी सरकारी नौकरियों के लालच में ईसाई धर्म अपना लिया।

सिख धर्म एवं आर्य समाज– आर्य समाज (1875) जिसकी शुरुआत स्वामी दयानंद सरस्वती ने की थी, के साथ भी सिख धर्मावलंबियों का मतभेद था।

आर्य समाज के अनुसार, सिख धर्म भी प्राचीन आर्य–हिन्दू धर्म की ही एक शाखा था। आर्य समाज पंजाब में अत्यंत लोकप्रिय था तथा गुरु ग्रंथ साहिब का कोई विशेष महत्व नहीं था।

सिंह सभा की स्थापना एवं उद्देश्य– सिखों के सुधारवादी संगठन के रूप में सिंह सभा की स्थापना 1873 में अमृतसर में हुई। यह आंदोलन ईसाइयों, ब्रह्मसमाजियों, आर्यसमाजियों, अलीगढ़ आंदोलन के समर्थकों और अहमदिया मुसलमानों के धर्म–परिवर्तन कार्रवाइयों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आरंभ हुआ।

उद्देश्य– इस आंदोलन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे–

- सच्चे सिख धर्म का प्रचार–प्रसार करना।
- सिख धर्म के खोए गौरव को पुनः प्राप्त करना।
- सिखों की ऐतिहासिक एवं धार्मिक पुस्तकें लिखना और उनका वितरण करना।
- पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से 'गुरुमुखी पंजाब' का प्रचार करना।
- सिख धर्म में सुधार करना और दूसरे धर्मों में चले गए लोगों की घर–वापसी कराना।

टिप्पणी

कार्यप्रणाली

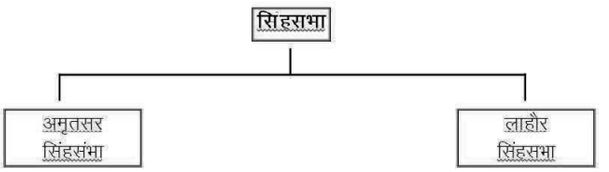

अमृतसर सिंह सभा– यह पहली सिंह सभा थी, जिसे अमृतसर सिंह सभा कहा जाता है।

लाहौर सिंह सभा– इसके तुरंत बाद निहंग सिखों ने आंदोलन को प्रभावित किया एवं लाहौर सिंह सभा की स्थापना की।

→ 1890 के दशक में सिंह सभाएं अपने नवीन अस्तित्व को लेकर अत्यंत मुखर हो उठीं।

→ 1905 में सिख सुधारकों ने अमृतसर के स्वर्ण मंदिर से ब्राह्मण पंडितों, देव प्रतिमाओं एवं हिंदू कर्मकांडों को समाप्त कर दिया।

→ कुछ समय बाद सिख सभाओं पर खालसा दीवान का प्रभुत्व स्थापित हो गया एवं 1920 में सिख धर्मस्थलों पर नियंत्रण हेतु संघर्ष भी।

→ इस प्रकार सिख धर्म स्थलों जैसे कि स्वर्ण मंदिर, ननकाना साहिब, तरन तारण, पुंज साहिब, आदि को वंशानुगत महंतों के प्रभाव से मुक्त किया गया।

सिंह सभा के कार्य– सिंह सभा ने निम्नलिखित प्रमुख कार्य किए जो इस प्रकार हैं–

→ पत्र–पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से एवं गांवों में जाकर आंदोलनकारियों ने सिखों के मध्य खालसा की प्रेरणा जगाई।

→ गांवों तथा शहरों में सिख स्कूलों की स्थापना की गई।

→ सिख समुदाय के लोगों को गुरुमुखी भाषा की शिक्षा दी।

→ विभिन्न प्रकाशनों के माध्यम से सिख जनता को धार्मिक आदर्शों, जनता की सेवा, सहनशक्ति, आत्मसंयम आदि की प्रेरणा प्रदान की गई।

→ मद्यपान, नशीली वस्तुओं तथा तम्बाकू के इस्तेमाल के विरुद्ध प्रचार किया।

→ जाति प्रथा, मूर्तिपूजा, छुआछूत आदि का विरोध किया।

अपनी प्रगति जांचिए

4. सती प्रथा का अंत कब हुआ?

(क) 1829 (ख) 1830

(ग) 1831 (घ) इनमें से कोई नहीं

5. प्रार्थना समाज की स्थापना कब हुई–

(क) 1865 (ख) 1867

(ग) 1863 (घ) 1866

6. आर्य समाज की स्थापना कहां हुई–

(क) बंगाल (ख) कलकत्ता

(ग) बंबई (घ) मद्रास

7. वहाबी आंदोलन के प्रथम प्रवर्तक थे–

(क) मिर्जा गुलाब अहमद (ख) सैयद अहमद बरेलवी

(ग) आगाखां (घ) इनमें से कोई नहीं

8. अलीगढ़ आंदोलन के जनक थे–

(क) मुहम्मद अली जिन्ना (ख) आगाखां

(ग) शौकत अली (घ) सर सैयद अहमद खां

5.4 आधुनिक भारत में कट्टरता और धार्मिक सार्वभौमिकता का विचार

प्राचीन भारत में कट्टरता के स्वरूप का उल्लेख नहीं मिलता है। इसका प्रमुख कारण था अपने मत के प्रति दृढ़ता होते हुए भी वे दूसरे मत के प्रति सहिष्णु थे। प्राचीन काल में समाज का आधार धर्म था। उसी के आधार पर सामाजिक सिद्धांतों को स्थापित किया जाता था। अगर सिद्धांतों में मतैक्य नहीं होता था तो शास्त्रार्थ के द्वारा अपने मत की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रचलन था। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रतिपादकों ने नवीन दार्शनिक सिद्धांत को जन्म दिया। परंतु उन्होंने अपने सिद्धांतों में कभी भी कट्टरता का समावेश नहीं किया। जनसामान्य वर्ग ने उन्हें सहज एवं सरल रूप में स्वीकार किया। धार्मिक कट्टरता प्राचीन भारत में विस्तृत रूप से दिखाई नहीं देती है फिर इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे बौद्ध धर्म के बोधि वृक्ष को हिंदू राजा शशांक द्वारा काट डालना और शैव राजा द्वारा विष्णु की मूर्ति को समुद्र में फेंकना, इसी प्रवृत्ति को दर्शाते हैं।

मध्ययुग धर्म एवं संस्कृति का युग था। एक तरफ विजेता आक्रांता का उन्माद था तो दूसरी तरफ पराधीन हिंदू राष्ट्र। एक अपने ही देश में अपने धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए संघर्ष कर रही थी तो दूसरी एक विभिन्न देश में अपने धर्म के सिद्धांतों को तलवार के बल पर थोपने का प्रयास कर रही थी। ऐसे में धार्मिक कट्टरता का जन्म होना कोई नई बात नहीं थी। तात्कालिक शासकों ने इसे राजाश्रय प्रदान कर इसे और भी बढ़ावा दिया।

5.4.1 आधुनिक भारत में कट्टरता का विकास

भारत अनेक धर्मों की निवास–स्थली है। यहां पर विभिन्न संस्कृति, भाषा, आचार–विचार, रहन–सहन वाले वर्ग रहते हैं जिनके अपने मत और मान्यताएं हैं। इनके बीच की असमानताएं धार्मिक कट्टरता को जन्म देती हैं। वहीं एक–दूसरे के धर्मों को समझने के लिए समन्वय की भी भावना का विस्तार करती हैं। आधुनिक भारत में दोनों ही प्रकार के विचार परिलक्षित होते हैं।

टिप्पणी

आधुनिक भारत में कट्टरता को बढ़ाने का कार्य अंग्रेजों ने किया। वे अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु भारतीयों की एकता को तोड़ना चाहते थे। अतः उन्होंने धार्मिक, क्षेत्रीय भाषायी आधार पर कट्टरता को प्रोत्साहित किया।

अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने के पश्चात यह मिथक फैला था कि अंग्रेज भारत में मुगलों के उत्तराधिकारी बने परंतु वास्तविकता में वे मराठों के उत्तराधिकारी थे। अंग्रेजों ने यह तथ्य प्रचारित किया कि वे मुस्लिम सत्ता का विनाश कर हिंदुओं को उनके अत्याचार से मुक्त कराना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होंने मुसलमानों को कुचलना शुरू कर दिया। मुहम्मद नारमन ने लिखा है– "ब्रिटिश लोगों ने निश्चय किया था कि नई शक्ति के विस्तार तथा जारी रखने के लिए एक मात्र उपाय यही है कि मुसलमानों को दबाया जाए तथा उन्होंने जानबूझकर ऐसी नीतियां अपनाईं जिनका उद्देश्य मुसलमानों का आर्थिक नाश करना था तथा उनकी बौद्धिक रोकथाम तथा सामान्य पतन के लिए कार्य करना था।"

इस प्रकार प्रारंभ में अंग्रेजों की नीति मुसलमानों का दमन करना था और हिंदुओं का समर्थन करना था। लॉर्ड कार्नवालिस के स्थायी भूमि बंदोबस्त का यही उद्देश्य था– हिंदुओं को भू–राजस्व का अधिकार देकर उनके महत्व को बढ़ाना। मुसलमानों को नौकरियों से भी बाहर रखा गया। 1852 से 1862 तक मध्य हाई कोर्ट के 240 वकीलों में से मात्र 1 मुस्लिम वकील था। इस प्रकार अंग्रेजों की आरंभिक नीतियां हिंदुओं के पक्ष में थीं। कहीं न कहीं उनकी समस्त कार्य योजनाएं दोनों धर्मों के बीच वैमनस्यता उत्पन्न करती थीं जिससे उनके मन में अपने–अपने धर्मों के प्रति कट्टरता के भाव उत्पन्न हुए।

1857 के विद्रोह से अंग्रेजों की उक्त धारणा में परिवर्तन आया। 1857 के विद्रोह के नेता मुस्लिम थे। अंग्रेजों को यह लगा कि वे एक बार फिर भारत में मुस्लिम सत्ता स्थापित करना चाह रहे हैं। अतः अंग्रेजों ने मुसलमानों के प्रति कठोरता की नीति अपनाई। उन्होंने सरकारी नौकरियों से मुस्लिमों को बाहर रखा।

1857 का विद्रोह हिंदू एवं मुस्लिम दोनों का मिला–जुला विद्रोह था। अतः उन्होंने फूट डालो और शासन करो की नीति अपनाना शुरू कर दिया जिससे दोनों ही पक्ष में धार्मिक कट्टरता की शुरुआत हुई।

उपनिवेशवादी शासन व्यवस्था में सांप्रदायिकता को बढ़ाने के लिए अनेक तत्वों का सहारा लिया। मुसलमानों को विशेष संप्रदाय का दर्जा दिया गया। उनकी सभ्यता एवं संस्कृति एवं विचारों को अलग ढंग से प्रस्तुत किया गया। उन्होंने इतिहास को अपने ढंग से प्रस्तुत किया और उन्हीं तत्वों को अपने लेखन में समाहित किया जो उनके हित में ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स ने प्राचीन इतिहास को हिंदुओं का इतिहास कहा और मध्यकालीन इतिहास को मुस्लिम इतिहास में विभाजित किया है।

साम्राज्यवादी इतिहासकारों का इतिहास लेखन का मूलभूत उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करना था। ये साम्राज्यवादी अपने इतिहास कोश द्वारा यह प्रचारित करना चाहते थे कि भारतीय जनमानस का हित इसी में है कि वे ब्रिटिश शासन के अधीन रहकर ही प्रगति करे, इसके पीछे वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा एवं स्थिरता की दृष्टि प्रबल रूप से विद्यमान थी।

हरवंश मुखिया ने इलियट एवं डाउसन के इतिहास के साम्राज्यवादी उपागम को स्पष्ट करते हुए लिखा है– "यह मध्यकालीन भारत के फारसी में लिखे गए इतिहास ग्रंथों के अंशों का अनुवाद था। इन अंशों के चयन में पाठक की कल्पना शक्ति के लिए कुछ बचा ही नहीं। ये अंश हमेशा ही सांप्रदायिक भावना को उकसाते रहे।" अतः वे यह दर्शाना चाहते थे कि मध्यकालीन भारत में हिंदुओं का दमन किया गया एवं जो सुशासन उन्हें मध्ययुग में सांप्रदायिक दृष्टिकोण के कारण नहीं मिला वह ब्रिटिश शासन के अधीन उन्हें प्राप्त होगा। इसमें हिंदुओं के मन में जो गौरव की भावना थी उसे पुनः स्थापना की कोशिश की जाने लगी और उनके मन का विचार यह था कि उनके प्राचीन गौरव को नष्ट करने का श्रेय मुसलमानों को जाता है।

हिंदुओं ने अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझने की जो शुरुआत की तो मुस्लिमों ने भी अपने 'इस्लामी स्वर्ण युग' का गाना गाना शुरू कर दिया। और अपनी संस्कृति, धर्म, परंपरा उन्हें बेहतर लगने लगी। उन्होंने मुस्लिम शासकों के कार्यों को महिमामंडित करना शुरू कर दिया। उन्होंने यह प्रचारित करना शुरू किया कि मुस्लिम के भारत आने पर ही उच्च सभ्यता का प्रसार हुआ और उन्नीसवीं सदी में राजनीतिक सत्ता छिन जाने के बाद मुसलमानों का पराभव हुआ और हिंदू आगे बढ़ गए। परंतु मुस्लिम वर्ग यह भूल गया कि यह वही भारत भूमि है जिसने अनेक विदेशियों को शरण दी। और अपने देश में उसे समानता के साथ स्वीकार किया। उन्हें वही सम्मान मिला जो हिंदुओं के लिए मिला। अकबर एक समन्वयवादी शासक नहीं था बल्कि ये भारतीयों की सहजता थी कि उसे समन्वयवादी शासक का ढोंग रचना पड़ा। मध्यकालीन संदर्भ में वह अंग्रेजों का पूर्वगामी था जो प्रशासन को व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए हिंदुओं का सहारा लेना चाहता था। वास्तव में उपयोगितावादी सिद्धांत का वास्तविक प्रतिपादक अकबर ही था।

भारत में सांप्रदायिकता की समस्या को केवल हिंदू–मुस्लिम प्रश्न अथवा इसको हिंदू–मुस्लिम धर्मों का विरोध मानना ठीक नहीं। सांप्रदायिक प्रश्न का आधार राजनीतिक अधिक और धार्मिक कम है। इन दो धर्मों के अतिरिक्त इस त्रिभुज में एक तीसरा पक्ष भी था। अंग्रेजों ने हिंदू और मुस्लिम संप्रदायों के बीच अपने आपको स्थापित कर एक सांप्रदायिक त्रिभुज खड़ा कर दिया। इस त्रिभुज की सबसे दृढ़ तथा आधार भुजा अंग्रेज थे। वे न ही मुसलमानों के मित्र थे न ही हिंदुओं के शत्रु। वे तो साम्राज्यवाद के मित्र थे और 'बांटो और राज्य करो' में विश्वास करते थे। लॉर्ड जॉन एलफिन्सटन जो बंबई के गर्वनर थे, उन्होंने एक बार लिखा था कि "बांटो और राज्य करो यह प्राचीन रोमन कहावत थी, और यह हमारी भी होनी चाहिए।" इसी प्रकार सर जॉन स्ट्रेची जो एक प्रशासनिक अधिकारी थे, ने भी लिखा था, "भारत में भिन्न धर्मों का एक साथ होना हमारी राजनीतिक स्थिति के लिए अच्छी बात है।"

इस प्रकार ब्रिटिश शासन ने सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया और उसे रोकने के लिए ठोस कार्यवाही नहीं की।

सांप्रदायिकता का अर्थ

सांप्रदायिकता उस राजनीति को कहा जाता है जो धार्मिक संप्रदायों के बीच विरोध और झगड़े पैदा करती है। ऐसी राजनीति धार्मिक पहचान को बुनियादी और अटल मानती

टिप्पणी

है। सांप्रदायिकता धार्मिक अस्मिता का एक विशेष तरह का राजनीतिकरण है जो धार्मिक समुदायों में झगड़े पैदा करवाने की कोशिश करता है।

किसी भी बहुधार्मिक देश में धार्मिक राष्ट्रवाद जैसे शब्दों का अर्थ भी सांप्रदायिकता से संबंधित हो सकता है। सांप्रदायिकता का अभिप्राय उस भावना से है जो धर्म, भाषा, क्षेत्र, संस्कृति एवं प्रजाति आदि की भिन्नता के कारण एक समूह को दूसरे समूह से अलग रहने का या विरोध करने की प्रेरणा देता है।

परिभाषा

स्मिथ के अनुसार, "सांप्रदायिकता वह शक्ति अथवा समूह है जो अपने धार्मिक या भाषा–भाषी समूह को एक ऐसी पृथक राजनीतिक तथा सामाजिक इकाई के रूप में देखता है जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं। और उसके विरोधी भी हो सकते हैं।"

सांप्रदायिकता की विशेषताएं

सांप्रदायिकता की निम्न विशेषताएं हैं–

1. धर्म से संबंधित मूलतः अपने–अपने धर्म के सिद्धांतों को अन्य पर थोपने का प्रयास
2. श्रेष्ठता का सिद्धांत
3. अन्य सिद्धांतों की उपेक्षा करना
4. अलगाववाद की भावना का जन्म
5. क्षति का भय
6. धार्मिक कट्टरता की भावना का उदय
7. वैमनस्यता उत्पन्न होना।

सांप्रदायिकता का विकास

जब 1857 के विद्रोह में बहादुरशाह जफर को पुनः सम्राट बनाने का प्रयत्न किया गया था तभी अंग्रेजों के मन में मुसलमानों के प्रति कटुता उत्पन्न हो गई। वहाबी आंदोलन से इस विश्वास को और अधिक समर्थन मिला। परंतु क्रमशः हिंदुओं में पाश्चात्य शिक्षा के कारण बौद्धिक जागृति का विस्तार हुआ और उन्होंने राजनीतिक अधिकारों के लिए आंदोलन करना आरंभ किया, इस नीति में परिवर्तन आ गया। 1880 के आस–पास यह स्पष्ट था कि हिंदू अब राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों की तुलना में अंग्रेजी साम्राज्य के लिए अधिक भय उत्पन्न कर रहे थे और अब अंग्रेजों की दोनों संप्रदायों के प्रति नीति में स्पष्ट परिवर्तन आया। एंग्लो–इंडियन नौकरशाही ने इस परिवर्तन में विशेष भूमिका निभाई। डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर ने अपनी पुस्तक 'भारतीय मुसलमान' जो 1871 में प्रकाशित हुई, में यह स्पष्ट लिखा है– "मुसलमान इतने दुर्बल हैं कि विद्रोह कर ही नहीं सकते।" और मुसलमानों के प्रति नीति में परिवर्तन का सुझाव दिया। श्री थियोडोर बैंक जो एम.ए.ओ. कॉलेज अलीगढ़ के प्रथम प्रिंसिपल थे, ने मुसलमानों में जागृति के लिए कार्य किया और अंग्रेजी नीति को प्रभावित किया।

भारतीय इतिहास के कुछ अंग्रेजी लेखकों ने भी हिंदू–मुस्लिम प्रश्न को लेकर ही इतिहास और संस्कृति के विकास की कथा लिखी और साम्राज्यवाद को बढ़ावा

टिप्पणी

दिया। 19वीं शताब्दी के दोनों हिंदू और मुसलमान धार्मिक सुधार और पुनरुत्थान आंदोलनों के कुछ परस्पर विरोधी रूप भी थे। ये आंदोलन हिंदू और मुस्लिम धर्मों को रूढ़िवादी और विवेकरहित तत्वों से बचाने के लिए आरंभ किए गए थे परंतु इसमें कुछ अप्रत्यक्ष प्रवृत्तियां उत्पन्न हुईं जिसने सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया।

20वीं शताब्दी के उग्रवादियों ने महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविंद सिंह को राष्ट्रवीरों की सूची में सम्मिलित कर लिया और अकबर औरंगजेब जैसे राजाओं को विदेशियों की संज्ञा दी गई। इस प्रकार यह सत्य है कि तिलक, लाजपतराय, अरविंद और गांधीजी हिंदू–मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक थे परंतु जाने अनजाने में ऐसी भाषा उपमा और लक्षणों का प्रयोग करते थे जो हिंदू थीं। गांधीजी की 'रामराज्य' की परिकल्पना ने भी धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा दिया।

1905 ई. में बंगाल विभाजन सांप्रदायिक आधार पर किया गया था और इसका उद्देश्य मुसलमानों को हिंदुओं से पृथक करना था।

मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 में हुई जो एक सांप्रदायिक समस्या थी जिसका उद्देश्य केवल मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य हितों की रक्षा करना था। वायसराय मिंटो का कथन है– "आज एक महान घटना घटित हुई है, अर्थात इतना महान राजनीतिक कार्य हुआ है कि उसमें भारत और भारत के इतिहास पर अनेक वर्षों तक प्रभाव पड़ता रहेगा।" रेम्जे मेकडोनल्ड ने बाद में यह स्वीकार किया था कि मुसलमानों तथा हिंदुओं के मध्य सांप्रदायिक आधार पर फूट डालने का कार्य अंग्रेजों की कुटिल नीति थी।

सांप्रदायिक राजनीति में अंग्रेजों ने पहला महत्वपूर्ण कदम 1909 में उठाया जब मुसलमानों को पृथक निर्वाचन अधिकार प्रदान किया गया। जिन्ना और तिलक के प्रयासों से मुस्लिम लीग ने स्वशासन की मांग का समर्थन किया और कांग्रेस ने पृथक निर्वाचन स्वीकार किया। इस प्रकार कांग्रेस ने लीग की सांप्रदायिक नीति को स्वीकार कर लिया जो राष्ट्रीय आंदोलन के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

कुछ समय तक हिंदू–मुस्लिम एकता बनी रही परंतु बाद में दोनों के बीच सांप्रदायिकता में वृद्धि हुई थी। साइमन कमीशन के समय मुस्लिम सांप्रदायिकता का गहरा उभार सामने आया। गोलमेज सम्मेलनों में संप्रदायवादियों ने ब्रिटिश शासक वर्ग के रूप में प्रतिक्रियावादी तत्व अर्थात टोरियो से गठबंधन किया। इन संप्रदायवादियों ने इस बात पर जोर दिया कि हिंदुओं और मुसलमानों के हित एक–दूसरे के विरोधी थे। सांप्रदायिक निर्णय तथा 1935 के अधिनियम में मुस्लिम लीग को सब कुछ प्राप्त हो गया था जिसकी वह मांग कर रही थी।

1937 से उग्र सांप्रदायिकता की राजनीति आरंभ हुई जो घृणा, भय, अतार्किकता पर आधारित थी। इसका एक प्रमुख कारण 1937 के चुनावों में कांग्रेस की सफलता थी। अतः लीग ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए उग्र सांप्रदायिकता को अपनाया। जिन्ना ने कांग्रेस पार्टी को हिंदू पार्टी घोषित किया। मुसलमानों पर अत्याचार की मनगढ़ंत कहानियों का प्रचार होने लगा। 1939 में जब कांग्रेस ने युद्ध के प्रश्न पर त्यागपत्र दिया तब लीग ने 'मुक्ति दिवस' अर्थात हिंदू शासन से मुक्ति का दिवस मनाया। अतः अब उन्होंने मुसलमानों को एक पृथक राष्ट्र बताना शुरू किया और मुस्लिम बहुल प्रांतों को

संगठित करके पाकिस्तान की मांग आरंभ की। यह मुस्लिम सांप्रदायिकता की चरमसीमा थी।

पाकिस्तान की मांग के प्रस्ताव पर जिन्ना ने कहा था– "हिंदू और मुसलमानों को पृथक–पृथक राष्ट्र समझना चाहिए।" मुसलमान एक राष्ट्र और उसका पृथक गृह देश होना चाहिए। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भी जिन्ना का यही रुख रहा। केबिनेट मिशन योजना के आधार पर जब अंतरिम सरकार का गठन हुआ तो यह लीग के लिए पराजय वाली बात थी। 16 अगस्त, 1946 को जवाहर लाल नेहरू ने सरकार बनाने का फैसला किया था। 16 अगस्त को जिन्ना ने सीधी कार्यवाही की घोषणा की। मौलाना आजाद ने कहा– "16 अगस्त भारत के इतिहास का एक काला दिन था।"

20 फरवरी, 1947 की घोषणा को क्रियान्वित करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने लॉर्ड माउन्टबेटन को वायसराय पद पर भारत भेजा। इस घोषणा का कांग्रेस ने स्वागत किया और लीग को निमंत्रित किया। कांग्रेस एवं लीग के नेताओं से विचार–विमर्श करने के पश्चात 3 जून, 1947 को माउन्टबेटन द्वारा अपनी योजना प्रकाशित की गई। इसके लिए उन्होंने कांग्रेस और लीग की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 के आधार पर भारत और पाकिस्तान दो राज्यों के निर्माण की स्वीकृति प्रदान की गई। 14 अगस्त को पाकिस्तान, 15 अगस्त को भारत।

इस प्रकार कांग्रेस ने देश के विभाजन के लिए सुनियोजित रूप से फूट डालने का कार्य किया। इसके लिए अंग्रेज सफल रहे।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में कट्टरता

अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति ने अंततः भारत का विभाजन कर दिया। उन्होंने जो बीज अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए बोए थे वह स्वतंत्रता के पश्चात भी बने रहे। भारतीय नेताओं ने हर संभव प्रयास के द्वारा एक ऐसे राष्ट्र के निर्माण की आधारशिला रखने का प्रयास किया जहां सांप्रदायिकता का कोई निशान न हो। और उन्होंने भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया। जिसका कार्य सभी धर्मों के प्रति समान दृष्टिकोण रखना था। अर्थात धर्म विशेष का महत्व नकार दिया गया।

भारत एक बहुल संस्कृति एवं धर्मों वाला देश है। यहां हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि धर्म के मानने वाले समूह निवासरत हैं। अतः कभी–कभी इनके बीच आपसी मतभेद स्पष्ट रूप से देखने को मिल जाते हैं। हिंदू कट्टरता को बढ़ाने वाले संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल प्रमुख हैं। इसी प्रकार मुस्लिम कट्टरता बढ़ाने में देवबंदी स्कूल, सिमी, तबलीगी जमात, मुस्लिम लीग और अंतर्राष्ट्रीय स्तर के संगठनों में अलकायदा, तालिबान आदि प्रमुख हैं। ईसाई समुदाय हमेशा से कूटनीति का कार्य करता है। जिस प्रकार कैंसर हमारे शरीर को शनैः–शनैः खत्म करता है उसी प्रकार ईसाई समुदाय विदेशी धन की मदद से पिछड़े, आदिवासी वर्ग का धर्मान्तरण और शिक्षा के जगत में मिशनरी स्कूलों के माध्यम से वही मैकाले की नीति का अनुसरण कर रहे हैं, 'रंगरूप में भारतीय पर सोच में अंग्रेज'।

सिख कट्टरता को अपने अलग प्रतिनिधित्व के लिए अलग देश खालिस्तान की मांग के रूप में देखा जाता है। परंतु उनकी मांग में मजबूती नहीं थी इसलिए यह आंदोलन लगभग मृतप्राय है।

टिप्पणी

स्वतंत्रता के पश्चात इस प्रकार के सांप्रदायिक दंगे यदा–कदा होते रहते हैं। हिंदुओं की मान्यता के अनुसार राम का जन्म अयोध्या में हुआ था और उनके जन्मस्थान पर मंदिर था जिसे मुगलों ने जीत कर मस्जिद बना दिया। अतः कुछ हिंदू संगठनों ने 6 दिसंबर, 1992 को वह विवादित ढांचा गिरा दिया जिससे पूरे देश में सांप्रदायिक दंगे फैल गए। इसकी जांच के लिए लिब्रहान आयोग का गठन किया गया।

अयोध्या विवाद जो कि सर्वोच्च न्यायालय में लंबित था, उसका निर्णय मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई की अध्यक्षता वाली बेंच द्वारा 9 नवंबर, 2019 को दिया गया। इसके अंतर्गत विवादित स्थल को मंदिर का स्थल मानते हुए फैसला रामलला के पक्ष में सुनाया। इसके अंतर्गत विवादित भूमि को 'राम जन्मभूमि' माना गया और मस्जिद के लिए अयोध्या में 5 एकड़ जमीन देने का सरकार को आदेश दिया।

सांप्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन हुआ। उसी का दंश कश्मीर समस्या के रूप में हमेशा देखा जाता रहा है। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कश्मीर में चल रहा मौजूदा सांप्रदायिक अलगाववाद कोई नए सिरे से उत्पन्न हुआ किस्सा नहीं है बल्कि यह पाकिस्तान के विभाजन का ही है जो अभी कश्मीर के मुस्लिम बहुल होने की वजह से या तो भारत से अलग होने की बात कर रहा है या फिर इस्लामी राष्ट्र पाकिस्तान के करीब आने की कोशिश।

इन सारी समस्याओं के निराकरण हेतु सरकार ने 5 अगस्त, 2019 को ऐतिहासिक फैसला करते हुए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 और 35–ए को निष्प्रभावी करते हुए जम्मू कश्मीर राज्य के पुनर्गठन का फैसला लिया। इसके तहत 31 अक्टूबर, 2019 से राज्य की जगह दो केंद्रशासित प्रदेशों की व्यवस्था शुरू हो गई।

इस प्रकार सरकार के प्रयासों से सांप्रदायिकता को रोकने के प्रयास किए जा रहे हैं। मुस्लिम कट्टरता विश्व स्तर पर फिलिस्तीन, चेचेन्या की समस्या, अफगानिस्तान और इराक पर अमेरिकी आक्रमण यह सब ऐसे कारण हैं जिसमें विश्व स्तर पर मुस्लिम समुदाय ने अपने को अपमानित महसूस किया और इसकी प्रतिक्रिया में कई नवयुवक आतंकवाद की ओर मुड़े।

विश्व स्तर पर अब कुछ बड़े कदम उठाने के प्रयास किए जा रहे हैं जिससे इस प्रकार की कट्टरता को कम किया जा सके।

संक्षेप में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने के लिए आखिर कौन–सी परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। इसके लिए मुहम्मद अली जिन्ना या मुस्लिम लीग जिम्मेदार थी? इसका वास्तविक जिम्मेदार ब्रिटिश नीतियां थीं, जिसने भारत में अपने शासन को सुरक्षित रखने हेतु फूट डालो और शासन करो की नीति का सहारा लिया। इसके माध्यम से उन्होंने मुस्लिमों को एक अलग देश का सपना दिखाया और उसे पूरा किया। वास्तव में कश्मीर समस्या विभाजन की सांप्रदायिकता का ही रूप है। अंग्रेजों ने जो बीज बोए हम अकसर उन्हें सांप्रदायिक दंगों में देखते हैं।

आधुनिक भारत में कट्टरता की विशेषताएं

आधुनिक भारत में कट्टरता की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. आधुनिक भारत में धार्मिक कट्टरता के साथ यह बात देखी जा सकती है कि इसको प्रोत्साहित करने वाले विभिन्न धर्मों के तत्व साम्राज्यवाद का विरोध करने के स्थान पर इसका समर्थन करते हैं।
2. सांप्रदायिक नेताओं द्वारा अपने मत को ही महत्व देना।
3. किसी संप्रदाय या विचार को आंख मूंदकर मानना।
4. किसी धर्म के प्रति अत्यंत रूढ़ एवं कट्टर हो जाना।
5. धार्मिक कट्टरपंथी अपनी सोच में आधुनिकता की प्रवृत्तियों, बुद्धिवाद, प्रत्यक्षवाद, धर्मनिरपेक्षवाद का विरोध करते हैं।
6. आधुनिक भारत में धार्मिक कट्टरता की एक विशेषता यह भी है कि विभिन्न संप्रदायों के लोग ऐसे ऐतिहासिक पुरुषों को अपना नायक घोषित करते हैं जिन्होंने दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ लड़ाई लड़ी हो। जैसे– हिंदू कट्टरपंथी शिवाजी आदि राणा प्रताप को अपना नायक मानते हैं और मुस्लिम कट्टरपंथी मुहम्मद गोरी, अब्दाली, औरंगजेब को अपना नायक मानते हैं। इस प्रक्रिया में दोनों ही पक्ष या तो इतिहास के उसी पक्ष को सामने लाते हैं, जो उनके मत को सिद्ध करता है या फिर अपनी बात के समर्थन के लिए वे इतिहास को ही तोड़–मरोड़कर पेश करते हैं।
7. कट्टरपंथी अपने ही धर्म के उदार तत्वों की आलोचना करते हैं।
8. हिंदू कट्टरपंथी उग्र राष्ट्रवाद (सांस्कृतिक राष्ट्रवाद) का समर्थन करते हैं।

भारत की सांस्कृतिक विशेषता का अनेकता में एकता एक पक्ष है जो विभिन्नता के बीच सकारात्मकता को बढ़ावा देता है। वहीं, धार्मिक कट्टरता सांप्रदायिकता का विकास कर राष्ट्र विघटन की भावना को तीव्र करता है।

5.4.2 आधुनिक भारत में धार्मिक सार्वभौमिकता

धार्मिक सार्वभौमिकता को सिर्फ एक तरह से ही परिभाषित नहीं किया जा सकता किंतु फिर भी इसे मोटे तौर पर दो तरह से देखा जा सकता है। पहले के अनुसार, एक ही धर्म की मान्यताओं को संपूर्ण विश्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रक्रिया में सभी दूसरे धर्मावलंबियों को किसी एक धर्म के पक्ष में अपना धर्मान्तरण अपेक्षित होता है। सार्वभौमिकता को सत्य, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक या धार्मिक सीमाओं या सत्य की व्याख्या से कहीं अधिक दूरगामी के रूप में देखा जाता है। आधुनिक संदर्भ में "सार्वभौमवाद का अर्थ भौगोलिक और अन्य सीमाओं के पार सभी मनुष्यों के एकीकरण की खोज या मानव अधिकार या अंतर्राष्ट्रीय कानून जैसे सावभौमिक निर्माणों का अनुप्रयोग भी हो सकता है।"

प्राचीन भारतीय शासकों ने समन्वय के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है जिसमें अशोक की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। मध्यकालीन संतों ने भक्ति आंदोलन के माध्यम से सार्वभौमिक सिद्धांतों की स्थापना का प्रयास किया।

कबीर ने हिंदुओं एवं मुसलमानों दोनों को वस्तु–स्थिति से अवगत कराने के लिए अपने दोहे के माध्यम से समय–समय पर सचेत किया तथा बताया कि राम और रहीम एक हैं। वे इस तथ्य से भली प्रकार अवगत थे कि यदि दोनों जातियों के मध्य धार्मिक एकता स्थापित हो जाएगी तो दोनों के बीच जो चौड़ी दरार है उसे पाटा जा सकेगा। गुरुनानक ने भी हिंदू–मुस्लिम एकता का प्रयास किया। इसी प्रकार का प्रयास सूफी आंदोलन के संतों द्वारा भी किया गया। आधुनिक संदर्भ में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महात्मा गांधी, राधाकृष्णन आदि प्रमुख महापुरुषों ने सार्वभौमिकता के सिद्धांतों का प्रचार किया।

राजा राममोहन राय एवं केशवचंद्र सेन

राजा राममोहन राय ने 'एकेश्वरवाद' के सिद्धांत को महत्व दिया। इनका मानना था कि सभी धर्म ईश्वरवादी हैं। सभी धर्म एक समान हैं। अतः हर धर्म के प्रति श्रद्धा भाव रखना हर मानव का कर्तव्य है।

केशवचंद्र सेन का मत था कि विश्व के सभी प्रतिष्ठित धर्म सच्चे हैं। इस मूलभूत एकता के बावजूद बाहरी रूपों में जो भेद हैं, जिन समाजों में वे फूले–फले उनकी अलग–अलग आवश्यकताओं के कारण हैं।

राजा राममोहन राय मानते थे कि विश्वजनीन ईश्वरत्व केवल एक है और हिंदू–मुस्लिम और ईसाई ईश्वरत्व उसके राष्ट्रीय रूप हैं। इसी विश्वजनीन दृष्टिकोण के कारण उन्होंने वेदों के एकेश्वरवाद और ईसाई धर्म के एकत्ववाद का मंडन किया एवं हिंदुओं के बहुदेववाद तथा ईसाइयों के त्रिदेववाद का खंडन किया।

धार्मिक एकता में विश्वास राजा राममोहन राय और केशवचंद्र सेन द्वारा धर्मों के पारस्परिक समाहार के प्रयत्न का आधार था। राजा राममोहन राय मानते थे कि समाहार की एक प्रक्रिया द्वारा सभी धर्म अनिवार्य रूप से विश्वजनीन धर्म की ओर प्रगति कर रहे हैं। परंतु इस मान्यता का तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रक्रिया के सभी धर्म एक–दूसरे से मिल जाएंगे और एक विश्वव्यापी धर्म संघ स्थापित हो जाएगा। इसके विपरीत वह समन्वय राष्ट्रीय ईश्वरवाद को मिटाए बिना प्रत्येक धर्म में विश्वजनीन विचारों के पूर्ण विकास में सहायक होगा।

रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद

सभी धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य आधुनिक काल में रामकृष्ण परमहंस ने किया। उनका मानना था कि सभी धर्म एक हैं और ईश्वर तक पहुंचने के मार्ग हैं।

विवेकानंद ने सार्वभौम धर्म की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, सार्वभौम धर्म को सभी संप्रदायों को संतुष्ट करने में समर्थ होना चाहिए। उनके अनुसार, सार्वभौम धर्म का अर्थ यह नहीं है कि उसके एक जैसे सिद्धांत और कर्मकांड हों। सार्वभौमिक धर्म के अंतर्गत सभी धर्मों को जीवन के लक्ष्य को पाने के अलग–अलग मार्गों के रूप में मान्यता दी जाएगी। अलग–अलग मार्गों को मानने वालों में दूसरे मार्गों को वैध मार्ग मानने की भावना होगी। इस सार्वभौम धर्म का सारतत्व है– ईश्वर में विश्वास। हालांकि विवेकानंद ने धार्मिक समन्वय पर जोर दिया परंतु यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उनका आदर्श वैदिक मनीषियों के तत्वान्वेषणों पर आधारित धर्म था।

टिप्पणी

और उनकी दृष्टि में हिंदू धर्म सभी धर्मों की जननी था, जिसने दुनिया को सहिष्णुता का पाठ सिखाया और ऐसे धर्म का अनुयायी होने का उन्हें गर्व है।

महात्मा गांधी

धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास महात्मा गांधी ने भी किया। वह सभी धर्मों को समान रूप से सच्चा और मूलतः एक मानते थे क्योंकि सभी धर्म व्यक्तियों को ईश्वर तक ले जाने के माध्यम हैं। वे मानते हैं कि विविध धर्म एक ही जगह पहुंचाने वाले अलग–अलग रास्ते हैं। एक ही जगह पहुंचने के लिए हम अलग–अलग रास्ते लें तो इसमें विरोध का कोई कारण नहीं है। जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म हैं। धर्म का उद्देश्य ईश्वर को प्राप्त करना है। उनकी दृष्टि से सत्य ही ईश्वर है और चूंकि सत्य एक है इसलिए धर्मों की विविधता का अर्थ उनका विरोध नहीं है। प्रत्येक धर्म एक–दूसरे का पूरक कहा जा सकता है।

धर्म के संबंध में गांधी जी के विचार कुछ इस प्रकार हैं–

1. सभी धर्म सत्य हैं।
2. सभी धर्मों में कुछ दोष हैं।
3. मुझे सभी धर्म प्रिय हैं।
4. सभी धर्म ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग दिखलाते हैं।

सार्वभौमिकता की विशेषताएं

1. प्रत्येक धर्म अपने धर्म के साथ दूसरे के धर्म को भी सहजता एवं सहिष्णुता से स्वीकार करे।
2. विश्व एक ही धर्म को स्वीकार न करे बल्कि सभी धर्मों की अच्छी बातों को स्वीकार करे।
3. धर्म निरपेक्षता का अर्थ है सभी धर्मों के साथ समानता का व्यवहार एवं राज्य का कोई विशिष्ट धर्म न होना।
4. सभी धर्मों की मान्यताओं को सम्मान देना।

अपनी प्रगति जांचिए

9. कांग्रेस अधिवेशन 1947 में देश के विभाजन को स्वीकार करने का प्रस्ताव किसने प्रस्तुत किया था?

   (क) डॉ. राजेंद्र प्रसाद (ख) जे.बी. कृपलानी

   (ग) गोविंद बल्लभ पंत (घ) वल्लभ भाई पटेल

10. "हिंदू और मुसलमानों को पृथक–पृथक राष्ट्र समझना चाहिए।" यह किसने कहा था?

    (क) इकबाल (ख) रहमत अली

    (ग) मो. अली जिन्ना (घ) मौलाना अबुल कलाम

टिप्पणी

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)
3. (ग)
4. (क)
5. (ख)
6. (ग)
7. (ख)
8. (घ)
9. (ग)
10. (ख)

5.6 सारांश

मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन एवं सूफी आंदोलन के रूप में ईश्वर के प्रति प्रेम की नई परंपरा विकसित हुई। तात्कालीन व्यवस्था के परिणाम स्वरूप सामाजिक परंपराओं से तटस्थ संतों के समक्ष ये प्रश्न था कि ईश्वर की आराधना के लिए वे कौन से मार्ग का अनुसरण करे। विजेता आक्रांता अपनी जीत के उन्माद में खुश थे तो पराजित हिंदू संस्कृति ये स्वीकार ही नहीं कर पा रही थी कि वे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक रूप से पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ चुके थे।

परिणामस्वरूप मुस्लिम अपने को श्रेष्ठ व हिंदुओं को निम्न एवं हीन दृष्टि से देखते थे, जिसके कारण दोनों जातियों के मध्य ईर्ष्या, घृणा और द्वेष की भावना पनप रही थी। पूरा वातावरण अराजकता की स्थिति में था। तब समाज के कुछ सुधारकों द्वारा कुछ नये सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया जो धर्म विशेष पर आधारित न होकर ईश्वर की भक्ति पर आधारित थे जिन्होंने हिंदू और मुसलमानों को अपने धार्मिक मतभेदों को भुलाकर एक होने का मार्ग दिया। सूफीमत के संतों ने प्रचार–प्रसार करते हुए कहा कि मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है।

इसी प्रकार सिख मत के प्रतिपादक 'गुरुनानक' थे जिन्होंने हिंदू एवं मुस्लिम धर्म के सिद्धांतों को लेकर अपने उपदेश दिए। उन्होंने हिंदू और मुसलमानों को अपने धार्मिक मतभेदों को भुलाने के लिए कहा। जाति प्रथा, अवतारवाद, कर्मकांड आदि का विरोध किया एवं वे कर्म सिद्धांत, जीव के आवागमन का सिद्धांत, निष्काम कर्म आदि पर विश्वास करते थे। इन्होंने कोई नये संप्रदाय बनाने की कोशिश नहीं की। इनकी शिष्य परंपरा ही सिख धर्म में बदल गई।

इस प्रकार मध्यकालीन समय जहां विजेता आक्रांताओं के उन्माद का समय था वहीं कुछ समाज सुधारक, हिंदू एवं मुस्लिम संत अपने उपदेशों से राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार कर रहे थे।

टिप्पणी

अठारहवीं शताब्दी में भारतीय समाज की विशेष रूप से हिंदू समाज की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि विविध क्षेत्रों में अधोगति हो चुकी थी। रविंद्रनाथ टैगोर ने लिखा है–

"भारत के इतिहास ने रुके या बंधे हुए पानी की तरह स्थिर पस्त होकर सत्य के चिंतन और स्वतंत्र जिज्ञासा के पथ को त्याग दिया था। किसी भी तरह के साहस और आंतरिक या बाह्य परिष्कार की इच्छा समाप्त हो चुकी थी। यहां तक कि लोग अपने पतन को ही सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे। बदले हुए समय के साथ चलने का प्रयत्न समाप्त हो गया था। प्राण शक्ति के अभाव में जीवन की ज्योति मद्धिम पड़ चुकी थी।"

इन सारी निराशाजनक परिस्थितियों को बदलने का महान कार्य करने के लिए मानो राजा राममोहन राय भारत भूमि में अवतरित हुए। 1828 ई. में उन्होंने ब्रह्म समाज नामक संस्था स्थापित की जिसका आधुनिक भारत के पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण स्थान है। 1820 ई. में मुगल सम्राट ने राममोहन राय को 'राजा' की उपाधि प्रदान की और उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर ब्रिटेन भेजा। ब्रिटेन में राममोहन राय का बड़ा सम्मान हुआ। ब्रिटेन में ही 1833 ई. में राममोहन राय का शरीरांत हो गया। ब्रिस्टल नामक नगर में उनकी समाधि अभी भी विद्यमान है।

ब्रह्म समाज का बंगाल के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। स्त्रियों की दशा सुधारने में तो उसे आशातीत सफलता मिली है। धीरे–धीरे हिंदू समाज ने उसके अनेक विचारों को ग्रहण कर लिया है जैसे– पर्दा प्रथा, बाल–विवाह, बहुविवाह का अंत और विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा का प्रचार। इसके अतिरिक्त अंतर्जातीय विवाह तथा खान–पान का भी बहुत प्रचार हो चुका है। इस सबका श्रेय बहुत कुछ ब्रह्म समाज को है।

प्रार्थना समाज में महादेव गोविंद रानाडे, नारायण चंदावरकर तथा आर.जी. भंडारकर आदि लोकप्रिय नेता हुए। इस संस्था और इसके नेताओं का प्रमुख उद्देश्य हिंदू धर्म में आमूल–चूल सुधार लाना, अछूतोद्धार करना, जात–पात का विरोध, स्त्री–शिक्षा और विधवा विवाह को प्रोत्साहन आदि था। जिसके लिए यह संस्था लगातार प्रयत्नशील रही। इस संस्था ने अनेक अनाथालयों, कन्या पाठशालाओं, विधवा आश्रमों आदि की स्थापना की।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्यभाषा को अपना माध्यम बनाकर न केवल अपने मिशन में सफल हुए अपितु हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा और राजभाषा बनाने का मार्ग भी प्रशस्त किया। स्वामी दयानंद सरस्वती जी का हिंदी के प्रति अपूर्व अनुराग ही था जिससे हिंदी को एक नई गति, एक नई चेतना के साथ नया जीवन मिला। उसमें व्यापकता आई और सबसे बढ़कर उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई। सन् 1875 को बंबई में दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की थी। आर्य समाज ने देश में अनेक सुधार कार्य किए जिनकी वजह से आज आर्य समाज को देश और विदेश में काफी मान्यता प्राप्त है। देश को आज भी ऐसे ही एक आंदोलन की जरूरत है जो देश में नैतिकता की लहर ला सके। आर्य समाज ने हिंदू समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। इसने अंधविश्वासों, जातिवाद, छुआछूत आदि पर चोट की और हिंदू समाज को वैदिक धर्म के आधार पर ढालने का प्रयत्न किया।

प्रत्येक धर्म के अपने सिद्धांत होते हैं और उनमें अनेक भिन्नता भी। भारत अनेक धर्मों की जन्म भूमि रहा है। प्राचीन काल से हम भारतीयों की मानसिकता समन्वय की रही है। सिंधु सभ्यता मातृप्रधान रही तो वैदिक सभ्यता पुरुष प्रधान रही है। जहां पर पुरुष देवताओं का वर्चस्व रहा है। कालांतर में जैन एवं बौद्ध धर्म ने हिंदू धर्म की बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। परंतु उन्होंने हिंदू धर्म का विरोध नहीं किया। प्राचीन काल के राजाओं का धर्म भिन्न–भिन्न होता था परंतु भारत में कभी कोई धार्मिक क्रांति का उत्कोष नहीं मिलता है। न ही राजाओं द्वारा कभी कोई धार्मिक अत्याचार का प्रमाण मिलता है। इससे अधिक भारतीय संस्कृति में सार्वभौमिकता के और क्या सत्य हो सकते हैं।

मध्यकाल में जरूर धार्मिक कट्टरता के प्रमाण मिलते हैं परंतु प्रारंभ में दोनों धर्म एक–दूसरे को समझने में असमर्थ थे। इसका कारण था एक विजेता थे तो दूसरे पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए थे। बाद के कुछ मुस्लिम सम्राटों ने समन्वय की भावना को स्थापित करने का प्रयास किया। मध्यकाल तक जनसमूह में इतनी कट्टरता का समावेश नहीं था कि वे अपने स्वार्थ के लिए 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का अनुसरण करे। परंतु अंग्रेजों ने इसी वैमनस्यता के बीज बोए जिसकी अंतिम परिणति भारत और पाकिस्तान की विभाजन रेखा थी।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **उद्भव** : जन्म, उत्पत्ति।
- **शृंखला** : कड़ी, चैन।
- **मोक्ष** : मुक्ति।
- **सामरिक** : युद्ध संबंधी।
- **प्रबुद्धजन** : विद्वान व्यक्ति।
- **समन्वय** : तालमेल, आपसी भाईचारा।
- **आकांक्षा** : इच्छा।
- **विद्यमान** : उपस्थित।
- **अनुयायी** : किसी पंथ को मानने वाले।
- **निराकार** : जिसका कोई आकार न हो।
- **अस्पृश्यता** : छुआछूत।
- **प्रवर्तक** : जन्मदाता।

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भक्ति आंदोलन से आप क्या समझते हैं?
2. भारतीय परंपरा के षड्दर्शन कौन–से हैं? उनके नाम लिखिए।
3. आलवार संतों का वर्णन कीजिए।

4. आर्य समाज के प्रमुख नियम लिखिए।
5. प्रार्थना समाज के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
6. सिंह सभा आंदोलन से आप क्या समझते हैं? उल्लेख कीजिए।
7. कट्टरता का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
8. सूफीमत के सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन दर्शन एवं धार्मिक विचारों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. भक्ति आंदोलन के वैष्णव संतों के बारे में जानकारी दीजिए।
3. सूफी मत से आप क्या समझते हैं। भारत में उसके उद्भव के कारणों की व्याख्या कीजिए।
4. आधुनिक भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में ब्रह्म समाज के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
5. सिख सुधार आंदोलनों का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर व्याख्या कीजिए।
6. सर सैयद अहमद खां की मुस्लिम सुधार आंदोलन में भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
7. आधुनिक भारत में कट्टरता की विशेषताएं बताइए।
8. धार्मिक सार्वभौमिकता के सिद्धांतों की व्याख्या करने वाले विचारकों का विश्लेषण कीजिए।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
2. शर्मा हरिश्चंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, नई दिल्ली।
3. विद्यालंकार सत्केतु, प्राचीन भारत की शामन पद्धति और राजशास्त्र, नई दिल्ली।
4. वी.सी. पांडे, प्राचीन भारत का इतिहास।
5. एस.एल. शाह, भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था, कब क्यों और कैसे, सरिता बुक हाउस, दिल्ली।
6. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, एस चंद्र एंड कंपनी प्रा. लि., दिल्ली।
7. डॉ. के.एल. खुराना, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
8. डॉ. के.एल. खुराना, आर.के. बंसल, इतिहास लेखन धारणाएं तथा पद्धतियां, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
9. वी.डी. महाजन, मध्यकालीन भारत, एम चंद्र एंड कंपनी प्रा.लि., दिल्ली।

टिप्पणी

10. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – 1707 से वर्तमान तक, एस. चंद्र एंड कंपनी लि., दिल्ली।
11. डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, विचारों का इतिहास, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस।
12. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.
13. रविंदर कुमार, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 1997.
14. डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, धर्मदर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1996.
15. डॉ. ए.के. चतुर्वेदी, यूनीफाइड इतिहास, बी.ए. तृतीय वर्ष, एम.बी.पी.डी. पब्लिकेशन।